प्रकीर्णक पुस्तकावली

साहित्य-पारिजात

[पदार्थ-निर्णय और अलंकार]

लेखक

रायबहादुर साहित्यवाचस्पति

डॉक्टर शुकदेवविहारी मिश्र डी० लिट्०

(ऑनरिस् काज़ा B. H. U)

तथा

पं० प्रतापनारायण मिश्र

(मिश्रबंधु)

मिलने का पता—

गंगा-ग्रंथागार

३६, गौतम बुद्ध-मार्ग

लखनऊ

द्वितीयावृत्ति

सन् १९५१ मूल्य ४)

प्रकाशक
श्रीदुलारेलाल
अध्यक्ष गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय
लखनऊ

अन्य प्राप्ति-स्थान—

१. राष्ट्रीय प्रकाशन-मंडल, मछुआ-टोली, पटना
२. दिल्ली-ग्रंथागार, चर्खेवालाँ, दिल्ली
३. प्रयाग-ग्रंथागार, ४०, क्रास्थवेट रोड, प्रयाग

नोट—हमारी सब पुस्तकें इनके अलावा हिंदुस्थान-भर के सब प्रधान बुकसेलरों के यहाँ मिलती हैं। जिन बुकसेलरों के यहाँ न मिलें, उनका नाम-पता हमें लिखें।

मुद्रक
श्रीदुलारेलाल
अध्यक्ष गंगा-फाइनआर्ट-प्रेस
लखनऊ

ग्रथकारों के अनन्य स्नेह-भाजन

स्व० पंडित राजकिशोर मिश्र की पवित्र स्मृति में

साहित्य-पारिजात का यह भाग समर्पित है।

विषयानुक्रम

विषय	पृष्ठ

प० प्रतापनारायण मिश्र

डॉ० रायबहादुर पं० शुकदेवविहारी मिश्र

भूमिका

हिंदी-साहित्य मे दशाग कविता का वर्णन हमारे आचार्यों ने कुछ पूर्णता के साथ किया है। दशांग कविता का कथन तो प्रायः होता है, किंतु वे दसों अंग क्या है, सो बहुत प्रकट नही। हमने 'मिश्रबंधु-विनोद' की भूमिका में दसों अंगों का सूक्ष्म कथन किया है। कौन अंग प्रधान माने जायँ और कौन उपांग, इसमे मतभेद संभव है, किंतु कोई झगड़ा नही; क्योंकि मुख्यता विशुद्ध विवरण की है, न कि मुख्यांगता या उपांगता की। इच्छा तो हमारी दशांग साहित्य लिखने की थी, किंतु उनमे से पिंगल का विषय काफ़ी बड़ा है, और उस पर कई अच्छे ग्रंथ भी प्रस्तुत हैं, इसलिये उसके फिर से लिखने की आवश्यकता नहीं समझ पड़ती। अतएव अपने 'साहित्य-पारिजात' में शेष नवों अंगों का विवरण करना हम योग्य समझते हैं। इन अंगों में अलंकार का विषय सबसे बड़ा है, जो पहले भाग में दिया गया है। इसके अतिरिक्त पदार्थ-निर्णय का भी वर्णन इसी भाग में हुआ है। इसी से मिलता हुआ ध्वनिभेद भी है, किंतु बिना रसादि का वर्णन जनाए उसका समझाना कठिन है, इसलिये उनका कथन होकर दूसरे भाग में, यथास्थान, ध्वनि-भेद का भी वर्णन होगा। 'साहित्य-पारिजात' श्रावण-शुक्ला पंचमी, सं० १९९७ (८ अगस्त, १९४०) को आरंभ होकर पौष में समाप्त हुआ। ज्येष्ठ लेखक की शारीरिक अस्वस्थता के कारण २२ ऑक्टोबर से १६ नवंबर तक यह कार्य स्थगित रहा। अब तक मिश्रबंधु (रावराजा डॉक्टर श्यामविहारी मिश्र एम्० ए०, डी०

लिट्० तथा रायबहादुर पंडित शुकदेवविहारी मिश्र) के नाम से हमारे लोगों के ग्रंथ बना करते थे, और अब भी बनते जाते हैं, किंतु इन दिनों ज्येष्ठ बंधु स्वर्गवासी पंडित गणेशविहारी मिश्र के सुपुत्र पंडित प्रतापनारायण मिश्र भी साहित्यिक विषय पर ध्यान देने लगे हैं। अतएव हम दोनों (रायबहादुर शुकदेवविहारी मिश्र तथा पंडित प्रतापनारायण मिश्र) ने मिलकर पहले दूलह-कृत 'कवि-कुल-कंठा-भरण' की टीका रची, जो गंगा-पुस्तकमाला से प्रकाशित हो चुकी है। आजकल यह विचार उठा कि हिंदी-साहित्य के अंगों पर भी एक ग्रंथ बनाया जाय।

यह विषय संस्कृत-साहित्य में प्राचीन काल से चला आता है, जिसका थोड़ा-सा विवरण आगे दिया जायगा। उसी के आधार पर हिंदी-कवियों ने भी ग्रंथ रचे, किंतु अपने यहाँ हिंदी में पद्यात्मक ग्रंथों की ही प्रथा थी, जिससे विविध अंगों के वर्णन सूक्ष्मता-पूर्वक तो अच्छे हुए, किंतु तत्संबंधी कारण माला के साथ विस्तृत विवरणों की कमी रही, जो गुरु-मुख द्वारा पूर्ण की जाती थी। अब जिज्ञासुओं की संख्या बहुत बढ़ रही है, तथा कार्याधिक्य से गुरुगण समुचित समय भी नहीं पाते। इससे ऐसे ग्रंथों की माँग जिज्ञासुओं में बढ़ रही है, जिनमें उनके लिये गुरु-मुख की आवश्यकता न रह जाय। ऐसे ही विचारों से प्रस्तुत ग्रंथ की रचना की गई है। प्राचीन समय में संस्कृत के आचार्यों ने तो एक दूसरे के मतों का खंडन-मंडन करके काव्यांगों के शुद्धातिशुद्ध रूप निकालने तथा नवविचारोत्पादन में काफ़ी बुद्धि-वैभव दिखलाया, किंतु हमारे हिंदी के आचार्यों ने इस ओर तादृश ध्यान नहीं दिया, वरन् प्राचीन संस्कृत-आचार्यों में से मम्मट, विश्वनाथ, जयदेव, पंडितराज आदि कुछ ही चुन लिए, और अपने विवरण उन्हीं के निर्णयों पर प्रायः आधारित कर दिए। जैसा ऊपर कहा जा चुका

है, विविध कारणों से अब गुरु-मुख की आशा छोड़कर ग्रंथ बनाने की आवश्यकता पड़ गई है।

बहुतेरे ग्रंथकार प्राचीनों के मत तो दे देते हैं, किंतु अपनी सम्मति नहीं के बराबर लिखते हैं। हमने इसी प्रणाली पर अनुगमन न करके यत्र तत्र, यथास्थान, अपने भी निर्णय अथवा नए विचार लिखने का साहस किया है। कहा जा सकता है, क्या हम अपने को प्राचीन आचार्यों के समकक्ष समझने का दावा करते है, जो ऐसा साहस उचित समझा गया ? उत्तर यही है कि हमारे स्वमत प्रकाशन से ऐसा निष्कर्ष नही निकल सकता। हमने प्राचीन आचार्यों के सद्ग्रंथों का अध्ययन शिष्य-भाव से किया है, न कि समकक्षता के दुस्साहस-पूर्ण दंभ से। यदि वे परोपकारी आचार्यगण इस विषय पर इतना प्रयत्न न कर गए होते, तो हम लोग आज जितना सोच सकते है, उसका दशमाश विचार भी इन भारी विषयो पर न कर सकते। यह उन्ही की कृपा का फल है कि वर्तमान समय के कवियो को इस विषय का इतना ज्ञान हो सका है। फिर भी कोई कारण नही कि ये उत्कृष्ट विषय यहीं रुक जायँ, और इनका विकास भविष्य के लिये भूत काल ही के परिश्रम पर सीमित रहे। यदि संस्कृत के आचार्य ऐसा ही संकुचित विचार करते, तो हमारा साहित्य-शास्त्र जितनी उन्नति कर चुका है, उसकी चौथाई भी न कर सकता। हमने जो नवीन विचार लिखे हैं, उनमे दस में से यदि नौ अशुद्ध और एक ही शुद्ध निकले, तो भी दशमांश रूप में तो अपने साहित्य-शास्त्र का उचित विकास इस प्रयत्न से होगा ही। अतएव नवविचारोत्पादन मे प्राचीनों का अपमान समझना भूल है। यहाँ तो उन्हीं के सहारे वर्तमान समय की बुद्धि का विकास-मात्र करने का सफल अथवा असफल प्रयत्न है। प्राचीन आचार्यों की महत्ता का मान शतमुख से स्वीकृत है।

उदाहरणों के विषय मे भी कुछ बाते कह देना ठीक होगा। हिंदी मे रीति-ग्रंथ लिखनेवाले अपने ही छंदों के उदाहरण देते आए है, केवल एक ही आध लेखक ने इतरों के कुछ उदाहरण दिए है। इस प्रथा पर अनुगमन करने से उदाहरणों की उत्तमता प्राय. हर स्थान पर बहुत श्रेष्ठ नही मिलती। संस्कृत के आचार्यों ने सैकडों कवियों की रचनाएँ उदाहरण मे रक्खी है। हमने इन दोनो शैलियों के बीच का मार्ग लिया है। अपने छंद तो सबको अच्छे लगते है, किंतु हमने यथासाध्य अपने भी बुरे छंद उदाहरणों के लिये नही चुने। जो चुने गए है, उनमे भी बहुतेरे हमारे छंद सभवत· इतरों को पसंद न हों। ऐसी दशा में ममता-वश चुनाव माना जा सकता है। हमारे स्वजन स्वर्गवासी पंडित भैरवप्रसाद वाजपेयी (विशाल कवि) के बहुत-से छंद है। उनमे से भी कुछ रक्खे गए है। ज्येष्ठ लेखक के पितामह के ज्येष्ठ बंधु के पौत्र पंडित नंदकिशोर मिश्र (लेखराज कवि) का शुभ नाम 'शिवसिंह-सरोज' डॉक्टर सर जॉर्ज ग्रियर्सन आदि के ग्रंथों में लिखित है। उनके भी कुछ छंद चुने गए है। वर्तमान कवियो के छंद चुनने में कोई क्रम नही। जिस किसी ने अपने छद भेज दिए, वे अच्छे समझे जाने पर चुन लिए गए। शेष कवियों के छंद छाटने का प्रयत्न नहीं किया गया। ग्रंथ की मुख्यता शुद्ध उदाहरण देने मे है, न कि बहुतेरे वर्तमान या प्राचीन कवियो की रचनाएँ छाँटने मे। अतएव जिन महाशयों के छंद उदाहरण में नही आए, उन्हें यह न सोचना चाहिए कि उनके छंद नही छाँटे गए। यहाँ प्रयोजन उदाहरण-मात्र से है, न कि विविध कवियों के छंदों से।

जहाँ अच्छे उदाहरण सुगमता-पूर्वक नहीं मिले, वहाँ दोहों आदि से काव्यागों के रूप-मात्र समझा दिए गए है। प्रति छद के पीछे कवि का नाम लिख दिया गया है। जहाँ नाम न लिखा हो, वहाँ

हमारा छंद न समझकर यह जानना चाहिए कि वह स्मरण-शक्ति से लिखा गया है, और कवि का नाम याद नहीं। जहाँ सुगमता-पूर्वक अच्छे उदाहरण मिल गए, वहाँ उनकी संख्या बढ़ भी गई है। कहीं-कहीं ग्रंथ संग्रह-सा जान पड़ता है। कई उदाहरण होने से जिज्ञासुओं को विविध प्रकार से उसी काव्यांग का सन्निवेश देखकर समझने में सुविधा होगी, ऐसा समझा गया है। ग्रंथ जिज्ञासुओं के लिये लिखा जाने से जहाँ छंद कठिन समझ पड़े, वहाँ अर्थ भी लिख दिए गए है, या कठिन स्थानों पर नोट दे दिए गए हैं। आशा है, प्रिय बालकों को लिखित काव्यांग समझने मे अड़चन न पड़ेगी।

कवियों ने अपने छंद केवल काव्यांगों के उदाहरणार्थ न बनाकर विविध कारणों से बनाए थे। ऐसी दशा में उदाहरणों में उन छंदों के लिखने में कभी-कभी एकाध शब्द काव्यांग के प्रतिकूल पड़ गया था, और हमने उसे बदलकर लिख दिया। ऐसी दशाओं में शब्द-परिवर्तन केवल काव्यांगों के विचार से हुआ है, न कि रचनाओं में दंश देने के लिये।

यह ग्रंथ लिखने के लिये हमने प्राचीन तथा नवीन संस्कृत और हिंदी-साहित्यिक ग्रंथ यथासाध्य पढे है। कुछ मित्रों का विचार है कि हमें अलंकार का विषय ऐतिहासिक प्रणाली पर लिखना चाहिए था, अर्थात् अलंकार अथच अन्यान्य विविध काव्यांग समय के साथ जिस प्रकार विकसित हुए है, उसका भी कथन करना योग्य था। इस प्रकार का विवरण एक बंगाली महाशय ने दिया भी है, किंतु वह ग्रंथ अभी तक हमारे देखने में नहीं आया। काणे महाशय की साहित्य दर्पणवाली टीका को भूमिका इसी ढंग की है। उसमे ऐति-हासिक विवरण मौजूद है। यह ग्रंथ विश्वनाथ-कृत 'साहित्य-दर्पण'

के तीन परिच्छेदों की टीका है। इसमें संस्कृत के प्राचीन आचार्यों के समय तथा अन्य बातों का सकारण निर्णय है। हम संस्कृतवाले आचार्यों के समय इसी के आधार पर देंगे, और समर्थक कारणों का विवरण न करेंगे, क्योंकि वह काणे महाशय की पुस्तक में प्रस्तुत ही है। अब उसी का विषय उठाया जाता है।

भारत मे काव्यांगों का सक्रम कथन पहलेपहल भरत मुनि ने किया। कुछ लोग इन्हें पाणिनि का समकालीन समझते है, किंतु अब सं० ३५० के निकट इनका समय माना जाता है। आपका ग्रंथ नाट्यशास्त्र पर है, जिसमें नाटकीय विषयों के अतिरिक्त उपमा, रूपक, यमक तथा दीपक नामक चार अलंकारों का भी विवरण है। धर्म कीर्ति और भट्टि भी परम प्राचीन आलंकारिक आचार्य है। भरत के पूर्व भी कुछ आचार्यों का होना अनुमान किया जाता है, किंतु न तो उनके नाम प्राप्त हैं, न ग्रंथ। अतएव भरत ही पहले आचार्य रह जाते है। भरतादि के पीछे भामह ने काव्यालंकार-ग्रंथ रचा (सं० ५५० से ६६० के निकट), तथा दंडी ने काव्यादर्श (छठी शताब्दी मे)। उद्भट ने (सं० ८५० के निकट) अलंकार-सार-संग्रह रचा, जिसका कवि-समाज पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। रुद्रट (स० ८५० के निकट) का काव्यालंकार-ग्रंथ प्रसिद्ध है, जिस पर नमि साधु की टिप्पणी है। श्रीआनंद वर्धनाचार्य (सं० ९३० के निकट) ने ध्वन्यालोक रचा। ध्वनि के विषय पर यह महाशय व्याकरणाचार्य पाणिनि के समान पूज्य समझे जाते हैं। राजशेखर (सं० ९८२ के निकट)-कृत काव्य-मीमांसा तथा धारेश्वर भोजराज (सं० १०६२-१११९)-कृत सरस्वती कठाभरण भी प्रसिद्ध ग्रथ है। भोजराज ने अपने ग्रंथ में कई सौ कवियों के उदाहरण दिए है। यही प्रथा संस्कृत के इतर आचार्यों की भी थी। क्षेमेंद्र (सं० १२०० के निकट) के औचित्य विचार-चर्चा तथा कवि-

कंठाभरण हैं। प्रसिद्ध आचार्य मम्मट भट्ट (सं० ११०० के निकट)-कृत काव्यप्रकाश परम प्रसिद्ध काव्य-ग्रंथ है, जो अब भी विश्व-विद्यालयों में पाठ्य-पुस्तक है। इस पर प्राचीन टीका-ग्रंथ नागेश भट्ट-कृत उद्योत तथा गोविंद ठक्कुर-कृत प्रदीप हैं। आजकल बालबोधिनी टीका (वर्तमान समय की) बहुत चलती है। प्रसिद्ध विद्वान् डॉक्टर गंगानाथ झा ने काव्यप्रकाश पर एक अँगरेज़ी की भी टीका लिखी। धनीराम ने काव्य-प्रभाकर में काव्य-प्रकाश के नवम सर्ग तक का उल्था किया। हिंदी के कवि प्राय कहा करते है—"मम्मट-मत को सार यह बरनत भाषा भाखि।" हिंदी के आचार्य अलकार का विषय प्राय अप्पयय दीक्षित पर आधारित करते है, और शेष काव्याग मम्मट पर। रुय्यक (११६२-१२१२) का 'अलकार-सर्वस्व' भी श्रेष्ठ ग्रंथ है। केशवदास ने इसे भी अपने अलंकार-विषय का आधार माना है। हेमचंद्र (सं० ११४५-१२२९)-कृत 'काव्यानुशासन' भी उत्कृष्ट ग्रंथ है, जिसमे कथन संक्षिप्त रूप में है। प्रसिद्ध गीतगोविंदकार जयदेव (सं० १२५७ के लगभग)-कृत 'चंद्रालोक' को भी हिंदी के आचार्यों ने कुछ आधार माना है। विद्याधर (१३६४-८४) -कृत 'एकावली' पर मल्लिनाथ (पंद्रहवीं शताब्दी)-कृत तरला टीका है। विश्वनाथ (सं० १३१७-१४४१)-कृत 'साहित्य दर्पण' परम प्रसिद्ध ग्रंथ है। इस पर रामचरण तर्क-वागीश-कृत अच्छी टीका है। वर्तमान समय मे 'साहित्य-दर्पण' पर शालग्राम शास्त्री-कृत विमला टीका तथा पी० वी० काणे-कृत श्रेष्ठ टीकाएँ है। अतिम टीका से हमने भी अपने इस ग्रंथ मे सहायता ली है। अप्पय्य दीक्षित (सं० १७वी शताब्दी) के 'चित्रमीमांसा' तथा 'कुवलयानद' प्रसिद्ध ग्रंथ है। दोनो मे अलंकार का विषय है। 'कुवलयानंद' जयदेव-कृत 'चंद्रालोक' का परिवर्द्धन है, यहाँ तक कि इस ग्रंथ को अब 'कुवलयानंद चंद्रालोक' कहते हैं। दूलह कवि

ने कहा ही है—"कुवलयानंद चंद्रालोक के मते ते कहीं लुपता ये आठौ आठौ पहर प्रमानिए।" तैलंग ब्राह्मण जगन्नाथ पंडितराज त्रिशूली सम्राट् शाहजहाँ के समकालीन थे। इनका ग्रंथ 'रस-गंगाधर' अपूर्ण है, किंतु जहाँ तक है, वहाँ तक व्याख्याएँ उसमें बढ़िया हैं।

संस्कृत के प्राचीन आचार्यों में अलंकार के विषय पर मम्मट, रुय्यक, जयदेव, अप्पय्य, विश्वनाथ, विद्याधर और पंडितराज प्रधान समझ पड़ते हैं। अलंकार रत्नाकरकार शोभाकर के मतों पर भी पंडितराज ने खंडन मंडन किया है। वैद्यनाथ सूरि-कृत 'अलंकार चंद्रिका' भी प्राचीन ग्रंथ है। अपना 'पारिजात' लिखते समय उपर्युक्त ग्रंथों में से बहुतों को हमने देखा है।

अब हिंदी के आचार्यों का विषय उठाया जाता है। सबसे पुराने आचार्य (सं० ८०० से पूर्ववाले) पुंड कवि समझे जा सकते थे, किंतु न तो उनका ग्रंथ ही प्राप्त है, न नाम ही किसी प्रामाणिक रीति पर मिलता है। गोप भी आचार्य समझे जाते हैं, किंतु उनका भी ग्रंथ अप्रकाशित है। सबसे पुराने अलंकार-शास्त्री कृपाराम हैं, जिनका 'हित-तरंगिणी' ग्रंथ (सं० १५९८ का) है, जो छप भी चुका है, जिसके छंद मनोहर हैं। इनके पीछे प्रसिद्ध कवि केशवदास का नाम आता है, जिन्होंने सं० १६५८ में अलंकारों पर 'कविप्रिया' ग्रंथ लिखा। उसकी प्रणाली अब चलती नहीं। अनंतर चिंतामणि त्रिपाठी (सं० १७१६), मतिराम (१७२०), महाराजा यशवंतसिंह (१७२७), कुलपति मिश्र (१७२७), सुखदेव मिश्र (१७२८), भूषण (३०१,),' श्रीपति (काव्य सरोजकार, १७७७), देव (१७८३), रसिक सुमति (१७८५), दास (१७९१), वंसीधर दलपतिराय (१७९२) सोमनाथ (१७९४), दूलह (१८०२), बैरीसाल (१८२५) रघुनाथ (१८२६), जगतसिंह (१८२७), चंदन (१८३०

ऋषिनाथ (१८३१), गोकुलनाथ (१८३९), रामसिंह (१८४९), पद्माकर (१८५०), ब्रह्मदत्त (१८६७), प्रताप साहि (१८८२), लेखराज (१९००) और मुरारिदान (१९५०) के नाम आते हैं। इन सबके ग्रंथ हमने 'साहित्य-पारिजात' बनाते समय यत्र-तत्र देखे हैं। वर्तमान समय मे सेठ कन्हैयालाल पोद्दार, बाबू जगन्नाथप्रसाद (भानु) तथा पंडित रामशंकर शुक्ल (रसाल) ने भी अलंकारो के विषय पर परिश्रम किया है। सुखदेव मिश्र ने अलकारों पर कोई ग्रंथ नही लिखा, केवल पिंगल के ग्रंथ में जहाँ-तहाँ अलंकारों का भी वर्णन कर दिया है। उपर्युक्त आचार्यों के विषय मे विस्तार-पूर्वक विचार प्रकट करना अनावश्यक है, क्योंकि हिंदी जाननेवाले इन्हें बहुत करके जानते ही हैं। फिर भी वर्णन-पूर्णता के लिये कुछ लिखा जाता है। चिंतामणि, कुलपति मिश्र और देव ने पूरे अलंकार नहीं दिए। देव ने तो एक-एक छद में तीन-तीन, चार-चार उदाहरण भरकर अथच केवल ४० अलंकार लिखकर बोझ-सा उतार दिया है। आपने पदार्थ-निर्णय पर कुछ विशेष ध्यान दिया है। इनसे इतना हमारा भी मतैक्य है कि अलंकार-विषय को लोगों ने बढ़ाया आवश्यकता से बहुत अधिक है। कई अलंकारो मे एक दूसरे से बहुत कम भेद हैं। और नहीं, तो दस-पंद्रह अलंकार घट ही जाने चाहिए। अँगरेज़ी-फ़ारसी आदि मे इनकी संख्या बहुत कम है। प्रताप साहि ने अलंकारों का विषय न कहकर व्यंजना पर विशेष ध्यान दिया है। दास के लक्षण तथा उदाहरण, दोनो में कुछ जगहों पर अशुद्धियाँ है, यद्यपि उदाहरणो मे से कई छंद बहुत अच्छे है। श्रीपति, सोमनाथ, जगतसिंह, रामसिंह, महाराजा यशवंतसिंह, ऋषिनाथ, पद्माकर, बंसीधर, दलपतिराय, रसिक सुमति और चंदन के वर्णन तो पूर्ण हैं, किंतु उदाहरण बहुत बढ़िया नहीं। सोमनाथ और ऋषिनाथ ने अलंकारों को केवल दोहों आदि द्वारा निकाल दिया है। जगतसिंह

रामसिंह, रसिक सुमति और चंदन की ये रचनाएँ कुछ-कुछ शिथिलता लिए है। अंतिम दोनो कवियों ने भी अलकारो मे दोहों का ही विशेष प्रयोग किया है। पद्माकर ने भी केवल दोहों आदि में अलंकारों का विषय कहा है, और यद्यपि थे वे सुकवि, तथापि इस विषय पर उत्तमता लाने का प्रयत्न उनके पद्माभरण मे बहुत कम है। लेखराज ने लक्षणों पर इतरों की भाँति विशेष श्रम नही किया, किंतु उदाहरण बहुत साफ़ दिए है। कई छंद श्रेष्ठ भी हैं। इनके सब उदाहरण गंगाजी पर ही है।

हिंदी के सभी आचार्यों ने लक्षण कहने मे बहुत थोड़े में प्रयोजन-सा दर्शा दिया है, किंतु न तो उनमे वैज्ञानिक शुद्धता लाने का प्रयत्न किया, न खंडन-मंडन मे ही संस्कृतवाले आचार्यों के समान बुद्धि-वैभव दिखलाया। उदाहरण अच्छे देने का अवश्य प्रयत्न हुआ है, और इसमे न्यूनाधिक साफल्य भी प्राप्त है। महाराजा यशवंतसिंह ने दोहो मे लक्षण और उदाहरण कह दिए है। बहुतेरे हिंदीवाले आचार्यों ने संस्कृतवालों के भाव लेने या उनके उल्था कर देने में दोष नही माना है।

हमारे उत्कृष्ट आलकारिकों में दूलह, बैरीसाल, भूषण, मतिराम, रघुनाथ, गोकुलनाथ, ब्रह्मदत्त और मुरारिदान की गणना की जा सकती है। दूलह के लक्षण और उदाहरण है बहुत उत्कृष्ट, किंतु थोडे मे लिखे जाने से टीका की आवश्यकता पडती है। रचना सवैया, घनाक्षरी आदि मे है। बैरीसाल ने दोहों आदि में ही बहुत साफ़ लक्षण और उदाहरण दिए है। भूषण ने कुछ ही कम अलंकार लिखे है, तथा लक्षणो में विशेष प्रयास नहीं किया। यद्यपि हैं वे शुद्ध, तथापि इनके उदाहरण बहुत श्रेष्ठ हैं। मतिराम की भी यही बात है। ब्रह्मदत्त ने कहा तो थोड़े मे है, किंतु इनके लक्षण और उदाहरण हैं बहुत साफ़ और शुद्ध, यद्यपि इतरो की भाँति लक्षणों

में पूर्णता की कमी है। ग्रंथ दोहों आदि में है। रघुनाथ के लक्षण शुद्ध तथा उदाहरण बहुत साफ़ हैं, यद्यपि साहित्यिक चमत्कार की कुछ कमी रह जाती है। गोकुलनाथ इन्ही के पुत्र तथा समकक्ष हैं, अथच उनके उदाहरणों में साहित्यिक उत्कर्ष भी कुछ-कुछ प्राप्त है। मुरारिदान हिंदी के पहले आचार्य हैं, जिन्होंने लक्षणों मे वैज्ञानिक शुद्धता लाने का सफल प्रयत्न किया है। लक्षण देने में आपने अलंकारों के नामों से ही लक्षणों के रूप निकाले हैं, जिससे कहीं-कहीं इतरों के लक्षणों से कुछ मत भेद पड़ गया है। आपका ग्रंथ बहुत विद्वत्ता-पूर्ण है, फिर भी उदाहरण शिथिल से हो गए है। बंसीधर दलपतिराय ने भाषाभूषण के मूल मे उदाहरण अपने दिए है। इनके उदाहरणों मे भी थोड़ा-बहुत चमत्कार है।

वर्तमान ग्रंथों में तीनो लेखकों ने लक्षण आदि गद्य में समझाए तथा उदाहरण पद्य में दिए है। तीनो ग्रंथ अच्छे है, विशेषतया सेठजी का। आपने संस्कृतवाले आचार्यों के मतों का अच्छा विवरण देकर अलंकारों को भली भाँति समझाने का प्रयत्न किया है, केवल अपनी सम्मति बहुत कम दी है। उदाहरणों के साहित्यिक आरोचन में कुछ मतभेद संभव है। ग्रंथ उत्कृष्ट है। इतर दोनो लेखको ने भी संस्कृत आचार्यों के विचारों तथा अन्य बातों पर भी थोड़ा-बहुत कथन किया है, जो प्रशसनीय है। भानु ने दोहों में लक्षण कहे हैं। इनमें खंडन-मंडन कम है।

केशवदास की 'कविप्रिया' है तो उत्कृष्ट ग्रंथ, जिसमें उदाहरण बहुत अच्छे हैं, किंतु पूरे अलंकार नहीं आए, तथा ढंग भी अनोखा है, जा आजकल हिंदी में चलता नही। यही दोष मुरारि-दान में भी है। पदार्थ-निर्णय पर सोमनाथ तथा प्रतापसाहि की मुख्यता है। इतर आचार्यों ने भी यह विषय कहा है, जिनका विशेष कथन आवश्यकतानुसार ध्वनि-भेद के वर्णन में आवेगा। अब

यह भूमिका यहीं समाप्त होती है। भाव-भेद में शृंगारिक रचना अधिक मिलती है, जिसका चलन समयानुकूल नहीं, इसलिये यथा-साध्य उसे बचाकर दूसरा खंड लिखा जायगा।

विनीत

लखनऊ
सं० १९९७

शुकदेवबिहारी मिश्र
प्रतापनारायण मिश्र

द्वितीय संस्करण की प्रस्तावना

आशा के नितांत विपरीत—साहित्य-पारिजात के द्वितीय संस्करण की आवश्यकता इतनी शीघ्र आ गई कि पिछले कई मास से पुस्तक की माँग हो रही थी, पर एक भी प्रति शेष न थी। अतः यह द्वितीय संस्करण पाठकों की सेवा मे प्रस्तुत किया जाता है।

इस संस्करण में वे भूलें तो निकाल ही दी गई है, जो मुद्रण की असावधानी से पिछली बार हो गई थी। साथ ही कुछ स्थलों पर टिप्पणी एवं व्याख्या का विस्तार किया गया है, कुछ उदाहरण विस्तार-भय से निकाल दिए गए हैं, और कुछ सिद्धातो पर भी विशेष प्रकाश डाला गया है। हमारा विश्वास है कि इस प्रकार सुसंस्कृत हो जाने से यह पारिजात पाठकवृंद के लिए अधिक दर्शनीय और आह्लादप्रद सिद्ध होगा।

विनीत

मिश्र-भवन,
गोलागज
लखनऊ
१८-१२-४६

शुकदेव बिहारी मिश्र
प्रताप नारायण मिश्र

वंदना

निषेधनैर्यत्किल साधनीयं
विवर्तमानं परितो जगत्याम् ;
प्रवास्यता वा समुपास्यतां वा
गुणैर्गरिम्णा परिणीयते तत् ।
(ग्रंथकर्ता)

ब्रह्म की महिमा धन्य है। श्रुति ने उसकी स्थापना के निमित्त निषेध-वाक्यों का प्रयोग किया है—"नेति-नेति—" अर्थात् क्या ही विचित्रता है कि विधि-वाक्यों द्वारा उस महान् विभूति का परिचय हो ही नही पाता। अथच वही ब्रह्म जब माया-रूप संसार बंधन को स्वीकार कर लेता है, तब सगुण ईश्वर कहाता है, और त्रिगुणों के उत्कर्षापकर्ष से कुछ व्यक्तियो का उपासनीय एवं कुछ व्यक्तियो का प्रवासनीय (परित्याज्य) बन जाता है। वस्तुतः ये सभी हैं मूलतः उसी ब्रह्म के स्वरूप। इस प्रकार वह ब्रह्म अपने ही अनेक स्वरूपों के द्वारा अपने ही स्वरूप को कहीं उपासनीय और कही प्रवासनीय बनाता है। अस्तु, उसकी महिमा अपार है।

सुबुधि-करन, संसै-हरन श्रीपितु-चरन ललाम,
जिनके सुमिरन ते बसै सदा सुमति उर-धाम।
भगति-भाव सों करि प्रथम तिनको सबिधि प्रनाम
करौं लेखनी पुनि चपल ग्रंथ लिखन के काम।

लसत बाल बिधु भाल, भ्रमर गुंजरत गंडथल ;
एक-रदन, सुख-सदन, ताप त्रै-कदन, महाबल।
ऋद्धि-सिद्धि बस जासु, लखे जेहि दारिद भागत ,
अंग-अंग पर कोटि काम-उपमा लघु लागत।
हे गन-नायक, करिवर-बदन, मो तन नेक निहारिए ;
यहि पारिजात-सागर अगम के प्रभु ! पार उतारिए।

सकति अनूप कबिता को कमलासन सों
'जनम के पूरब कछूक नहिं पायों मैं ,
भगति बिसाल कबिगन की सुधारि नहि
रीति के पठन मैं बिसेख मन लायों मैं।
लोक-पटुता की चाल-ढालन की ओर हू
न ज्ञान-गरिमा को चित चंचल चलायों मैं ;
राखु मातु सारदा ! कृपा की कोर फेरु, तऊ
साहस कै अब तौ सरन तकि आयों मैं ॥

लौकिक पदारथनि ही मैं मन लाय नित
बार-बार तोहि धरि ध्यान भरमायों मैं ;
मानि तुलसी को मत, राम को चरित-सर
बिरचि न अंब ! एक बार अन्हवायों मैं ॥
छंद रचि बिसद, बखान मनभावन कै
भूलिहू न तो जस कदापि सरसायों मैं ;
राखु मातु सारदा ! कृपा की कोर फेरु, तऊ
साहस कै अब तौ सरन तकि आयों मैं ॥

बालमीकि, ब्यास, कालिदास, भवभूति आदि
लाड़िले सुतन को न तेरे बिसरायों मैं ;
पंगु-सम तऊ गिरि लंघन को धाय मातु,
तो सुत बनन हेतु लालसा बढ़ायों मैं ॥
भ्रातन के धवल सुजस मैं कपूत बनि
केवल कराल कालिमा को उमगायों मैं ;
राखु मातु सारदा ! कृपा की कोर फेरु, तऊ
साहस कै अब तौ सरन तकि आयों मैं ॥

समरथ सुतन पै राखत पिता है प्रेम,
मातु पै कपूतन बिसेखि अपनावती ,
देखि प्रौढ़ सुत को सुजस मन मोद भरै,
कादर को तबहूँ छिनौ न बिसरावती ॥
मातु भारती को हौं तौ कादर, कपूत, मति
याते अब-चरन-सरन तकि धावती ;
अरबिंद-नंद सों न सकति अमद पाई,
मातु-नख-चंद की छटा ही चित भावती ॥

पोषन-भरन है करत सबही को जब,
क्यों न तब ईस कबिता को प्रतिपालैगो ?
बल को बिचार जब करत न पोषन में,
सिथिल कबिन तब कैसे वह घालैगो ?
सोचिकै बिसंभर को भाव यह आसप्रद
कौन कबिता सों मतिमंद कबि हालैगो ?

अनुभव-छीन, रीति-पथ हू मैं दीन, तैसे
सकति-बिहीन कबि ग्रंथ रचि डालैगो ॥
(मिश्रबंधु-कृत)

ग्रंथ-निर्माण

७　　६　६　१
*ऋषि निधि खड चद संबत मै सावन सों
पूस लगि जब-जब अवकास पायो है ;
लच्छन बिचारिबे त्यों जानिबे मैं तब-तब
हिंदी-संसकृतवारे ग्रथन मॅझायो है।
परम बिसुद्ध पुनि सुदर उदाहरन
खोजि-खोजि ग्रथ चारुता को सरसायो है,
साहित - सु - पारिजात भाग पहिलोई
सांसिभाल-परताप मिलि या बिधि बनायो है।
(दोनो ग्रथकर्ताओं-कृत)

---

* संवत् १६६७

साहित्य-पारिजात

साहित्य

साहित्य (काव्य) का शुद्ध लक्षण देने में कई ग्रंथकारों ने प्रयत्न किया है, उनका सारांश यहाँ भी लिखा जाता है—

(१) तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि ।

(मम्मट)

काव्य वह है, जिसके शब्द और अर्थ अदोष तथा गुण-सपन्न हो, चाहे उनमें कहीं-कहीं अलंकार न भी हो ।

(२) अद्भुत बाक्यहि ते जहाँ उपजत अद्भुत अर्थ ;
लोकोत्तर रचना रुचिर सो कहि काव्य समर्थ ।

(३) रस-युत, व्यंग्य-प्रधान जहँ सब्द, अर्थ सुचि होय ,
उक्ति, युक्ति, भूषन सहित काव्य कहावै सोय ।

(साहित्य-परिचय)

(४) वाक्यं रसात्मकं काव्यम् ।

(साहित्य-दर्पण)

रसमय वाक्य को काव्य कहते हैं ।

(५) रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम् ।

(पंडितराज)

रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करनेवाला शब्द काव्य है ।

(६) होय बाक्य रमनीय जो काव्य कहावै सोय ।

(रत्नाकर)

(७) जग ते अद्‍भुत सुख-सदन सब्दरु अर्थ कबित्त,
यह लच्छन मैंने कियो समुझि ग्रंथ बहु चित्त।

(कुलपति मिश्र)

(८) लोकोत्तरानन्ददाता प्रबन्धः काव्यनामभाक्।

(अंबिकादत्त व्यास)

अलौकिक आनंद देनेवाला प्रबंध काव्य कहलाता है।

(९) बाक्य अरथ वा एक हू जहाँ होय रमनीय;
सिरमौरहु ससिभाल-मत काब्य तौन कथनीय।

(मिश्रबंधु)

लक्षण—अर्थचित्र (अलंकार), व्यंग्य (व्यंग्य दो प्रकार का होता है—प्रधान व्यग्य और गुणीभूति व्यंग्य) या इनमें से एक के भी होने से वाक्य काव्य होगा।

(ग्रंथकार)

इन लक्षणों पर विचार करने के पूर्व इतना समझ रखना चाहिए कि लक्षण लिखने में चुने हुए शब्दों का प्रयोग आवश्यक है, जिनसे न तो कुछ छूट रहे, न विचार वस्तु के बाहर निकल जाय। इन्हीं दोषों को वैज्ञानिक शब्दो में अव्याप्ति तथा अतिव्याप्ति दूषण कहते हैं। अब हम उपर्युक्त प्रत्येक लक्षण पर विचार करते हैं—

(१) मम्मट ने 'काव्य प्रकाश' में यह लक्षण लिखा है। यदि सदोष रचनाओ को साहित्य-कोटि से निकाल डालें, तो काव्य-शरीर बहुत सकुचित हो जायगा। प्रत्येक रचना मे या कम-से-कम १०० में से ९५ में कोई-न-कोई दोष दिखलाया ही जा सकता है। जैसे काने, लँगड़े या अन्य रोग-युक्त मनुष्य न्यूनाधिक सदोष होकर भी हैं मनुष्य ही, वही दशा रचनाओं की है। फिर इस लक्षण में शब्दों तथा अर्थ के तो कथन हैं, किंतु वाक्य-पूर्णता के नहीं।

(२) और (३) ये दोनो लक्षण एक ही ग्रंथ के हैं। जान

पड़ता है, नं २ में लक्षणकार ने उत्कृष्ट काव्य का वर्णन किया है, क्योंकि वह उसे समर्थ काव्य कहता है, जो कथन मोटे प्रकार से उत्कृष्टता का बोध कराता है। फिर भी अच्छे साहित्य के लिये कोई अद्भुत कथन आवश्यक नहीं। प्रसाद, सुकुमारता, अर्थ-व्यक्ति आदि साहित्य के परमोज्ज्वल गुण हैं, जिनमें कोई अद्भुतता साधारणतया नहीं रहती।

(३) इसमें भारी अव्याप्ति दोष लगता है। यहाँ साहित्य के लिये रस, व्यग्य, शुचि शब्द-अर्थ, उक्ति, युक्ति तथा भूषण, सभी कुछ आवश्यक हैं। इतने सुगुण सौ में ६६ अच्छे छंदों में भी एक साथ शायद न मिलें। "जहँ" शब्द से ठीक ज्ञात नहीं होता कि कहाँ ऐसा होता है।

(४) यह रस को काव्य के लिये आवश्यक मानता है, किंत अलंकार प्रधान रचना भी कविता-कोटि से बाहर नहीं जाती।

(५) यह लक्षण अनावश्यक बातों को छोड़कर पहलेपहल केवल रमणीयता को काव्य के लिये आवश्यक मानता है। रमणीय उसे कहते हैं, जिसमें स्वार्थ के अतिरिक्त भी चित्त रमण करे अर्थात् लगे या प्रसन्न हो। अत· रमणीय का अर्थ लोकोत्तरानददायक होगा, जिसमें सभी विज्ञ पुरुषों का चित्त लगे। इस लक्षण में केवल इतनी कमी रह गई है कि यह शब्द को काव्य मानता है, किंतु विना पूरे वाक्य में प्रयुक्त हुए केवल शब्द में रमणीयता लाने की शक्ति नही है। फिर पडितराज केवल अर्थ-रमणीयता में काव्य मानते हैं, किंतु बहुतेरे चित्र-काव्य के कमल-बंधादि ऐसे उदाहरण हैं, जिनमें केवल शब्द-रमणीयता रहती है। अधिकांश कविगण शब्द-रमणीयता को अर्थ-रमणीयता से भिन्न होने पर काव्य नही मानते। जो शब्दालंकार अर्थ समझने के पीछे रमणीय हो, वह अर्थालकार माना जा सकता है, तथा जो केवल सुनने से विना अर्थ विचारे अच्छा लगे, वही शुद्ध शब्दालकार है।

(६) इसमें वाक्य-रमणीयता काव्य मानी गई है। वाक्य में होते शब्द और अर्थ दोनो हैं, किंतु आचार्यों ने अर्थ का विवरण वाच्यादि

कहकर किया है और शब्द-समूह का वाक्य कहकर। वाक्य वह शब्द-समुदाय है, जिसमें कर्ता और क्रिया हो, तथा जो पूरा अर्थ प्रकट करने मे सक्षम हो। कहीं-कहीं केवल क्रिया द्वारा वाक्य लिखा जाता है, किंतु वहाँ भी कर्ता ऊह्य रूप मे रहता है। आचार्यों ने शब्द-समुदाय के गुण-दोषो को वाक्य के अदर कहा है, और अर्थवालो को वाच्यार्थ मे। यही उचित भी है।

(७) इसमें वाक्य न कहकर कवि ने केवल शब्द कहा है जो उपयुक्तानुसार अनुपयुक्त है। फिर यह नही प्रकट किया कि काव्य के लिये केवल शब्द या केवल अर्थ या शब्दार्थ-रमणीयता आवश्यक है। फिर भी कुलपति मिश्र का लक्षण बहुत-से दोषो से मुक्त है।

(८) इसमें प्रबध शब्द का प्रयोग हुआ है, जिसका अर्थ महावाक्य होता है। किंतु काव्यता तो वाक्य मे भी रहती है। कुछ पूर्व कथित कारणो से भी यह लक्षण अनुपयुक्त है।

(९) इस लक्षण को मिश्रबधुओं ने और लक्षण देखकर उन्ही के सहारे से बनाया था, जिसमे केवल वाक्य-शब्द की मुख्यता है, और शब्द रमणीयता, अर्थ रमणीयता तथा शब्दार्थ-रमणीयता, तीनो मे से एक के होने से भी किसी वाक्य को काव्य माना गया है।

ग्रथकार के लक्षण मे जो लोग केवल शब्द-रमणीयता मे काव्य न मानते हो, उनके लिये यह लक्षण ठीक समझा जायगा। अर्थचित्र से प्रयोजन अर्थालकार का है। लक्षणा केवल प्रयोजनवती मात्र में न होकर रूढि में भी होती है, जो किसी वाक्य को काव्य बनाने म अपर्याप्त है। प्रयोजनवती लक्षणा मे व्यग्य आ ही जाता है। रस या भाव व्यंग्य से रहित नही होते।

किंच —

पूर्व कथित आचार्यों के काव्य-लक्षणों में यद्यपि अन्य अनेक दोष भी दिखलाए जा सकते हैं, तथा उन सब के समाधान भी अनेक हैं;

पर अप्रासंगिक होने के कारण इस प्रपंच से दूर रहना ही श्रेयस्कर है।

वर्गीकरण—साहित्य तीन प्रकार का होता है—उत्तम, मध्यम और अवर। व्यंग्य-प्रधान उत्तम काव्य समझा गया है। जिसमें व्यंग्य अप्रधान (गौण) हो, वह मध्यम है। अलंकारात्मक (चित्रात्मक) काव्य तीसरी श्रेणी का समझा जाता है।

> व्यंग्य जीव ताको कहत सब्द अर्थ है देह,
> गुन गुन, भूषन भूषनै, दूषन दूषन एह।

उपर्युक्त कथन के अनुसार साहित्य का जीव व्यंग्य है, तथा शब्द और अर्थ से उसका शरीर बनता है। काव्य के गुण उसी शरीर के गुण हैं, भूषण अलंकार तथा दूषण दोष। यहाँ अव्यंग्य काव्य को मृत समझने का शाब्दिक अर्थ आता है, किंतु प्रयोजन व्यंग्य की मुख्यता-मात्र समझे जाने का है। इस खंड में केवल पदार्थ-निर्णय तथा अलंकारों का विषय कहा गया है। पिंगल को छोड़कर शेष काव्यांग द्वितीय खंड में आवेंगे।

काव्य-निर्माण की शक्ति आचार्यों ने कई प्रकार से मानी है, जिनमें जन्मज प्रतिभा, अनुभव तथा रीति-शिक्षण प्रधान समझे गए हैं। इनमें तीसरा कारण शिक्षणवाला दूसरे कारणभूत अनुभव के अंतर्गत माना जा सकता है।

उत्तमता के विचार समय के साथ बदलते भी रहे हैं देव कवि का समय सं० १७३० से १८२४ तक है। उन्होंने लिखा है—

> अभिधा उत्तम काव्य है, मध्य लक्षणा लीन;
> अधम व्यंजना रस विरस, उलटी कहत नवीन।

* दासजी ने लिखा है—

> जामें अभिधा सक्ति तजि अर्थ न दूजो कोय,
> यहै काव्य कीन्हे बने ना तो मिश्रित होय।

संभवतः इन पर महिम भट्ट का प्रभाव पड़ा हो।

दशम शताब्दी मे आनदवर्धन ने ध्वनि को ही काव्य का प्राण बतलाया। अनंतर ग्यारहवी शताब्दी मे महिम भट्ट-नामक विद्वान् ने व्यक्ति-विवेक नाम से लिखे स्वकीय ग्रथ मे व्यजना-वृत्ति का खडन किया। तत्पश्चात नवीन आचार्यों—मम्मट आदि ने व्यजना का पुन. महत्त्व स्थापित किया।

अतएव उस समय से अनति प्राचीन (अधिक प्राचीन नहीं) विचारों मे सदेह उठकर व्यंजना-गर्भित काव्य का मान होने लगा। उपर्युक्त विचारो से व्यंजना-शून्य सालंकार कविता अधम श्रेणी में आती है। अलकारो के उदाहरणो मे भी व्यग्य आती है ही, किंतु वहाँ उसकी प्रधानता नहीं होती, क्योकि अलकार का विषय वाच्य-प्रधान है। इसे अधम काव्य कहने को जी नहीं चाहता, केवल इतना मानना ही पड़ेगा कि ध्वनि-भेद का चमत्कार अलंकार से ऊँचा है, क्योंकि वह साहित्य का जीव है, तथा अलंकार भूषण-मात्र। तथापि है यह विषय भी चित्ताकर्षक, अथच अधम न कहकर कविगण इसका अवर वर्ग रखते हैं। उत्तमता का यह विषय केवल साहित्यिक अगों से सबद्ध है न कि प्रत्येक छद की श्रेणी से। वास्तविक उत्तमता प्रत्येक छद मे सहृदय विद्वानो के चित्तो मे रीझ उत्पन्न करनेवाली शक्ति की मात्रा पर निर्भर है। कोई व्यग्यवाला छद साधारण हो सकता है, तथा अलकार-प्रधान उससे बहुत बढ़कर। भाव भेदवाले साधारण छदों से उत्कृष्ट आलकारिक छद प्राय. बढ़कर होते हैं।

इतिहासादि की अपेक्षा काव्य मे अधिक आनद का अनुभव होता है। इसका मार्मिक प्रतिपादन आचार्य आनदवर्धन ने निम्न कारिका मे किया है—

दृष्टपूर्वा अपि ह्यर्था काव्ये रसपरिग्रहात्;
सर्वे नवा इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमाः।

जिस प्रकार प्रत्येक वसत मे सभी वृक्ष नए-नए एवं आनददायक

प्रतीत होते हैं, उसी भाँति रसों के साहचर्य से ही अनेकानेक वृत्तांत आनंददायक हो जाते हैं। जिस प्रकार आयु में वसंत अनेक बार आने पर भी सदैव नवीन ही प्रतीत होता है, और नूतन ही आनंद भी देता है, उसी प्रकार एक ही काव्य अनेक बार पढ़ने पर नया ही देख पड़ता है, एवं प्रत्येक समय विचित्र आनंददायक भी भासित होता है।

पदार्थ-निर्णय

शब्द दो प्रकार के होते हैं—ध्वन्यात्मक और वर्णात्मक। बाजों, जानवरों, चिल्लाने आदि के अर्थ-हीन शब्द ध्वन्यात्मक कहे जाते हैं। वर्णात्मक शब्द भी सार्थक या निरर्थक होते हैं। साहित्य में अधिकतर सार्थक शब्दों से काम पडता है, यद्यपि केशवदासादि आचार्यों ने निरर्थक शब्द पूर्ण एकआध छंद उदाहरण के रूप में कहा है। अस्तु, आगे हम जहाँ कहीं 'शब्द' का प्रयोग करेंगे, वहाँ सार्थक शब्द से ही प्रयोजन होगा।

शब्द

शब्द तीन प्रकार के होते हैं—वाचक, लाक्षणिक और व्यंजक।

तीन शक्तियाँ—इनके अर्थ जिन शक्तियों (वृत्तियों) से लगाए जाते हैं, उन्हें क्रमशः अभिधा, लक्षणा और व्यंजना कहते हैं।

अर्थ के भेद—इनके अर्थ भी वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ क्रमशः कहलाते हैं।

वाचक शब्द

वाचक शब्द—साक्षात् संकेतित अर्थ को सीधा प्रतिपादन करनेवाला शब्द वाचक है। इसके चार भेद हैं—
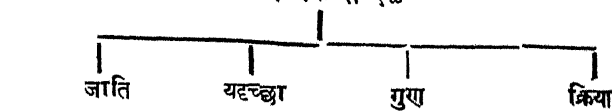
*काव्य-प्रकाशकार ने लिखा है—उपाधि के दो भेद हैं। (१) वस्तु-

संकेत दो प्रकार का होता है—साक्षात् और व्यावहारिक (रूढ़ि)। किसी रूढ़ि संकेत को अलग दिखलाने ही के लिये साक्षात् संकेत का विचार उठा है। अनेकार्थवाची शब्दों में जहाँ सयोगादि के कारण पहले कोई अर्थ नियत हो जाने पर पीछे व्यंजना द्वारा अन्य अर्थ निकाले जाते हैं, वहाँ वे व्यंग्यार्थ भी प्रतिपादित अर्थ ही माने जाते हैं। इसी व्यंग्यार्थ को (तथा लक्ष्यार्थ को भी) हटाने के लिये 'वाचक शब्द' के लक्षण में 'सीधा' शब्द 'प्रतिपादन' का विशेषण रक्खा गया है।

अब प्रश्न यह उठता है कि वाचक किस प्रकार अर्थ का प्रतिपादन करता है? जैसे हाथी-शब्द के कहने से हम क्या समझकर जंतु-विशेष का विचार मन मे लाते हैं? इस पर कई मत हैं—

(१) केवल व्यक्तिवादी—कहते हैं कि हस्ती-शब्द से

धर्म और (२) यदृच्छा। वस्तुधर्म के फिर दो प्रकार हैं—(१) सिद्ध और (२) साध्य (क्रिया), तथा सिद्ध पुनः दो प्रकार का होता है, १—प्राणप्रद (जाति) और २—विशेषाधानहेतु (गुण)। इसी कारण ऊपर वाचक शब्द के चार भेद कथित हैं। चक्र नीचे देते हैं—
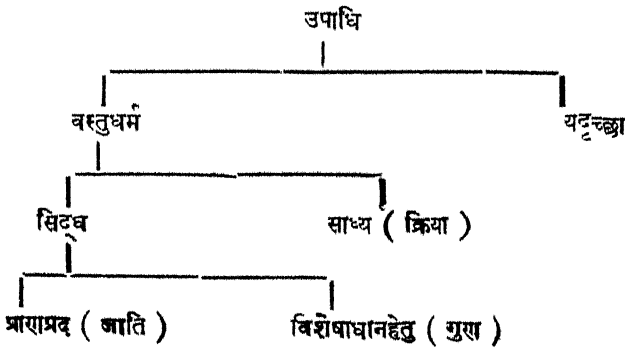
व्यक्ति-विशेष का संकेत है। अब यदि हम यह मानें कि इससे हस्ती-जाति के प्रत्येक व्यक्ति का बोध होता है, तो आनंत्य दोष लगता है, क्योंकि असंख्य हाथी थे, हैं और होंगे, सो ज्ञात ही नहीं कि हाथी-शब्द के कहने से कितने व्यक्तियों का बोध होता है। यदि इस (हाथी) शब्द से एक ही व्यक्ति का बोध मानें, तो किसी दूसरे व्यक्ति का बोध इस शब्द से न होगा, तथा अन्य का बोध मानने पर व्यभिचार-दोष लगेगा।

(२) जाति विशिष्ट व्यक्तिवादियों—का विचार है कि हाथी-शब्द उस जंतु के विविध गुण-युक्त जाति-विशेष के व्यक्ति का बोधक है।

(३) अपोहवादी—कहते हैं कि हस्ती इस कारण से हस्ती है कि वह हाथी से परे कोई इतर जंतु घोड़ा, ऊँट, बिल्ली आदि नहीं है।

(४) केवल जातिवादी—कहते हैं कि हस्ती कहने से इस जाति के सब व्यक्तियों का बोध सामूहिक रूप से होता है। हम सबको तो ला नहीं सकते, सो हाथी के मांगे जाने से उस जाति के एक व्यक्ति को लाते हैं।

(५) पाँचवाँ—मत है कि हस्ता एक उपाधि है, और यह उपाधि एक विशेष प्रकार के गुण रखनेवाले व्यक्तियों को दी जाती है। वे कहते हैं, वाचक में जाति, यदृच्छा, गुण और क्रिया-नामक सब शब्द उपाधि हैं। यही मत अर्वाचीन साहित्यिकों का भी है। इन दोनों को जात्यादिवादी कहते हैं। दास कवि कहते हैं—

> जाति, यदृच्छा, गुण, क्रिया नाम जो चारि बिधान,
> सबकी संज्ञा जाति गनि बाचक भनत सुजान।
> जाति-नाम यदुनाथ गनि, कान्ह यदृच्छा धारि,
> गुन सों कहिए कृष्ण अरु क्रिया नाम कंसारि।

दासजी कान्ह-नाम यदृच्छाभव मानते हैं, किंतु वर्तमान खोजों से

सिद्ध हो चुका है कि भगवान् कात्यायन-गोत्री होने से कान्ह कहलाते थे। सैकड़ों नामों के होते हुए इनका यदृच्छा नाम क्या था, इस बात का अब पता ही नहीं है। कुछ विद्वानों का मत है कि हृषीकेश और गुडाकेश इनके यदृच्छा नाम हैं। तो भी समझाने के लिये कान्ह-नाम यदृच्छाभव मान लिया गया है। घोड़ा, ऊँट, हाथी आदि जातिवाचक शब्द हैं। मगलदीन, गयाप्रसाद, महँगू, नोने आदि नाम यदृच्छा के उदाहरण हैं। काला, पीला, नीला, हरा, मोटा, दुबला आदि गुणवाची हैं, तथा पकाना, मारना, सानना आदि क्रियावाची। ये चारों उपाधियाँ जातिवाचक शब्द हैं। ⊛

१—जाति—किसी वस्तु में रहनेवाले प्राणप्रद धर्म (व्यवहार में लाने योग्य बनानेवाला धर्म जिसके कारण उस वस्तु का नाम उस शब्द द्वारा ज्ञात होता है,) को जाति कहते हैं।

जैसे गा 'गा' इस कारण गाय कहलाती है, क्योंकि उसके गले में चमड़ी लटका करती है, सींग, फटे खुर, दुम आदि धर्म होते हैं। 'गधा' को भी उसमें रहनेवाले प्राणप्रद धर्म (दीर्घ कर्ण, विशेष प्रकार की पुन्छ और विशेष प्रकार से शब्द करनेवाला, तथा विशेष आकृतिवाला) होने के कारण ही गधा कहते हैं।

२—यदृच्छा—मनुष्य द्वारा इच्छानुसार किसी वस्तु या व्यक्ति को दी जानेवाली उपाधि को कहते हैं।

यथा रामनाथ, लखनऊ आदि।

३—गुण—किसी वस्तु की विशेषता बतलानेवाले धर्म के कारण दी जानेवाली उपाधि गुण कहलावेगी।

⊛ "संकेतितश्चतुर्भेदो जात्यादिर्जातिरेव वा"—काव्यप्रकाश। इस कारिका के आधार पर ही दासजी ने उक्त मीमांसकों का मत माना है।

जैसे मुटाई, गहराई, श्यामता आदि ।

४—क्रिया—क्रियावाचक तथा उसी से बननेवाले शब्द इसके अंतर्गत हैं । चलना, पकाना आदि ।

किंच—मीमांसकों का मत है कि ये चारो प्रकार के शब्द जाति (उपाधि) हैं । रामनाथ जब बालक था, जब वह वृद्ध या युवा था, तब भी रामनाथ ही था, अत. यह रामनाथ शब्द जाति शब्द है । दूध, पानी, तलवार आदि की सफेदी पृथक्-पृथक् है, अतः यहाँ भी जाति ही को मान कर प्रवृत्ति हुई । इसी प्रकार और भी जान लीजिए । परंतु वैयाकरण और अर्वाचीन साहित्यिक उपर्युक्त चारों उपाधियों को जाति शब्द नहीं मानते । इतना ही भेद है ।

जहाँ तक लोक-व्यवहार का संबंध है, वैयाकरणों का चार भेद-वाला मत अधिक उपादेय है । (१) इनका क्या नाम है ? (२) ये क्या करते हैं ? (३) उनका रूप कैसा है ? (४) यह क्या है ? इन चारों प्रश्नों में वक्ता की जिज्ञासा का भिन्न-भिन्न स्वरूप है, जिसका आधार क्रमश· यदृच्छा, क्रिया, गुण और जाति है ।

परंतु तर्क के आधार पर देखने से वस्तुत. मीमांसकों का मत बड़ा प्रबल पड़ता है । धनीराम ने लिखा है —

संकेतित शब्दहि कहैं, जाति आदि बिधि चारि ;
कोउ चारिहूँ में कहै, केवल जाति बिचारि ।

इसमें मीमांसक तथा वैयाकरण दोनो मतों का संग्रह है ।

लक्षणा

लाक्षणिक शब्द—(वाच्यार्थ से अभीष्टार्थ न निकल सकने के कारण) जिस पद का कोई दूसरा अर्थ (१) मुख्यार्थ के बाध (२) तथा (उसी मुख्यार्थ) के योग से (३) रूढ़ि अथवा (४) प्रयोजन से एक के आधार से निकले, उसे लाक्षणिक शब्द कहते हैं ।

कौओं से खाने की रक्षा करना।

यहाँ कहनेवालों का यह अर्थ तो हो नहीं सकता कि काग से तो रक्षा की जावे, परंतु कुत्ते से उसको खिला दिया जावे। अतः अभीष्टार्थ का सिद्धि यहाँ वाच्यार्थ से नहीं होता, इस कारण मुख्यार्थ का बाध तथा उसी (मुख्यार्थ) के योग से इसका अर्थ निकला कि अन्न खा जानेवाले जीवों से इसकी रक्षा करनी और उनमें भी विशेषत कौओं से (क्योंकि वह अत्यत कुटिल है)।

किंच—इनमे से पहला और दूसरा कारण हर जगह लक्षणा मे अवश्य होता है, तथा ३ और ४ नंबरवाले कारणों में से एक का होना भी आवश्यक है।

इसके भेदांतरो का चक्र यहाँ दिया जाता है।
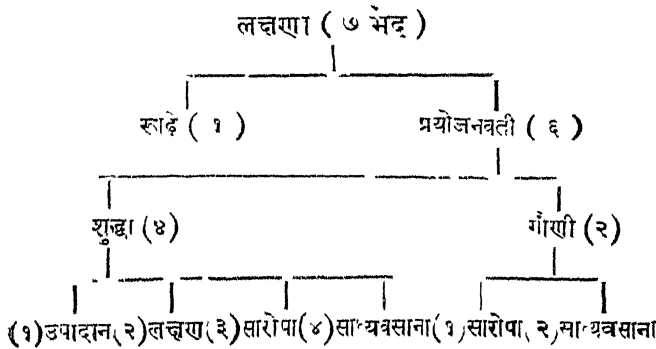
इन सबके गूढ़ और अगूढ़ दो-दो भेद और हो जायँगे, अत चक्रवाली प्रयोजनवती लक्षणा के छओं भेदों के गूढ और अगूढ़-नामक दो-दो उपभेद भी हैं। इस कारण रूढ़ि को लेकर लक्षणा के तेरह भेद हुए।

रूढ़ि लक्षणा—मे मुख्यार्थ का बाध होकर उसी (वाच्यार्थ) के योग से जो अनेक अर्थ निकलते हैं, उनमे से प्रसिद्ध होने के कारण

केवल एक का ग्रहण होता है। यथा—पंकज।

पंकज-शब्द का वाच्यार्थ कीचड़ से उत्पन्न वस्तु है। उसमें कमल, कोकाबेली, कसेरू आदि बहुतेरी वस्तुएँ होती हैं, किंतु संसार ने कमल को ग्रहण करके इतर वस्तुओं को छोड़ दिया है। इस छोड़ने के कारण मुख्यार्थ का बाध (अवरोध) माना जाता है। होता कमल भी कीचड़ से ही है, अतएव मुख्यार्थ का योग भी प्रस्तुत है। संसार द्वारा ग्राह्य होने के कारण रूढ़ि है, प्रयोजनवान् नहीं।

यद्यपि रूढ़ि के भी भेदांतर हो सकते हैं, तथापि लोक-स्वीकृति के कारण वाचक की भाँति इसका भी सीधा अर्थ निकाला जाता है, जिससे कारणों पर ध्यान न तो अर्थ करने में जाता है, न प्रायः आचार्यों ने लिखा ही है। अतएव हम भी भेदांतरों का कथन केवल पांडित्य-प्रदर्शक अथच अनावश्यक मानते हैं।

प्रयोजनवती लक्षणा—में मुख्यार्थ का बाध एवं योग तो होता है, किंतु अर्थ में विशेष प्रयोजन भी रहता है।

विशेष—प्रयोजनवती लक्षणा में प्रयोजन लक्षणा से न निकलकर व्यंग्य से निकलता है। निम्नोक्त "तव दारा इति" उदाहरण में व्यंग्य द्वारा ही अत्यंत खुशामद का प्रयोजन निकला है।

लोक-व्यवहार में मिठाईवाले को 'भाई मिठाई! इधर आओ' कहकर भी संबोधन करते हैं। यहाँ मिठाई-शब्द का प्रयोग रूढ़ि से तो है नहीं, न कोई प्रयोजन ही सिद्ध किया जा सकता है। लोक में इस प्रकार के प्रयोग शुद्ध माने जाने पर भी काव्य में इनका लाना उचित नहीं, क्योंकि कोई आस्वाद नहीं। अतः लक्षणा के लक्षण में रूढ़ि या प्रयोजन में से भी एक कारण का होना आवश्यक माना गया है।

(१) शुद्धा प्रयोजनवती लक्षणा—जहाँ लक्ष्यार्थ के

योग का कारण सादृश्य से इतर हो, वहाँ मानी गई है। इसके चक्र में ऊपर कहे हुए चार भेद हैं।

१—शुद्धा प्रयोजनवती लक्षण लक्षणा—के लक्ष्यार्थ में वाच्यार्थ का अन्वय नहीं होता। इसी का दूसरा नाम जहत्स्वार्था (जिसने अपना अर्थ छोड़ दिया है) लक्षणा भी है। यथा—

धन्य अमर छिति-छत्रपति, अमर तिहारो मान ;
साहिजहाँ की गोद मैं हन्यो सलाबतखान।

(बनवारी)

यहाँ गोद-शब्द का मुख्यार्थ छूटकर उसी के योग से सामीप्य का भाव निकलता है। इसी से लक्षण लक्षणा प्राप्त होती है। गोद में विशेष रक्षा होने से यहाँ प्रयोजनवती लक्षणा है। सामीप्य और गोद में सादृश्य का संबंध नहीं है। इससे शुद्धा प्रयोजनवती हुई। यहाँ विशेष रक्षा रूप प्रयोजन की प्रतीति व्यंजना से होती है। तथा शाहजहाँ की रक्षा में सलावतखाँ का मारा जाना लक्ष्यार्थ लक्षणा शक्ति के द्वारा निकलता है।

केतिक मिरजा की रिस खोटी, प्रभु के हाथ सबन की चोटी।

(लाल)

हाथ में चोटी होने से केवल आधिपत्य का लक्ष्यार्थ है। कोई किसी की चोटी वास्तव में नहीं पकड़े रहता। यहाँ पूर्ण वश में रखने का प्रयोजन व्यंजना से है। सादृश्य का संबंध न होने से शुद्धा भेद है। वश में होने रूप लक्ष्यार्थ में वाच्यार्थ चोटी को हाथ में रखने का अन्वय न हुआ, जिससे लक्षण लक्षणा हुई।

तब दारा-दिल दहसति बाढ़ी, चूमन लगे सबन की दाढ़ी।

(लाल)

दाढ़ी चूमने से केवल खुशामद का लक्ष्यार्थ है, जो मुख्यार्थ के बाध

अथच उसी के योग से निकला। कोई किसी की दाढ़ी नहीं चूमता, यहाँ अत्यंत खुशामद का प्रयोजन व्यंजना से निकलता है। सादृश्य का संबंध न होने से शुद्धा भेद है। खुशामद के लक्ष्यार्थ में वाच्यार्थ दाढ़ी चूमने का अन्वय न हुआ, जिससे यहाँ भी लक्षण लक्षणा निकली।

२—शुद्धा प्रयोजनवती उपादान लक्षणा—में लक्ष्यार्थ में वाच्यार्थ का भी अन्वय होता है। इसी को अजहत्स्वार्था (जिसने अपना अर्थ नहीं छोड़ा है) लक्षणा भी कहते हैं।

उदाहरण—"कुंत (भाले) आ रहे हैं।"

भाले स्वयं तो आते नहीं, कोई उन्हें लाता है, जिससे मुख्यार्थ का बाध हुआ, तथा उसी के योग से कुंतधारी मनुष्यों के आने का लक्ष्यार्थ निकला। कुंत और कुंतधरों में समानता का संबंध न होने से शुद्धा लक्षणा हुई। प्रयोजन पुरुषों की दारुणता प्रकट करने से प्रयोजनवती है। लक्ष्यार्थ कुंतधर मनुष्यों में वाच्यार्थ कुंत का भी अन्वय होने से उपादान लक्षणा जानना, जो शुद्धा प्रयोजनवती के अंतर्गत है। अन्यच्च—

चले चंद्र-बान, घन-बान औ' कुहुक-बान,
चलत कमान, धूम आसमान छ्वै रह्यो,
चलीं जमदाढ़ै, बाढ़िवारी तरवारै जहाँ,
लोह आँच जेठ के तरनि मान वै रह्यो।
ऐसे समै फौजैं बिचलाई क्षत्रसालसिंह,
अरि के चलाए पायँ, वीर-रस च्वै रह्यो;
हय चले, हाथी चले, संग छोड़ि साथी चले,
ऐसी चलाचली में अचल हाड़ा ह्वै रह्यो।
(भूषण)

तथाहि—

नव लोहे लहरात मझाए,
चारि ख़ून जिन माफ़ कराए।
(लाल)

यहाँ लोहे (खड्गादि) स्वत. नही लहरा सकते । यथावा—

विकट मारु समसेरन माची ,
रण मैं कोपि कालिका नाची ।

(लाल)

यहाँ शमशीरे (तलवार) स्वतः मार नहीं कर सकती , अत' उपादान लक्षणा द्वारा तलवारधारी पुरुष अर्थ होता है। व्यंग्यार्थ को 'विकट' शब्द द्वारा कवि ने कह दिया, इस 'विकट'-शब्द के स्थान पर 'जहाँ' कर देना अच्छा है ।

३—शुद्धा प्रयोजनवती सारोपा लक्षणा—में विषय और विषयी, दोनो का कथन शुद्ध प्रयोजनवान् रूप मे होता है ।

उदाहरण —"है माया संसार रे !"

यहाँ ससार स्वयं तो माया है नहीं, वरन् उसकी वस्तुओं मे माया का खेल रहता है। अत. मुख्यार्थ का बाध होकर यह प्रयोजन निकला कि ससार माया से भरा है। संसार माया से बहुत व्याप्त है, ऐसा बतलाने का मतलब वक्ता का है, जिससे लक्षणा प्रयोजनवती हुई । सादृश्य का सबध न होने से शुद्धा भेद है । यहाँ विषय ससार है, तथा माया विषयी । इन दोनो के कथित होने से सारोपा लक्षणा का उपभेद है ।

४—शुद्धा प्रयोजनवती साध्यवसाना लक्षणा—में शुद्ध प्रयोजनवान् रूप मे केवल विषयी का कथन होता है, (न कि विषय का भी) । यथा—

है माया ससार रे, माया ही यहि जानि ,
मगन होहि जने विषय-सुख, हरि-चरनन चित आनि ।

(कुलपति मिश्र)

इसके 'है माया ससार रे' का कथन ऊपर 'सारोपा' मे हो चुका है ।

'इसे माया ही जानो' में साध्यवसाना भेद शुद्धा लक्षणा का आता है। वास्तव में संसार माया नहीं है। कवि का प्रयोजन ऐसा बतलाने का है कि संसार का खेल माया से इतना भरा हुआ है कि मानो संसार ही माया है। यहाँ विषय संसार का नाम नहीं आया है, केवल विषयी माया का है, जिससे साध्यवसाना उपभेद निकलता है। 'यहि'-शब्द से इशारा संसार ही की ओर है, किंतु स्वय संसार-शब्द नहीं है। ऐसे स्थानों पर भी आचार्यों ने विषय का अनस्तित्व मान लिया है। इसी उदाहरण के अन्य भाग पर इसके शुद्धा प्रयोजनवती रूप का प्रदर्शन किया जा चुका है। वही विचार यहाँ भी लागू है।

(२) **गौणी प्रयोजनवती लक्षणा**—मे लक्षणा का कारण सादृश्य होता है। इस कारण इसके दो ही भेद माने गए हैं—सारोपा और साध्यवसाना। जहाँ जहाँ लक्षणा का प्रयोजन समानता हो, वहाँ गौणी भेद माना जाता है।※

※ शुद्धा प्रयोजनवती लक्षणा के लक्षणा में कह आए हैं कि जहाँ सादृश्य से इतर कारणों से लक्षणा हो वहाँ शुद्धा प्रयोजनवती लक्षणा होती है। अत. सादृश्येतर कुछ कारण यहाँ दे देना उचित प्रतीत होता यथा—

(१) कार्य-कारण-भाव-संबंध—

जहाँ एक कार्य हो, दूसरा कारण हो, तथा इसी कार्य-कारण-भाव-संबध को लेकर लक्षणा की गई हो। यथा—

'आयुर्घृतम्'—घृत (ही) आयु है। यहाँ वस्तुतः घृत आयु का कारण है।

(२) सामीप्य सबंध—

जहाँ समीपता को आधार मानकर लक्षणा का प्रयोग हो। यथा—'गंगायां घोषः' अथवा गंगा-तटवासी को गंगावासी कहना। यहाँ गंगा की अति समीपता है।

१—गौणी प्रयोजनवती सारोपा लक्षणा—मे गौणी प्रयोजनवती रूप में विषयी और विषय, दोनो कथित रहते हैं। यथा—

---

(३) तादर्थ्य-संबंध—

यज्ञ स्थल में इंद्र के लिये बनाई गई स्थूणा (स्तंभ) को 'इंद्र' कह देना। 'इंद्रार्था स्थूणा इंद्रः'। 'तदर्थ' से तादर्थ्य-शब्द बना है।

(४) अवयवावयवी-भाव-संबंध—

यही गांगिभाव-संबंध है। यथा—

'अग्रहस्ते हस्तोऽग्रम्'। पाणि-मात्र को हस्त कहना। हस्त पूरे भुजदण्ड को कहते हैं, पर लक्षणा के आधार पर केवल पाणि (पंजे) को हस्त कहा गया है। हस्त अवयवी है, और पाणि अवयव है।

(५) तात्कर्म्य-संबंध—

जहाँ कर्म विशेष के कारण प्रयोग हो। यथा—

"अतक्षा तक्षा" बढ़ई न होते हुए भी केवल बढ़ई का कर्म करने के कारण किसी द्विज को बढ़ई कह देना।

(६) धार्य-धारक-भाव-संबंध—

धार्य ग्रहण की हुई वस्तु को तथा धारक ग्रहणकर्ता को कहते हैं। यथा—

'कुंता प्रविशन्ति'। भाले चले आ रहे हैं। यहाँ भाला धारण करनेवालों को ही भाला कह दिया गया। भाला धार्य है, और सिपाही धारक है।

(७) आधाराधेय-भाव-संबंध—

आधार—धारण करनेवाली वस्तु को कहते है, तथा आधेय आधार स्थित को। यथा—महाराष्ट्र-प्रांत के रहनेवाले को

"चंद्रमुख शोभित है।"

यहाँ विषय मुख तथा विषयी चद्र, दोनो प्रस्तुत हैं, जिससे सारोपा भेद

महाराष्ट्र कहना। यहाँ प्रांत आधार है, और निवासी आधेय हैं।

(८) आश्रयाश्रयि-भाव सबध—

आश्रय—अवलबन को कहते हैं। उस अवलबन में अवलम्बित को आश्रयी कहना चाहिए। यथा—

"मचा क्रोशाति" अर्थात् मचान चिल्लाते हैं। मचान के आश्रयी पुरुष से अभिप्राय है। यहाँ मचान आश्रय और पुरुष आश्रयी है।

धार्य-धारक-भाव-सबध में आधार कुंत हैं—वे धारक सिपाही से पृथक् भी रह सकते हैं। यहाँ आधेय की लक्षणा है। आधाराधेय-भाव-संबंध में लक्षणा का आधार महाराष्ट्र-प्रात है—यहाँ आधार की लक्षणा है। आधेय पृथक् हो जाने पर भी अपने आधार की संज्ञा नहीं छोड़ता। आश्रयाश्रयि-भाव में लक्षणा का आधार मचान है। यहाँ यद्यपि आधार की लक्षणा है, पर यहाँ आधार आधेय की सज्ञा का बीज नहीं हो पाता, जैसा आधाराधेय-भाववाली में है। मचान से पृथक् हो जाने पर वह पुरुष मचान नहीं कहा जायगा। परतु महाराष्ट्रवासी अपने प्रांत से अलग हो जाने पर कहलावेगा महाराष्ट्र ही! यही तीनों में भेद है।

(९) विपरीत-भाव-सबंध—

विपरीत का अर्थ है उलटा। यथा—किसी मूर्ख के लिये यह कहना—"ये तो साक्षात् बृहस्पति हैं।" यहाँ अत्यत विपरीत बात कही गई है।

(१०) स्वस्वामि भाव संबध—

यथा—"राजकीयः पुरुषोराजा।" राजदरबारी को राजा कह देना। यहाँ राजा स्वामी है, और दरबारी उसका स्व (निजी) है।

है। आह्लाद की समानता के कारण मुख चद्र कहा गया है, सो गौणी भेद आया। कवि का प्रयोजन अति सुंदर शोभा के कथन का है। अतएव गौणी प्रयोजनवती सारोपा लक्षणा प्राप्त है। रूपक मे यही लक्षणा होती है।

विषय—जिस वस्तु की समानता की जाय, उसको कहते हैं। अत. 'मुख' विषय हुआ।

विषयी—जिससे समानता की जाय, उसको विषयी कहते हैं। जैसे मुखचद्र, यहां मुख की चद्र से समानता की गई है, अत 'चंद्र' विषयी हुआ।

२—गौणी प्रयोजनवती साध्यवसाना लक्षणा—मे गौणी प्रयोजनवती रूप मे केवल विषयी का कथन रहता है। यथा—

चद्रमुखी लखु लाल के चाहत नैन-चकोर,
फूले कमलन सो अली बिहँसि चितै वहि ओर।
(कुलपति मिश्र)

(११) तात्शील्य-संबंध—

जहाँ एक-सा शील रखनेवालो से अभिप्राय हो। यथा—"काकेभ्यो दधिरक्ष्यताम्।" अर्थात् कौओ से दही बचाओ। यहाँ वक्ता का अभिप्राय दही के खानेवाले सभी जीवो से है, केवल कौए से नहीं।

(१२) समवाय-संबंध—

इसमें गुण गुणी-भाव-संबध होता है। यथा—"श्वेतो धावति।" सफ़ेद बैल को भागता देखकर कोई कहे कि—"सफ़ेद भागा जाता है।" यहाँ सफ़ेद रंग गुण है, और बैल गुणी है।

ये या ऐसे ही और अनेक संबंध हैं। जिनसे शुद्धा लक्षणा होती है, परंतु यदि लक्षणा का कारण सादृश्य हो। तो प्रयोजनवती लक्षणा का गौणी नामवाला भेद होगा। जिसका लक्षण आदि ऊपर दिया जा चुका है।

यहाँ पहले चरण मे "नैन-चकोर" से गौणी प्रयोजनवती सारोपा लक्षणा है, और दूसरे चरण में साध्यवसाना। "फूले कमलन" में साध्यवसाना है। कमल देख सकते नहीं, जिससे मुख्यार्थ का बाध होकर उनके-समान नैनो से देखने का प्रयोजन निकला, और केवल विषयी के कथन से साध्यवसाना भेद आया। कमल की उपमा नैनों से गुण के कारण दी गई है, जिससे गौणी भेद मिला। प्रयोजन नैनो में अच्छा आकार तथा गुरुता दिखलाने का है, जिससे प्रयोजनवती भेद आया। रूपकातिशयोक्ति में यही लक्षणा होती है।

को भुज-दंड समर-महि ठोकै, उमडो प्रलै-सिंधु को रोकै?
(लाल)

यहाँ "उमडो प्रलै-सिंधु" से अत्यत क्रुद्ध, प्रबल आक्रमणकारी, अनंत सेना का प्रयोजन केवल विषयी के कथन से दिखलाया गया है। लक्षणा का विचार समता से आया है, और गुण के कारण यह लक्षणा कही गई है। अतएव गौणी साध्यवसाना लक्षणा हुई।

विशेष—लक्षणा में रूढ़ि तो व्यंग्य-रहित होती है, तथा प्रयोजनवती सव्यंग्य, परंतु प्रयोजन लक्षणा से न निकलकर व्यजना से निकलता है। संसार का विशेष माया-युक्त होना तथा नैनों की उत्कृष्ट सुदरता आदि प्रयोजनों के जो ऊपर कथन हुए है, वे केवल समझाने को लक्षणा में किए गए हैं, किंतु निकलते व्यंग्य ही से है। वैज्ञानिक शुद्ध भेद समझाने के लिये आचार्यों ने ये कथन लक्षणा में रक्खे हैं, यद्यपि आ व्यंजना भी जाती है।

हर प्रयोजनवती लक्षणा के दो-दो भेद और होते हैं, अर्थात् गूढ़ और अगूढ, जिससे यह लक्षणा बारह प्रकार की हो जाती है।

गूढ़ प्रयोजनवती लक्षणा—वह है, जिसे केवल परिपक्व बुद्धिवाले पुरुष समझ सकते हैं। यथा—

लसै लाल भाल, उर अद्भुत माल, कान्ह
अनमिख रहै अत नैननि लियो अखै;
फूले अंग-अंग, रुचि राजै बहुरंग, मनो
आवत अनग संग लीन्हे छबि सों सखै।
अति सरसात गात, रस बरसात, पिय
मौन गहे साहस अपार सिंधु जो नखै,
प्रीति प्रतिपालन को आए हो गोपाल आजु,
ऐसी कौन बाल जो न लाल मुख तो लखै।
(कुलपति मिश्र)

मस्तक लाल होने से उसमें महावर का लगा होना प्रकट है। "लसै" का लक्षण लक्षणा से प्रयोजन (विपरीत भाव से) "अति अनुचित" लगना है। "अद्भुत माल" से असली माला का प्रयोजन न होकर गाढ़ालिंगन से गुरियों का हृदय पर उपटा (छपा) होना प्रकट होता है। "अनमिख…अखै" से जागरण के कारण नेत्रों में अक्षय-व्रत (महदालस्य) प्रकट हुआ। "फूले अंग-अंग" से शोथ का भाव साहित्य-विरोधी न लेकर गात-शैथिल्य (ढीलापन) का आवेगा। "बहुरंग" से कज्जल, सिंदूर आदि लगा होना व्यंजित है। "राजै" से विपरीत लक्षणा द्वारा बहुत बुरा लगना प्रकट है। "मनो सखै" कामदेव का सखा वसंत-ऋतु है। अंग-अंग का फूलना तथा बहुत रंगों का होना ये वसंत के लिये योग्य हैं। "अति सरसात… बरसात" द्वारा विपरीत (लक्षण) लक्षणा से बुरा लगना प्रकट है। "पिय नखै"—हे प्रियतम! जो मूर्तिमान् हिम्मत अपार समुद्र "नखै" (लाँघ जाय), वह भी आपका छवि-समुद्र देखकर मौन (चुपका) हो जाय। प्रयोजन रूप देखकर नायिका के साहस छूटने का है। चौथे चरण में भी विपरीत लक्षणा से मुख न देखने की इच्छा प्रकट है। यह उदाहरण गूढ़ लक्षणा का है, क्योंकि साधारण लोग इसे नहीं समझ सकते। अन्यच्च—

लाल, बिलोकि री ! भाल बिसाल बिना गुन माल लसै परबीन ,
त्यौ बरसै रस अगनि तै, सरसै सुख रूप न प्रेम नबीनै ।
साहस-सिधु अपार गहै सु बहै चित चातुरता परबीनै ;
नेकु निहारि भटू भरि लोयनि आयो अनंग सखा सँग लीनै ।

(प्रताप साहि)

अनंग सखा-वसत, इसके द्वारा गूढ व्यग्य बोधित किया गया है, कि जिस प्रकार वसंत में रग-विरगे पुष्प अधिक होते हैं, उसी प्रकार नायक भी अलक्तक एव कज्जल के चिह्नो से अत्यत युक्त है। अत: उसकी सापराधता द्योतित होती है। वस्तुत यह व्यग्य अपरिपक्व बुद्धिवालो के लिये दुर्ग्राह्य ही है। तथाहि—

आनन मै बिकसी मुसकानि, त्यो बंकुरता अँखियानि छुई है ,
बैन खुले मुकले उर-जात जकी, बिथकी गति ठौन ठई है।
'दास' प्रभा उछले सब अंग, सुरंग सुबासता फैलि गई है ,
चंद्रमुखी तन पाइ नबीनो भई तरुनाई अनद मई है।

(दास)

बिकसी, छुई, खुले, मुकले, ठौन ठई, उछलै, सुबासता फैलि गई, तन पाइ नबीनो आदि का मुख्यार्थ नहीं बैठना। इनमें गूढ लक्षणा है। किसी स्त्री को देखकर यह वचन है।

इसी गूढ लक्षणा में जो व्यंग्य होती है, वह जहा प्रधान हो, वहा लक्षणा मूल व्यंग्य कहलाती है। इसी को अविवक्षित वाच्य ध्वनि कहते हैं। इसके दो भेद हैं—(१) अत्यत तिरस्कृत वाच्य ध्वनि और (२) अर्थांतर-सक्रमितवाच्य ध्वनि। पहिली में लक्षण लक्षणा होती है, और दूसरी मे उपादान लक्षणा, अतः गूढ भेद को भले प्रकार समझ लेना चाहिए।

एक बात और विचारणीय है कि यदि साहित्य-दर्पणवाले भेद माने जायँ, तो इन दोनो में उपादान और लक्षणा दो भेद होते हैं।

यहाँ ध्वनि प्रकरण देखते यह गड़बड़ आगे पड़ेगी कि मुख्य भेद तो लक्षणावाली ध्वनि में आएगा, और उसके प्रभेद साध्यवसाना और सारोपा लक्षणा अभिधा मूल ध्वनि में। इसीलिये पंडित राज ने वैज्ञानिक होते हुए भी ये (साहित्य-दर्पणकारवाले) भेद नहीं माने। उसी को हिंदी के आचार्यों ने भी स्वीकार किया है। (साहित्य-दर्पणवाले लक्षणा के भेद आगे चक्र में दिए गए हैं, वहीं से देखिये।) *

---

* ऊपर के भेद पंडितराज के मतानुसार दिए गए हैं। संस्कृत के कुछ अन्य आचार्यों ने ये भेद कुछ इतर प्रकारों से भी दिखलाए हैं, जिनमें विश्वनाथ-कृत साहित्य-दर्पण के विचार अच्छे समझ पड़ते हैं। वे नीचे एक चक्र से दिखलाए जाते हैं —
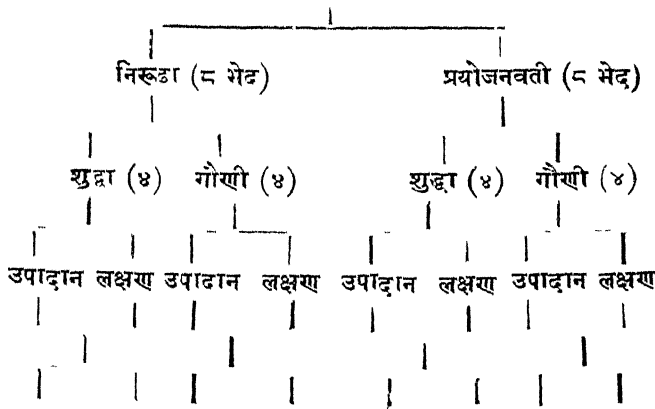
इनमें निरूढा (रूढ़ि) के भी उपभेद दिखलाए गए हैं, जो दिखलाना हमें ऊपर अंकित कारणों से आवश्यक नहीं समझ पड़ता।

अगूढ़ प्रयोजनवती लक्षणा—उसे कहते है, जिसे साधारण बुद्धिवाले लोग भी समझ सकें। यथा—

प्रयोजनवतीवाले इनके उपभेद अब लिए जाते है। इनमें उपादान सारोपा का उदाहरण है "कुन्ता· पुरुषा प्रवेशन्ति" तथा लक्षण सारोपा का है "कलिंग पुरुषोऽयुद्धयति"। साधारण प्रयोग मे इस प्रकार की भाषा प्रचलित नही, जिससे केवल वैज्ञानिक शुद्धता के कारण ये भेद दिखलाना अनावश्यक-सा हो जाता है।

रसगंगाधर कार के अनुसार जो भेद हमने ऊपर लिखे है, उनमे भी किसी-किसी ने दृश दिया है। यथा—"है माया संसार रे" का लक्ष्यार्थ हुआ "ससार माया-रूप है।" इस प्रकार अर्थ लगाने से यहाँ लक्ष्यार्थ मे वाच्यार्थ का भी अन्वय हो हो जाता है, जिससे उपादान लक्षणा भी हो जायगी, यद्यपि उदाहरण यह सारोपा का है।

इसी प्रकार "गगावासी" है तो शुद्धा प्रयोजनवती लक्षण लक्षणा का उदाहरण, किंतु प्रयोजन "गंगा-तट-वासी पुरुष" का होने से और उदाहरण में केवल "गंगावासी" के कथन होने से यहाँ केवल विषयी के मिलने से साध्यवसाना का भी रूप निकल आता है।

इसलिये कुछ लोगों का विचार है कि रसगगाधर के भेद वैज्ञानिक नही। बात यह है कि उपादान और लक्षण लक्षणा के उदाहरणों में सारोपा या साध्यवसाना की भी अति व्याप्ति दिखलाई जा सकती है। इसीलिये विश्वनाथ ने सारोपा और साध्यवसाना को उपादान और लक्षण लक्षणाओं के उपभेद कह दिया है। फिर भी ऐसा करने में उन्हें उदाहरण ऐसे लाने पड़े है, जो प्रचलित भाषा में न रहने से गुत्थल मालूम पडने लगते है। इसी कारण हमने व्यवहार की मुख्यता मानकर पंडितराज का अनुगमन किया है। हिंदी के बड़े

सज्जन मुख मीठे बचन सहजहि कढ़त बनाय,
लैबो कौन सुगंध को भ्रमरहि देत सिखाय।
(कुलपति मिश्र)

"मीठे बचन" से सुखद भाषण और "सहजहि" से स्वाभाविकता के भाव प्रकट ही निकलते हैं, जो सभी समझ सकते हैं।

व्यंजना

व्यंजना—अभिधा और लक्षणा के विरत होने पर जिस शक्ति द्वारा कोई अन्य (विशेष) अर्थ जाना जाय, वह व्यंजना-वृत्ति है।

इस अर्थ को व्यंग्यार्थ तथा शब्द को व्यंजक शब्द कहते हैं। इसके भी भेद चक्र द्वारा प्रकट किए जाते हैं—
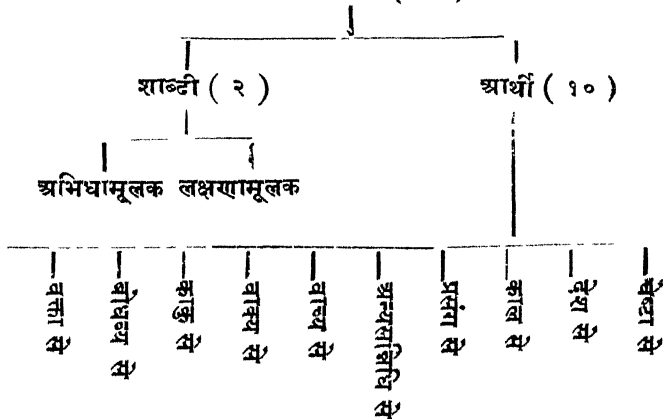
आचार्यों ने भी ऐसा ही किया है। इनमें कुलपति, श्रीपति, दास आदि के नाम आते हैं।

इन दसों के तीन-तीन उपभेद भी होते है, अर्थात् वाच्यसंभवा, लक्ष्यसंभवा तथा व्यंग्यसंभवा ।

(१) अभिधामूलक शाब्दी व्यंजना—उस स्थान पर होती है, जहाँ पहले संयोग आदि से अनेकार्थवाची शब्दों का एक अर्थ नियत हो जाने पर भी कोई अन्य अर्थ किसी कारण-वश उन्ही शब्दों से निकलता है ।

अनेकार्थवाची शब्दों का एक अर्थ नियत करने के लिये साहित्यिको ने १५ कारण माने है—(१) संयोग, (२) विप्रयोग, (३) साहचर्य, (४) विरोधिता, (५) अर्थ, (६) लिंग, (७) अन्य शब्द-सन्निधि, (८) सामर्थ्य, (९) औचित्य, (१०) प्रकरण, (११) देश, (१२) व्यक्ति, (१३) काल, (१४) स्वरादि और (१५) नं० १४ के आदि शब्द से अभिनय या कोई अन्य ज्ञातव्य कारण का बोध होता है ।

विशेष—ये सब अभिधामूला व्यजना के भेद नही, प्रत्युत व्यंग्यार्थ निकलने के पूर्व एकार्थ दृढ होने के विविध कारण-मात्र है ।

"संख-चक्र-युत हरि"[१] "तजे संख-चक्र हरि आनि[2]",
राम-लखन दसरथ-तने "साहचरज" ते जानि ।
रामार्जुन तिन 'बैर" ते परसुराम द्रुत मानि ,
तारन हित सु स्थाणु भजु, इहाँ "अरथ" ते जानि ।
मकरध्वज कोप्यो कहे इहाँ "लिंग" ते लेखि ,
कर सों सोहत नाग है, "पदयोगहि" करि पेखि ।
मधुमत्ता कोकिल कहे "समरत्थहि" उर आनि ,
रक्ष सुंदरी कहत ही तहँ "औचित"करि जानि ।

---

१ यह संयोग का उदाहरण । २. इसमे विप्रयोग का उदाहरण मिलेगा । आनि=लाओ ।

राजत देव सुदेस मैं तत "प्रकरन" कर बेस,
गगनहि राजत चंद्र है, इहाँ जोर है "देस"।
(चिंतामणि)

"व्यक्ति" हि सों कहुँ जानिए एकै अरथ निगाट[1],
सरसुति को कहिहै कहो बानी बैठो हाट।
(दास)

राजै दिन सब अग्नि निसि "चित्रभानु" ते लेखि,
(चिंतामणि)

इते पयोधर बढ़ भए, यह "अभिनय" कर पेखि।
(दास)

स्थाणु नाम ठूँठ तथा महादेव का है। पदयोगहि=शब्द-सन्निधि। मधुमत्ता=वसत से उन्मत्त।

रक्ष सुंदरी—यहा जब स्त्री से रक्षा करने की प्रार्थना है, तो औचित्य से उसकी अनुकूलता का तात्पर्य निकलता है।

यदि चित्रभानु दिन में कहा जाय, तो सूर्य से प्रयोजन निकलेगा, तथा इसी शब्द को रात में कहने से अग्नि का बोध होगा। संस्कृत-भाषा में यह कमी भी है कि एक-ही-एक शब्द क अनेक अर्थ होते हैं, जिससे निश्चित अर्थ का अदाज़-मात्र बहुधा रहता है, पूर्ण दृढ़ता नहीं। इसीलिये विविध प्रकार के उपर्युक्त विचार अर्थों के अंदाज़ लगाने को लिखे गए हैं। यह विशेषता भाषा-सौंदर्य तथा थोड़े शब्दो में बहुत अर्थ लाने की शक्ति प्राप्त करने को अंगीकार की गई है।

अब इन पद्रहों कारणों के विवरण दिए जाते हैं—

१—सयोग—किसी प्रकार का साथ शब्द द्वारा अमुख्यता से प्रतिपादन होना संयोग है।

---

1 निपट।

"संख-चक्र-युत हरि"

मे हरि के अनेकार्थ हैं, जैसे बंदर, सिंह, सर्प, मंडूक, जल आदि। इनमें विष्णु का अर्थ संयोग से पुष्ट होता है। यहाँ मुख्यता हरि की है, तथा अमुख्यता शख-चक्र की, जो "युत" शब्द से प्रतिपादित है।

सयोग और साहचर्य मे भेद—यदि कहें कि शख-चक्र और हरि आ रहे हैं, तो सबकी मुख्यता हो जाने से संयोग न रहकर साहचर्य का उदाहरण हो जायगा।

"हरि को खोजन हरि चले, हरि बैठे हरि पास,
वे हरि हरि में हरि गए, ये! हरि फिरे निरास।"

मेंढक को खोजने सर्प चला। मेंढक जल के पास बैठा था। वह तो जल मे कूदकर गायब हो गया, और सॉप निराश होकर पलट गया। यह उदाहरण सयोग का नहीं, शब्द-सन्निधि का है।

२—विप्रयोग—संयोगवाली वस्तुओं का अभाव विप्रयोग है। "संख चक्र तजे हरि" इसका उदाहरण है।

३—साहचर्य—किसी प्रकार का बराबरवाला प्रसिद्ध साथ साहचर्य है।

"राम और लच्मण आते हैं।"

कहने से साहचर्य द्वारा दोनो दशरथ-नंदन प्रकट होते हैं। राम से परशुधर, रामणारि तथा बलराम में से किसी का प्रयोजन निकल सकता है, किंतु लचमण के साथ से रावणारि ही राम सिद्ध हो जाते हैं।

४—विरोधिता—इसमें प्रसिद्ध शत्रुता या एक ही स्थान में न रह सकने के कारण एक अर्थ का निश्चय होता है।

"रामार्जुन का युद्ध हो रहा है।"

ऐसा कहने से सहस्रार्जुन के शत्रु परशुराम का बोध राम शब्द से हुआ। दूसरा उदाहरण है—

"धूप छाँह।"

यहाँ एक ही स्थान में न रह सकने के कारण धूप का अर्थ घाम होता है, न कि देवतार्चनवाली धूप।

५—अर्थ—से प्रयोजन (मतलब) लेना चाहिए। (शब्द द्वारा न कहा हुआ) प्रयोजन समझने के कारण एकार्थ का नियत करना अर्थ द्वारा होता है।

"तरने के लिये स्थाणु को भजो।"

स्थाणु हैं तो महादेव तथा ठूँठ दोनो, किंतु भजन द्वारा तरने के कारण अर्थ महादेव का लगेगा।

६—लिंग—शब्द द्वारा कथित केवल किसी ख़ास वस्तु मे रहनेवाला जन्मज चिह्न लिंग है।

"मकरध्वज कोप्यो।"

यहाँ लिंग से कामदेव का अर्थ लगता है, क्योंकि दूसरा अर्थ समुद्र जड़ होने से कोप नहीं कर सकता।

लिंग, अर्थ और संयोग मे भेद—नं० ५ (अर्थ) मे मतलब सोचना पडा, किंतु यहाँ केवल "कोप्यो" शब्द से प्रयोजन निकल आया। शख-चक्र जो संयोगवाले विचार हैं, वे जन्मज नही, प्रत्युत लिंग जन्मज है। यह भेद लिंग और संयोग मे है।

७—अन्य शब्दसन्निधि—में ऐसे अनिश्चयवाची शब्द या शब्दों के पास होने से अर्थ बैठता है, जिनका एक ही अर्थ संगत होता है। यथा—

"कर सों सोहत नाग है।"

इसमें कर का अर्थ नाग-शब्द के कारण हाथ न होकर सूँड होगा। नाग साँप और हाथी, दोनो को कहते हैं। साँप के न तो हाथ होते हैं, न सूँड। इसमे कर के कारण नाग का अर्थ यहाँ हाथी होगा।

लिंग और अन्य शब्दसन्निधि का भेद—लिंग में एक शब्द

का अर्थ पहले ही से निश्चित होता है, किंतु यहाँ दोनो शब्द अनिश्चित होकर एक दूसरे के अर्था का समर्थन करते हैं ।

८—सामर्थ्य—शब्द द्वारा न कहा हुआ अर्थ योग्यता के विचार से निश्चित सामर्थ्य से होता है । यथा—

"मधुमत्ता कोकिल है ।"

में मधु के अर्थ शहद, चैत्र, वसंत, मद्य आदि कई है, किंतु कोकिल को उन्मत्त करने की शक्ति वसत मे होने से यहाँ वसत ही का अर्थ बैठेगा ।

सामर्थ्य, लिग और अर्थ मे भेद—लिंग मे केवल कोप्यो शब्द के कारण अर्था मिला, किंतु सामर्थ्य मे सोच-साचकर निकालना पड़ा । अर्थ न० ५ मे चतुर्थी (संप्रदान) विभक्ति (के लिये) से प्रयोजन निकलता है, तथा सामर्थ्य मे तृतीया (करण) (के द्वारा या से) से ।

६—औचित्य—का प्रयोजन है योग्यता (वाजबियत) । यथा—

"रक्ष सुंदरी !"

कहने से वाजिब यही समझ पड़ता है कि यह कामार्त पुरुष का वचन होने से नायिका को सम्मुख करने के अभिप्राय से कहा गया है, न कि किसी शत्रु द्वारा आक्रमण से बचाने को ।

अर्थ, सामर्थ्य तथा औचित्य का भेद—इसमे कोई विभक्ति नहीं, जैसी अर्थ (नं० ५) और सामर्थ्य (नं० ८) में रहती है ।

१०—प्रकरण – का अर्थ है बातचीत का विषय ।

"राजत देव सुदेस मैं ।"

में देव (राजा) अच्छे देश में शोभा पाता है । यहाँ प्रकरण द्वारा यह प्रकट होगा कि देव का अर्थ राजा है, देवता नहीं ।

११—देश—से स्थान विशेष का प्रयोजन ।

"गगनहि राजत चंद्र है ।"

कहने से चद्र शब्द के कर्पूर, शशि आदि अर्थों में से शशि ही निश्चित हो जाता है, क्योंकि वही आकाश में शोभित है ।

१२—व्यक्ति—यहाँ किसी शब्द के पुंलिंग या स्त्रीलिंगवाची होने से तात्पर्य है।

"बानी बैठो हाट।"

में बानी-शब्द के अर्थ बनिया या सरस्वती दोनो हैं, किंतु क्रिया बैठो के पुंलिग-सूचक होने से अर्थ वैश्य का ही ठीक बैठेगा, न कि सरस्वती का। हाट शब्द भी बनिए का ही भाव (नं० ७) अन्य शब्दसन्निधि द्वारा प्रकट करता है।

१३—काल—से प्रयोजन समय का है।

"राजै चित्रभानु।"

कहने से चित्रभानु को सूर्य माने या अग्नि, इसमे सहायता नहीं मिलती, किंतु "राजै चित्रभानु दिन" कहने से अर्थ सूर्य का आ जायगा, तथा "निशि" कहने से अग्नि का।

१४—स्वर—से प्रयोजन बोलने के प्रकार का है। इससे एक अर्थ का नियम नहीं होता।

साहित्य-दर्पण मे आया है कि किसी का यह आक्षेप है कि भरत मुनि ने अपने नाट्य-शास्त्र मे यह लिखा है कि शृंगार और हास्य में स्वरितोदात्त* का तथा करुणादि रसो मे अनुदात्त स्वरित का प्रयोग करना चाहिए। इसलिये इसे भी एकार्थ-नियत कारक मानना योग्य है। वही इसका यह उत्तर देते हैं कि अभिधा मे एकार्थ नियत करने को स्वर काम मे नही आता, वरन् काकु या उदात्त से केवल व्यजना में अर्थ बदला जाता है। स्वर अर्थ बदलने के काम आता है, न कि नियत करने के। अतएव इसका वर्णन आर्थी व्यंजना म आगे आवेगा।

१५—(नं० १४) में प्राय· स्वरादि लिखा जाता है। वहाँ के

---

* स्वरित स्वर विशेष को कहते हैं, तथा उदात्त ऊँची आवाज़ को। अनुदात्त नीची आवाज़ है।

आदि शब्द से अभिनय या किसी अन्य प्राप्य कारणों का प्रयोजन निकलता है। हाथ आदि द्वारा इशारे को अभिनय कहते हैं।

"इते पयोधर बड़ भए।"

में हाथ आदि से इंगित होने के कारण पयोधर का अर्थ बादल न होकर स्त्री का अंग विशेष होगा।

सूचना—उपर्युक्त १५ कारणों से अनेकार्थवाची शब्दों का अर्थ एक नियत हो जाने के पीछे जहाँ किसी विशेष कारण-वश कोई अन्य अर्थ निकले, वहाँ अभिधामूला शाब्दी-व्यंजना होगी।

उपर्युक्त भेद शाब्दी-व्यंजना के नहीं, वरन् एकार्थ नियत करने के मार्ग-मात्र है। यह काम अभिधा-शक्ति का है, किंतु आचार्यों ने इस विषय का कथन अभिधा के पास न करके इसी स्थान पर किया है। इस बात के समर्थन से भी कारण मिल सकने से हमने भी उनका अनुगमन किया। दास ने यह वर्णन अभिधा के प्रकरण में किया भी है।

इन कारणों में से अर्थ, सामर्थ्य, औचित्य और लिंग में एक दूसरे से बहुत कम भेद है। संयोग, विरोध, विप्रयोग और साहचर्य सब एक प्रकार के संबंध ही हैं, जो एक में मिलाए जा सकते है। यदि अकेले प्रकरण को मान लें, तो पंद्रहों का प्रयोजन उसी से निकल सकता है। कुलपति मिश्र ने इन सबको न मानकर केवल संयोग, विप्रयोग, विरोध, अर्थ, प्रकरण, अन्य शब्दसन्निधि, लिंग, समय और देश को ही माना है।

अब खास व्यंजना का कथन चलता है।

अभिधामूला शाब्दी-व्यंजना का लक्षण ऊपर आ चुका है। अब उदाहरण दिया जाता है—

जान्यौं हौं तिहारे अनगन है अमोल धन,
मेरो तन जातरूप तातैं निदरत हौ;

'सेनापति' पायँ परे, बिनती करेहूँ तुम्हैं
देतीं जे न अधरती, तहाँ को ढरत हौ।
बाट मै मिलाय तारे तौल्यो बहुबिधि, तऊ
दीन्हों है सजीव आप तापर अरत हौ;
पीछे डारि अधमन हम दीन्हों दूनो मन,
तुम पछितात इत पाँव न धरत हौ।
(सेनापति)

इस छंद के दो अर्थ हैं—तन जातरूप=थोड़ा सोना। एक अर्थ यह है कि तुम्हारे पास असख्य अनमोल धन है, सो तुम थोड़े-से सोने के कारण मेरी निंदा करते हो। दूसरा अर्थ यह है कि तुम्हारे पास असंख्य युवतियों का धन है, सो जो मेरा शरीर सोने-सा है, उसकी भी निंदा करते हो। सेनापति कवि कहते हैं कि पैर पड़ने तथा बिनती करने से जो तुम्हें आधी रत्ती भी नहीं देतीं, उनसे प्रसन्न हो। दूसरा अर्थ है कि जो स्त्रियाँ तुम्हें अधर (ओंठ, चुंबन) नहीं देतीं, उनसे प्रसन्न हो। सोने के तारे (सितारे) बाँट से मिलाकर आपने कई भाँति से तोला, तो भी मैंने सजीव (तौल में जिदा, कुछ अधिक) ही दिया, उस पर भी झगड़ते हो। दूसरा अर्थ है कि मार्ग में आँखें मिलाकर आपने कई प्रकार से जाँचा, और मैंने जीव-सहित (शरीर) अर्पित किया, तो भी आप अनुकूल नहीं होते। औरों का आधा मन (तोल) पीछे छोड़कर हमने दूना मन तक दिया। दूसरा अर्थ है कि औरों ने तुम्हें आधा ही चित्त दिया, और मैंने दूना।

यहाँ सोनारपन-संबंधी जो अर्थ निकलता है, वह प्रकरण के कारण अभिधा द्वारा नियत हो जाता है। तत्पश्चात् विशेष कारण-वश जो नायक-नायिका वृत्तांत मिलता है, वह अभिधामूला शाब्दी-व्यंजना का विशेष अनेकार्थवाची शब्दों के कारण से है। इस अर्थ का भी संबंध है शब्दों से ही, और असली भी माना जा सकता है, सो शाब्दी-व्यंजना हुई।

भयो अपत, कै कोप-युत, कै बौरयो यहि काल ;
मालिनि आजु कहै न क्यों वा रसाल को हाल ।

(दास)

यहाँ अर्थ आम और नायक, दोनो पर स्पष्ट है। आम्र-पक्षवाला अभिधा से नियत हो जाने पर दूसरा नायक-पक्ष का अर्थ जो अनेकार्थ-वाची शब्दों के कारण निकला है, वह अभिधामूला शाब्दी-व्यंजना का विषय है।

पंडित राज ऐसे स्थानो पर गूढ़ व्यजना (ध्वनि) नहीं, वरन् गुणीभूत व्यंग्य का होना स्वीकार करते है , परतु अन्य आचार्यों ने अभिधामूला शाब्दी मे ध्वनि माना है। यहाँ ध्वनि मानना चाहिए या गुणीभूत व्यग्य । इसका निर्णय ध्वनि-प्रकरण में आगेवाले भाग मे किया जायगा। हम ऐसे स्थानो पर ध्वनि का माना जाना उचित समझते हैं।

(२) लक्षणामूलक शाब्दी-व्यंजना—जिसके लिये लक्षणा का आश्रय लिया जाता है, वह प्रयोजन जिस शक्ति द्वारा ज्ञात होता है, उसे लक्षणामूला शाब्दी-व्यंजना कहते हैं।

प्रयोजनवती लक्षणा के सब उदाहरणों में लक्षणामूलक शाब्दी व्यजना का भी काम पड़ता है। एक और उदाहरण दिया जाता है—

फलीं सकल मन-कामना, लूट्यो अगनित चैन ;
आजु अँचै हरि-रूप सखि, भए प्रफुल्लित नैन ।

(दास)

यहाँ फलीं, लूट्यो, अँचै तथा प्रफुल्लित शब्दों के अर्थ लक्षणा द्वारा लगते हैं। इन सबका प्रयोजन दर्शनभव अत्यंत आनंद प्राप्त होना प्रकट करने का है, जो लक्षणामूला शाब्दी-व्यजना से निकलता है। ऊपर गूढ़ प्रयोजनवती लक्षणा का जो उदाहरण दिया हुआ है, वह इस व्यंजना का भी अच्छा उदाहरण है।

(१) आर्थी व्यंजना—वक्ता आदि की विशिष्टता के कारण जिस व्यंजना का उद्भव होता है, उसे आर्थी कहते हैं। आर्थी नाम अर्थ-संबंधी विशेष चमत्कार के कारण पड़ा।

१—वक्ता वैशिष्ट्य से आर्थी व्यंजना—इसमें कहनेवाले की विशेषता से आर्थी व्यंजना का उद्घाटन होता है। यथा—

देखु री, दर्पन ओर चितै, रचि मेरे सिंगार बिगारत है हरि ,
कंचन हू रुचि रंच रुचै नहिं, मोतिन की सरि मो तन की सरि।
'देव' रहे दबि सो छबि छाती कि बोझ मरौ मनि-माल बृथा धरि ,
भाल मृगम्मद-बिंदु बनायकै इंदु-सी मोहिं गोविंद गए करि।

(देव)

यहाँ वक्ता के नायिका होने से उसका रूपगर्विता होना व्यंजित है। सरि = माला , बराबरी। मणिमाल से छाती की शोभा दब जाती है, सो उसे धारण करके मैं वृथा ही बोझ से मरती हूँ। मृगमद (कस्तूरी) का तिलक लगने से माथे में चंद्र के समान कलंक सा लग गया, जिससे जो मुख चंद्र से श्रेष्ठतर था, वह घटकर अब उसके बराबर रह गया।

पीत रंग सारी गोरे अंग मिलि गई 'देव',
श्रीफल-उरोज-आभा आभासै अधिक-सी ,
छूटी अलकनि छलकनि जल-बुंदन की,
बिना बेंदी बंदन, बदन सोभा बिकसी।
तजि-तजि कुंज-पुंज ऊपर मधुप-गुंज,
गुंजरत मंजु रव बोलै बाल पिक-सी ,
नीबी उमसाय, नेकु नयन हँसाय, हँसि
ससि-मुखी सकुचि सरोवर ते निकसी।

(देव)

कुंजों को छोड़कर भ्रमर-भीर पद्मिनी नायिका के मुख के निकट

मँडराती हैं, तथा उन्हें यह जतलाकर भगाने के लिये नागरी नायिका बोलती है कि यह कमल नहीं, मुख है। स्नान के पीछे सरोवर से निकलने का वर्णन है। यदि नायक को इस छंद का वक्ता मानें, तो प्रेमासक्ति का व्यंग्य है, किंतु यदि सखी को वक्ता माने, तो सहज शोभा और नागरत्व के कथन द्वारा नायिका के रूप पर सखी के गर्व का व्यंग्य है। यदि सखी का वचन नायक के प्रति मानें, तो दूतीपन व्यंजित होगा।

२—बोधव्य वैशिष्ट्य आर्थी व्यंजना—में संबोधित व्यक्ति की विशेषता के कारण व्यंग्य का प्रकाश होता है। यथा—

> घाम घरीक निवारिए, कलित-ललित अलि पुंज,
> जमुना-तीर-तमाल तरु मिलति मालती-कुंज।
>
> (बिहारी)

यहाँ यदि बोधव्य केवल थका हुआ बटोही मानें, तो वक्ता का तरस खाना-मात्र व्यंजित है, किंतु यदि वक्ता हो नायिका तथा बोधित व्यक्ति नायक, तो स्वयं दूती का भाव व्यंजित होगा। ललित अलि-पुंज से कोई उनका सतानेवाला नहीं, जिससे स्थान की शून्यता निकली है। तमाल-तरु तथा मालती-कुंज से छाया-युक्त तथा सहेट योग्य स्थान व्यंजित है। इतना उद्दीपन है कि तमाल तरु से जड़ होने पर मालती-लता लिपटी है। घाम निवारिए में आतप-युक्त समय सूचित है, जब कोई अन्य वहाँ प्राय न जायगा। यदि वक्ता नायिका की अंतरंगा सखी हो, तो मालती-लता के कथन से वहाँ नायिका के होने का आभास मिलता है, जिससे वक्ता द्वारा बोधव्य को वहाँ जाने की सलाह प्रकट होगी। भ्रमर अधिक होने से, ऐसी दशा में नायिका पद्मिनी होगी।

३—काकु वैशिष्ट्य से आर्थी व्यंजना—विशेष प्रकार की कंठ-ध्वनि से उच्चारित होने के कारण व्यंग्य के प्रकाशित होने में होती है। यथा—

दुवन दुसासन महीपति-सभा मैं खैंचे
द्रुपद-सुता को चीर, जग हाहा खात भो,
व्याधन को साथ करयो, बन में निवास भए,
कंद-मूल-असन, बसन तरु पात भो।
श्रीपति भनत जाय रहे है बिराट-गेह,
जहँ दिन-दिन अनुचित अधिकात भो,
तापर तकत मया करिकै सुजोधन पै,
धरम-सरूप राजा मो पर रिसात भो।
(श्रीपति)

यह भीम का सहदेव प्रति वचन है। स्वर बदलकर भीम द्वारा "धरम......रिसात भो" कहने से यह व्यंग्य निकलता है कि मुझ पर क्रोधित न होकर उन पर होना चाहिए, जिनके कारण कथित उपद्रव हुए। इसको सीधे पढ़ने से कुछ व्यंग्य नहीं निकलता, परंतु स्वर फिराकर पढ़ने से ; "धर्म स्वरूप राजा मुझ पर क्रोधित हैं ?" यह प्रश्न प्रतीत होता है ; उसके अनतर व्यंग्य से यह निकलता है कि मुझ पर न क्रोधित होकर युधिष्ठिर को कौरवो पर रोष करना चाहिए।

काकु और काकु-आक्षिप्त व्यंग्यों का विषय-पृथक्करण—

दुहूँ ओर घोर जोर चलत हथ्यारन के
कौरव सहस कर आपने न मारिहौ,
करिहौं न जेर दुरजोधन के भ्रातरन,
अनुचितकारी भारी दल न उखारिहौ।
दलिहौं न गदा सो सुजोधन को दीह उर,
क्रूर अति रह्यो, ताहि कब लौं निहारिहौं,
लेकै कछु ग्राम भूप रावरो धरम-धाम
चाहत करन सामुहे ही हौ न धारिहौं।
(धनीराम)

यहाँ भीमसेन की उक्ति युधिष्ठिर द्वारा भेजे हुए सहदेव के प्रति है। फिरे हुए कंठ स्वर के कारण यहाँ भी उलटा अर्थ हो जाता है, किंतु पृथक् व्यंग्य नहीं निकलता। अतएव काकु-आक्षिप्त (काकु वैशिष्ट्य से खींचकर लाया हुआ) गुणीभूत व्यंग्य है, जो आगे इस ग्रथ के द्वितीय भाग में, मध्यम काव्य के उदाहरण मे, आवेगा। पहले छद मे स्वर-परिवर्तन व्यंग्य के निकलने मे प्रश्न-मात्र की प्रतीति करता है— अर्थात् प्रश्न-मात्र पर काकु की विश्रांति हो जाती है। व्यग्य उसके अन्तर निकलता है। और इधर दूसरे उदाहरण में काकु के कारण वक्ता के कथन के साथ ही वाच्यार्थ का अर्थ तत्काल बदल जाता है। व्यंग्य के समझने मे विलंब नही लगता—यहाँ व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ निषेध के साथ ही प्रतीत होता है। अत पहले काकु वैशिष्ट्य मे प्रश्न के अनंतर व्यंग्य प्रतीत होने से उत्तम (मुख्य) व्यग्य और दूसरे काकु-आक्षिप्त मे अर्थ तत्काल बदल जाने से व्यंग्य गौण (अमुख्य) हो जाता है। यह भेद हुआ।

४—वाक्य वैशिष्ट्य से आर्थी व्यंजना— सार्थक शब्द-समूह की विशेषता से उद्घाटित आर्थी व्यंजना होती है। यथा—

आईंहि गोधन-पूजन को सब गोकुल-गाँव कि गोपकुमारी,
तामैं महा इक सुंदरी हीभ नि 'श्रीपति' श्रीबृषभानुदुलारी।
राख्यो इतै-उतै नेकु न स्यामजू, मेरे कपोलन दीठि न टारी;
हौं तौ वहै, अरु वेई कपोल हैं, ह्वै गई औरई दीठि तिहारी।

(श्रीपति)

वक्ता के कपोलो पर जब राधा का प्रतिबिब पड़ता था, तब श्याम ने उस पर से निगाह न हटाई, किंतु पीछे प्रतिबिंब के हट जाने से बात और ही हो गई। यहाँ पूरे वाक्य से उपर्युक्त व्यंग्य अर्थ द्वारा निकलता है।

आजु कछू औरै भए, छए नए ठिक ठैन;
चित के हित के चुगुल ये नित के होहिं न नैन।

(बिहारी)

आज कुछ और हुए हैं, नए रग-ढंग छाए हुए हैं, चित्त के प्रेम की चुगली करते हैं, तथा नित के न होकर नवीनता-युक्त हैं। इन चारो भावों से कहीं प्रेम जुड़ने का व्यंग्य निकलता है।

अचल सो ह्वै रह्यो पुरोहित हिमंचल को,
अचल दृगंचल सों गाँठि-सी परत ही;
बधू नवऊढ़ को निहारि मुनि मूढ़ भए,
बचननि बेद बिधि गूढ़ उचरत ही।
चंद्र-कला च्वै परी, असंग गंग ह्वै परी,
भुजंगी भाजि भ्वै परी बरंगी के बरत ही,
कामरिपु 'देव' भुज दामरि पहिरि काम
कामरि करा है भुज भामरि भरत ही।
(देव)

शिव के नेत्र की गाँठ पार्वती के आचल से पड़ने पर पुरोहित मुनि अचल हो गया कि इतना बड़ा योगी कैसे कामासक्त हुआ? ऐसी गुणवती नवोढ़ा द्वारा शैव-पराजय से पुरोहित मुनि मूढ़ हो गए, क्योंकि उनके शिव-संबधी वेदोक्त विचार झूठे पड़ गए। गंगा पार्वती की बड़ी बहन होकर भी छोटी बहन के पति के सिर पर चढ़ी होने से अलग हो गई, अथवा पार्वती का अपार सौंदर्य देखकर असंग हो गई। चद्र-कला की पराजय मुख के सौंदर्य से व्यजित है, और भुजगी की लटों से। चौथे पद में भामरि भरते ही जब यह दशा हुई, तब आगे अधिक होगी, ऐसा व्यंजित है। पहले दो पदों की व्यजना ऊपर दिखलाई जा चुकी है।

५—वाच्य वैशिष्ट्य से आर्थी व्यंजना—शब्दार्थ वाच्य है। इसमें शब्दार्थ के प्रभाव से आर्थी व्यंजना होती है। यथा—

गूढ़ बन सैल बूढ़े बैल को गहाई गैल,
भूत न चुड़ैल छैल छाके छबि ओज के;

भंग के न रग दे भगीरथ को गंग उत-
मंग जटा राखत न राख तन खोज के।
'देव' न बियोगी, अब योगी ते सँयोगी भए,
भोगी भोग अंक परजंक नित चोज के,
व्याल गजखाल मुडमाल औ' डमरु डारि
ह्वै रहे भ्रमर मुख सुदर सरोज के।

(देव)

पहले पद में शिव को अपने साथी नदीगण, भूत, चुडैल आदि की आवश्यकता नहीं रही, क्योंकि वह नवोढा के सौदर्य-भाव-प्रभाव से छके हुए हैं। बूढ़ा बैल होने से पुराने योगी होने का व्यग्य शब्दार्थ से आया।

उतमग = उत्तमाग, सिर। भग का रंग (पुराना आनंद) छोड़ा। यहाँ भी शब्दाथ मे व्यग्य है। या तो शरीर-भर मे राख लगाते थे या अब उसका खोज भी नहीं। इससे एकदम स्वभाव पलटने का व्यग्य है। 'अब' (तृतीय पद का) शब्द नई घटना विवाह का स्मरण व्यग्य द्वारा कराता है। 'अक' शब्द से भली भाँति भोग के वश में होने का व्यग्य है। 'चोज' भी यही भाव प्रकट करता है।

६—अन्य सन्निधि वैशिष्ट्य से आर्थी व्यंजना—

श्रोता से इतर किसी व्यक्ति-विशेष की समीपता के प्रभाव के कारण आर्थी व्यजना निकलती है। यथा—

निश्चल व्यसनी पत्र पर उत बलाक यहि भाँति,
मरकत भाजन पर मनौ अमल संख सुभ कांति।

(दास)

सुभ काँति = शुभ काति = सफेद शोभावाला। मरकत = पन्ना (हरे रंग का)। व्यसनी = व्यसनी (बैठने का) आदी।

व्यंजना उसके निश्चल व्यसनी होने से सदैव जन-शून्यता की है।

नायिका नायक को सुनाकर सखी से साधारण वर्णन करती है, जो नायक को सहेट-स्थान की सूचना देता है।

७—प्रस्ताव वैशिष्ट्य से आर्थी व्यंजना—प्रसंग (अर्थात् अवसर विषय, चर्चा) की विशेषता के कारण आर्थी व्यंजना सूचित होती है। यथा—

धन, जोबन, तन, सकल सुख रहत न जान कोय,
करि लीजै ये ही घरी, जो कछु करनो होय।

(कुलपति मिश्र)

यहाँ यदि धार्मिक प्रसंग हो, तो इस कथन से धर्मोपदेश का व्यंग्य होगा, और यदि शृंगार का (प्रसंग) हो, तो शृंगारिक प्रयत्न का।

८—देश वैशिष्ट्य से आर्थी व्यंजना—जहाँ स्थान में विशेषता होने के कारण आर्थी व्यंजना बुद्धि-ग्राह्य होती है। यथा—

सुखद कुंज, छाया सुघन हरत हिए की ताप,
निरखि दुपहरी जेठ की चलन चहत अब आप।

गरम देशवाली जेठ की दुपहरी में सुखद कुंज और घनी छाया छोड़कर जाने में मना करना व्यंग्य है। देश और काल, दोनों में यहाँ व्यंग्य है।

९—काल वैशिष्ट्य से आर्थी व्यंजना—में समय की विशेषता के कारण सूच्यार्थ का निकलना होता है। तथा—

सूर उदित हू, मुदित-मन मुख-सुखमा की ओर,
चित रहत चहुँ ओर तै निहिचल चखन चकोर

(बिहारी)

मुख-चंद्र से श्रेष्ठतर होना व्यंग्य है, जो बात प्रातःकाल में भी मलिन न पड़ने से प्रकट हुई। यहाँ प्रतीप अलंकार व्यंग्य है।

१०—चेष्टा वैशिष्ट्य से आर्थी व्यंजना—में शरीर के

अंगों की गति या अवस्था की विशेषता के कारण से आर्थी व्यंजना सूचित होती है। यथा—

हरखि न बोली लखि ललन, निरखि अमिल को साथ,
आँखिन ही मैं हँसि धरयो सीस हिए धरि हाथ।
(बिहारी)

हृदय पर हाथ रखने से प्रेम बतलाया गया, तथा सिर पर हाथ रखने से बालो की कालिमा से प्रकट किया गया कि रात्रि में मिलन होगा। दोनो चेष्टाओ से व्यंग्य है।

उपर्युक्त दस कारणो में से कही एक और कहीं अनेक से आर्थी व्यजना निकलती है।

आर्थी व्यंजना दस में से प्रत्येक के तीन-तीन अन्य प्रभेद—अर्थ तीन प्रकार का होता है—वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ। इसलिये इन्ही के अनुसार आर्थी व्यंजना भी वाच्यसंभवा, लक्ष्यसंभवा तथा व्यंग्यसंभवा होती है।

आर्थी व्यंजना के भेदों पर ग्रंथकारों का मत—आर्थी व्यंजना के ये ही तीन भेद है, तथा ऊपर लिखे हुए दसो उसके प्रकट होने के कारण-मात्र है (जैसा कि आचार्यों ने माना है)। अतः ये आर्थी व्यंजना के भेद नहीं, ऐसा हमारा विचार है।

वाच्यसंभवा आर्थी व्यंजना—

केसवदास के भाल लिखो बिधि रंक को अंक बनाय सँवारयो;
छोरे छुटो नहिं धोए धुयो, बहु तीरथ के जल जाय पखारयो।
ह्वै गयो रंक सों राव तहीं, जब बीर बली बलबीर निहारयो,
भूलि गयो जग की रचना, चतुरानन बाय रह्यो मुख चारयो।
(केशवदास)

यहाँ वक्ता की विशेषता तथा वाच्यार्थ से यह व्यंजित होता है कि तीर्थ-स्नान से वीरबल के दर्शन-मात्र का प्रभाव विशेष है।

भूलति ना वह झूलनि बाल की, फूलनि-माल की, लाल पटी की;
'देव' कहै लचकै कटि चंचल चोरी दगचल चाल नटी की।
अंचल की फहरानि हिए रहि जानि पयोधर पीन तटी की;
किंकिनि की झननानि झुलावनि झूकनि सों झुकि जानि कटी की।

(देव)

वक्ता यहाँ नायक है, तथा उसकी आसक्ति व्यंग्य।

लक्ष्यसंभवा आर्थी व्यंजना—

लेहु लला उठि, लाई हौं बाल को, लोक की लाजन सों लरि राखौ;
फेरि इन्हें सपनेहू न पैयत, लै अपने उर में धरि राखौ।
'देव' लला, अबला नवला यह चंद्र-कला कठुला करि राखौ,
आठहु सिद्धि नवौ निधि लै घर-बाहर भीतर हू भरि राखौ।

(देव)

यहाँ लक्ष्यार्थ है उठकर लेने से स्वागत का। लोक-लाज से बढ़कर निधि प्राप्त होने से उस (लोक-लाज) का परित्याग बतलाया गया है। बढ़कर का विचार व्यंग्यार्थ है। 'उर में धरि राखौ' से अति निकट का भाव लक्षणा द्वारा आया, तथा बहुत खातिर का भाव व्यंग्य द्वारा। "कठुला करि राखौ" मे भी वे ही बाते हैं, तथा हृदयस्थ आभूषणवत् मानने से मान की महत्ता भी है। इनके आने से आपके घर में मानौ आठो सिद्धियों तथा नवो निधियों भर गई, जिससे नायिका का व्यंग्य द्वारा माहात्म्य प्रकट है।

सीतल होत हियो सुनत, कहत बात तुतरात;
लालन भले, भलो बदन आय दिखायो प्रात।

(कुलपति मिश्र)

यहाँ खंडिता का वचन है। विपरीत लक्षणा से हृदय शीतल होने

तथा 'भले-भलो' के भी प्रतिकूल अर्थ हैं। व्यंग्य से नायक के वदन का चिह्नित होना अथच उसका सापराध आचरण प्रकट है।

व्यंग्यसंभवा आर्थी व्यंजना—

चंदन-पंक छुटो कुच को, मिटि चारु गई अधरा की ललाई;
रोम खरे, बिथुरी अलकैं, अँखियाँ ते गई कजरा की निकाई।
झूठ कहै सब बैन बनाइकै, न्हाइ सरोवर मो ढिग आई;
ह्वाँ नहिं नेकु गई सजनी, जेहि पापी के पास हौं तोहि पठाई।
(कुलपति मिश्र)

इसका पहला अर्थ शाब्दिक है। वाच्यार्थ सीधा तो यह निकलता है कि दूती नायक के पास नहीं गई, वरन् तालाब में स्नान करके आई है। नायक सहेट-स्थान पर वादा करके भी नहीं आया था, जिससे वह पापी कहा गया है। दूती वहीं से उसे लाने को प्रेषित हुई थी, किंतु न लाकर उनसे अपना ही काम बना लिया। इसी की शिकायत व्यंग्य द्वारा है। उसका चंदन छूट गया है, ओठ की सुर्खी मिट गई है, रोंगटे खड़े हैं, लटें बिथुरी हैं, तथा आँख से काजल धुल गया है। वक्ता है अन्य-सुरति-दुःखिता तथा बोधव्य है रति-चिह्नित दूती। यहाँ पहला व्यंग्य यह निकला कि उसने तालाब में स्नान नहीं किया, वरन् सुरति के कारण उपर्युक्त शारीरिक चिह्न उसे प्राप्त हुए। इससे दूसरा व्यंग्य यह प्राप्त होता है कि एक ही अधर की ललाई मिटी है (ऊपरवाले की नहीं), जिससे अधर-पान का भाव दृढ़ होता है। कज्जल की निकाई मात्र मिटी है, पूरा कज्जल नहीं। यह स्नान के प्रतिकूल बात है। यदि स्नान के कारण रोएँ खड़े हुए होते, तो कुछ दूर चलने पर गरमी के कारण ठीक हो जाते। अतएव सात्त्विक भाव का रोमांच प्राप्त है। यह छंद संस्कृत के एक छंद पर आधारित है। उस पर मम्मट, विश्वनाथ, इन दोनों के टीकाकारों, पंडितराज, अप्पय्य दीक्षित आदि अनेकानेक आचार्यों के मत प्राप्त हैं। जो व्यंग्य पृथक् कारणों पर आधारित किए गए हैं, उन्हें

द्वितीय व्यंग्य भी मान सकते हैं, और पहले के समर्थक होने से पहले व्यग्य के अंतर्गत भी। दूती को झूठा तथा नायक को पापी बतलाने से नायिका का क्रोध व्यंजित होता है, जिससे उसका अन्य सुरति-दुःखिता होना प्राप्त है। दूसरा उदाहरण दिया जाता है—

निश्चल व्यसनी पत्र पर उत बलाक यहि भाँति,
मरकत - भाजन पै मनौ अमल सख्न सुभ काँति।

(दास)

यहाँ पहला व्यंग्य है स्थान की शून्यता, तथा दूसरा है वहाँ चलकर सुरति-प्रार्थना।

व्यंग्य-प्रकाशन में कभी अर्थ को शब्द की सहायता मिलती है, और कभी शब्द को अर्थ की, परतु जो मुख्य हो, उसी को मानना चाहिए। जैसे ऊपर के चंदन-पंकवाले उदाहरण में पापी शब्द से व्यंग्य को कुछ सहायता अवश्य मिलती है, किंतु मुख्यता अर्थ ही की है, अतः उसे आर्थी व्यंजना ही मानना चाहिए। यह मत साहित्य-दर्पणकार विश्वनाथ का है।

प्रानप्रियाहि समीप लहि कह्यो पुजारिहिं टेर—
पूजन आजु कराइए पूरन सत बिधि हेरि।

(मिश्रबंधु)

पुजारी से यह कहना कि आज पूर्णता के साथ पूजन कराइए, यह व्यजित करता है कि देर तक पूजा करनी है। यह अभिधामूला आर्थी व्यग्य है। पुजारी से पुकारकर कहने में प्राणप्रिया पर सविलंब पूजनेच्छा प्रकट करना भी अभिधामूला आर्थी व्यंजना से प्राप्त है। प्रयोजन यह है कि यह इच्छा समझकर वहाँ वह देर तक ठहरे। इन दोनो व्यंग्यों से यह दूसरा व्यंग्य निकलता है कि देर तक प्रिया के दर्शन पूजन के बहाने से हों।

दूसरे कि बात सुनि परति न, ऐसी जहाँ
कोकिल-कपोतन की धुनि सरसाति है;

पूरि रहे जहाँ द्रुम बेलिन सों मिलि,
'मतिराम' अलि-कुलनि अँधेरी अधिकाति है।
नखत-से फूलि रहे फूलन के पुंज, घन
कुंजन मैं होति जहाँ दिन हू मै राति है;
ता बन के बीच कोऊ संग ना सहेली, कहि
कैसे तू अकेली दधि बेचन को जाति है?

(मतिराम)

यहाँ पहली व्यंजना से तो शून्य स्थल प्रकट होता है, तथा दूसरी से सहेट के योग्य स्थान आदि। "तावन . जाति है" से ऐसे कठिन स्थान मे अकेले जाना योग्य नही। भयभीत कराके नायिका से यह कहलाना चाहता है कि "हमको चलकर पहुँचा आओ।"

बेलिन सों लपटाइ रही है तमालन की अवली अति कारी;
कोकिल कूकि कपोतन के कुल केलि करैं अति आनँदवारी।
होहि प्रसन्न, न होहि दुखी, 'मतिराम' प्रबीन सबै नर-नारी;
मंजुल बंजुल-कुंजन के घन पुंज सखी ससुरारि तिहारी।

(मतिराम)

बंजुल=अशोक।

यहाँ पहली व्यंजना से एकांत स्थल प्रकट होता है। सहेट-स्थल आदिवाली जो दूसरी व्यंजना है, वह इस व्यंग्य से निकलती है। "प्रबीन सबै नर-नारी" ऐसा पद भी आ गया है, जिससे वही भाव व्यंजना का शब्द द्वारा भी निकल आता है। पूरे छंद में वाच्य से एक व्यंग्य निकलता है, और फिर व्यंग्य से व्यंग्य भी आ जाता है।

पाठकों को यह ध्यान कर लेना चाहिए कि वाच्यसंभवा आर्थी व्यंजना में वाच्यार्थ से केवल एक व्यंग्य निकलती है। इसी प्रकार लक्ष्यसंभवा आर्थी व्यंजना मे भी एक ही व्यंग्य निकलती है। परंतु व्यंग्यसंभवा आर्थी व्यंजना में प्रथम वाच्यार्थ या लक्ष्यार्थ से एक

व्यंग्य निकल चुकने के अनंतर एक व्यंग्य पुन. निकलती है । अर्थात् व्यंग्यसंभवा में उपयुक्त दोनो भेदों से एक व्यंग्य (प्रथम व्यंग्य के पीछे) और अधिक निकलती है, यह भेद हुआ ।

तात्पर्य

मीमासक एक और वृत्ति मानते हैं। उसका नाम तात्पर्य वृत्ति है। मम्मट के काव्य-प्रकाश के टीकाकारो मे इस वृत्ति को उनको मान्य या अमान्य होने के विषय मे मतभेद है । किसी-किसी का मत है कि उन्होने तात्पर्य वृत्ति को माना नही , केवल उसका उल्लेख-मात्र कर दिया है। दूसरो का मत है कि वे इस वृत्ति को मानते थे। तीसरे कहते हैं कि उन्होने अपना मत इसके विषय मे लिखा ही नही कि यह वृत्ति उनको मान्य थी अथवा अमान्य ।

तात्पर्याख्यावृत्ति—पदों के पृथक्-पृथक् अर्थों को वाक्य में आए हुए पदों के साथ सबंध बोध करानेवाली वृत्ति होती है* ।

इन मीमासकों के दो मत हैं—

(१) **अन्विताभिधानवादी**—कहते हैं कि पदो का अर्थ पृथक्-पृथक् नहीं ज्ञात होता , प्रत्युत उनका अन्वयित अर्थ ही ज्ञात होता है। अतः तात्पर्य वृत्ति मानने की आवश्यकता नहीं है। यह गुरु-मत या प्रभाकर-मत क नाम से प्रसिद्ध है।

जैसे किसी ने कहा—"गाय ले आओ", और उसका नौकर गाय ले आया। अब उसने पुनः कहा—"गाय को बाँध दो।" किसी ने उस गाय को बॉध भी दिया। अब वह पुनः आज्ञा देता है कि "घोड़े को ले आओ", मनुष्य इस आज्ञा का भी पालन करता है। चौथी बार उसने कहा—"घोड़े को भी बाँध दो," इस आज्ञा का भी पालन

* तात्पर्याख्यां वृत्तिमाहुः पदार्थान्वयबोधने ; तात्पर्यार्थं तदर्थं च वाक्यं तद्बोधकं परे । (साहित्य-दर्पण) ।

किया जाता है। यहाँ सुननेवाले बालक को व्यतिरेकादि द्वारा 'लाओ", "घोड़ा", "गाय" और "बाँधो" शब्दो का अर्थ अन्वयित* अर्थ के साथ ही ज्ञात हुआ। अतः इन्ही कारणो से वे तात्पर्य वृत्ति को स्वीकार नहीं करते।

(२) अभिहितान्वयवादी—मीमासक कहते हैं कि अभिधा शक्ति से पदों का पृथक्-पृथक् अर्थ ज्ञात हो जाने पर उन भिन्न-भिन्न अर्थों को परस्पर संबंधित करके वाक्यार्थ के रूप में उपस्थित करनेवाली तात्पर्य वृत्ति है। यह कुमारिल भट्ट का "भाट्ट मत" कहा जाता है।

इनका मत है कि अविधा, लक्षणा या व्यंजना शक्ति से शब्दों का अलग-अलग ही अर्थ ज्ञात हो सकता है, अत' वाक्य में आए भिन्न-भिन्न अर्थो का सामूहिक अन्वय-ज्ञान किसी अन्य ही वृत्ति से मानना चाहिए। इसका ज्ञान कराने के लिये वे तात्पर्य वृत्ति स्वीकार करते हैं।

इसके अर्थ को वे तात्पर्यार्थ और वाक्य को तात्पर्यबोधक मानते हैं। यह वाक्य मे आए पदार्थों का परस्पर संबंध शब्दों की आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि से ज्ञात होता है। जब यह संबध ज्ञात हो जाता है, तब इससे एक विशेषार्थ बोध होता है। यही तात्पर्यार्थ है। इसको आलंकारिक वस्तुतः स्वीकार नहीं करते।

वाक्य—आकाक्षा, योग्यता और सन्निधि से युक्त पदों का समूह है।

आकांक्षा†—पद को अन्य शब्द की जिज्ञासा बनी रहने को कहते हैं।

***अन्वय**—पदों की परस्पर आकाक्षा-संबंधी योग्यता, परस्पर संबंध।

† **आकांक्षा**—पदस्य पदान्तरव्यतिरेकप्रयुक्तान्वयाननुभावकत्वम्।

यदि कोई मनुष्य "घोड़ा" शब्द कहे, तो इसका कोई संबधित अर्थ न निकल सकने के कारण इस घोड़े शब्द की आकाक्षा बनी रहती है। परंतु यदि इसके आगे "आया" और कह दे, तो आकाक्षा की पूर्ति हो जायगी।

योग्यता*—पदो के परस्पर संबंध मे बाधा न उपस्थित होना है।

जैसे कोई कहे कि "हम रोटी पीवेगे", तो यहॉ रोटी और पीने के अर्थों मे परस्पर सबंध मे बाधा उपस्थित होती है, क्योकि रोटी पी नही, खाई जाती है। किंतु यदि कोई कहे "मै पानी पीऊॅगा", तो पानी पीने का ही पदार्थ होने से संबंध में बाधा पड़ने की संभावना नही है। यदि रोटी के विषय मे खाना क्रिया कही जाय, तो वहॉं भी रोटी मे खाए जाने की योग्यता होने के कारण कुछ गड़बड़ न पड़ेगी।

सन्निधि†—एक पद के पीछे दूसरे के उच्चारण मे अधिक समय का न लगना सन्निधि है।

यदि वाक्य का एक शब्द अभी कहा जाय, और दूसरा दो घंटे बाद, तो उस वाक्य का कोई अर्थ नही हो सकता। इस कारण एक वाक्य में एक पद के पीछे ही दूसरे पद का उच्चारण होना भी आवश्यक है।

व्यंजना की मान्यता

व्यंजना-वृत्ति मानी जाय या नही, इस विषय पर भी आचार्यों में कुछ मतभेद है।

अभिहितान्वयवादी—कहते हैं, यह तात्पर्य वृत्ति से भिन्न कुछ भी नहीं।

---

* **योग्यता**—पदाना परस्परसम्बन्धबाधाभावः।

† **सन्निधि**—पदानामविलम्बेन उच्चारणम्।

किसी वृत्ति के विरत हो जाने पर फिर उससे कोई काम नहीं लिया जा सकता। अतएव अर्थ समझने के बाद इन लोगों की मानी हुई तात्पर्य वृत्ति व्यंजना का काम नहीं दे सकती, इन लोगो के मत विश्वनाथ के साहित्यदर्पण मे उद्धृत हैं, वहीं से यहाँ लिए गए हैं। यदि कहा जाय कि वह दूसरी बार काम कर सकती है, तो अभिधा वृत्ति से काम न चल सकने पर ये ही लोग लक्षणा क्यो मानते हैं, अथच अभिधा से ही दूसरा अर्थ भी क्यो नही मान लेते ? गंगावासी से जब गंगातट-वासी लक्षणा से मानते हैं, तब लक्षणा द्वारा प्रयोजन न बनने पर व्यंजना भी माननी पड़ेगी, क्योंकि उससे तो भाव मूल शब्दो से प्रायः इतनी दूर चले जाते हैं, जितने लक्षणावाले जाते ही नही।

अन्विताभिधानवादी—समझते हैं, काव्य आनंदानुभव के लिये पढा जाता है, अत॰ इसमे शब्दो का तात्पर्य आनंदानुभव ही है। जब आनंद उन्ही शब्दो से निकलता है, तब वह उनहीं का शब्दार्थ हुआ, जिससे व्यंग्य का पृथक् अस्तित्व अमान्य है।

यहाँ प्रश्न यह उठता है कि तात्पर्य से प्रयोजन (१) शब्दो से निकलते हुए अर्थ का है, या (२) तात्पर्य-नाम्नी वृत्ति से उसका निकलना ?

यदि पहला विचार माना जाय, तो व्यंजना-वृत्ति के माननेवालों से भी कोई विरोध नहीं पड़ता, क्योंकि अर्थों का निकलना दोनो पक्ष जब मानते ही हैं, तब यदि व्यंजनावादियो ने अर्थ-प्राप्ति के विधान में आगे बढ़कर एक वृत्ति का भी सहारा ले लिया, तो कोई वास्तविक विरोध न हुआ।

यदि द्वितीय प्रयोजन तात्पर्य वृत्ति का माना जाय, तो जो तर्क तात्पर्य को संबंध-बोधक वृत्ति माननेवाले अभिहितान्वयवादियो के प्रतिकूल किया गया है, वही यहाँ भी आरोपित हो जाता है, अर्थात् तात्पर्य वृत्ति से वाक्यार्थ का सबंध-मात्र बोधित हो सकता है, और पीछे विरत होकर वह कोई काम नही चला सकती।

यदि कोई अन्य—भिन्न वृत्ति का प्रयोजन तात्पर्य से माना जाय, तो व्यजना ही के मानने मे क्या दोष है, क्योंकि ऐसी दशा में केवल नाम का अतर रह जायगा।

इन बातों के अतिरिक्त रस की उत्पत्ति यदि तात्पर्य से माने, तो भी काम नहीं चलता। भरत मुनि ने रस की निष्पत्ति उचित ही स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव तथा सचारियो से मानी है, जिससे रस उनका कार्य हुआ, तथा वे रस के हेतु हैं। अब यदि तात्पर्य द्वारा इन भावों तथा रस की उत्पत्ति साथ ही मानी जाय, तो यह विचार अतर्क्य ठहरेगा। पहले हेतु होता है, और तब फल। इन दोनो की साथ ही उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती, जिससे विभावादि कारणो को पहले मानकर तब तर्क-शास्त्र के अनुसार रस माना जा सकेगा। यहाँ रस का विषय नही उठाया गया है, वरन् यह वर्णन केवल तर्कात्मक है। अत. व्यंजना का मानना आवश्यक हो गया।

लक्षणा का प्रयोजन स्वय उससे बोधित न होकर व्यंजना से होता है। यथा "हम गगावासी हैं" कहने में गंगा के भीतर बसना जब प्रवाह के कारण संभव नहीं, तब मुख्य अर्थ का बाध होकर उसी के योग से गंगा-तट-वासी का अर्थ निकलता है, तथा अर्थ को इसके पीछे कोई आकाक्षा नहीं रह जाती। अतएव शीतत्व और पवित्रता का दूसरा भाव लक्षणा से नहीं निकल सकता। यदि इसे भी लक्ष्यार्थ मानना चाहें, तो गगा तट वाच्यार्थ मानना पडेगा। ऐसी दशा में भी मुख्यार्थ के बाध का कोई कारण प्रस्तुत नहीं, अथच तट के वाच्यार्थ शीतत्व एवं पावनत्व का योग भी नही किया जा सकता, क्योकि किनारा चार-पॉच मील दूरी तक माना जा सकता है, जिसमें हर जगह शीतलता आदि गुण नही होते। अत. वाच्यार्थ तट का योग भी प्रयोजन में नही माना जा सकता। जब और योग आते ही नहीं, जो लक्षणा के लिये आवश्यक हैं, तब प्रयोजन रूप लक्ष्यार्थ भी अप्राप्त रहेगा। अतः

फल यह निकलता है कि प्रयोजन व्यंग्य का ही विषय है, लक्ष्य का नहीं।

यहाँ तक जो विचार इस विषय पर लिखे गए हैं, वे विशेषतया मम्मट और विश्वनाथ तथा उन दोनो के टीकाकारो के कथनो पर आधारित हैं। अब पडितराज का मूल आधार लेकर वाच्यसंभवा शाब्दी व्यंजना पर कथन किए जाते हैं।

(१) इसमे पहला मत साहित्यिको का लिखा जाता है। अनेकार्थ-वाची शब्दो के सब या अनेक अर्थ पहले विज्ञ श्रोताओ के सामने उपस्थित होते हैं, और पीछे से प्रकरणादि की सहायता से एक अर्थ रहकर शेषार्थों का बाध हो जाता है। अनंतर अन्य अर्थ व्यंजना की सहायता से निकलते हैं। पूर्वोद्धृत सोनारीवाले सेनापति के छंद में दोनो अर्थ पाठको की बुद्धि में पहले आते हैं, और पीछे वक्ता को सोनारी तथा बोधव्य को ज़ेवर बनवानेवाला मानने से केवल एक अर्थ रहकर दूसरे का बाध हो जाता है।

अनतर वह दूसरा अर्थ व्यंग्य द्वारा प्राप्त होता है। यदि कहा जाय कि सयोगादि की सहायता से दूसरा अर्थ जब दब चुका, तब व्यंग्य मे वह कैसे निकलेगा, तो उत्तर यह है कि स्योगादि का सबंध एकार्थ नियत करने के लिये केवल वाच्यार्थ से है, न कि व्यंग्यार्थ में।

(२) दूसरे मतवालों का कहना है कि संयोगादिकों द्वारा केवल इतना निर्णय होता है कि वक्ता का अभिप्राय किस अर्थ में है, इसमें दूसरे अर्थ की रुकावट नहीं होती। पीछे उनमें व्यंजना द्वारा दूसरे अर्थ के निकालने में तीन मत हैं—

(अ) दूसरे अर्थ के जानने में पहला (अर्थ) क्रिया-रूप से काम देता है। मतलब यह कि पहला अर्थ दूसरे का साधन-रूप होता है।

(आ) दूसरा अर्थ भी अभिधा द्वारा प्राप्त प्रथमार्थ ज्ञान के पद-ज्ञान से व्यजना द्वारा आता है।

(इ) दूसरी बार छंद पढ़ने से पद-ज्ञान से ही दूसरा अर्थ व्यंजना द्वारा निकलता है। इन तीनो मतों में अंतर बहुत थोड़ा देख पड़ता है।

(३) तीसरे मतवाले उपर्युक्त दोनो मतों का खडन करते हैं। वे कहते है, संयोगादि से एक अर्थ के दृढ़ हो जाने पर भी दूसरे का वास्तविक बाध न होकर वह अभिधा से हो निकलता है, न कि व्यंजना से। इस संबध में पंडितराज निम्नाकित उदाहरण देते हैं—

अबलाना श्रियं हृत्वा वारिवाहै सहानिशम् ;
तिष्ठन्ति चपला यत्र स काल· समुपस्थित.।

"अबलानां (कामिनियो या निर्बलों का) श्रीहरण करके चपलाएँ जब रात-दिन वारिवाहको के साथ रहती हैं, वह समय आ गया है।"

यहाँ अबलाना, वारिवाहक और चपला योगरूढ़ि शब्द हैं, अत· इनका सीधा अर्थ कामिनी, मेघ और बिजली है, जिससे अर्थ हुआ कि कामिनियों की प्रभा का नाश करके बिजलियाँ जब बादलों मे चमका करती हैं, वह समय आ गया है।

यहाँ तात्पर्य से कोई अर्थ तो रोकना पड़ता नहीं, अत· दूसरा अर्थ अभिधा द्वारा नहीं निकल सकता, जिससे वह व्यंग्य द्वारा निकला हुआ ही मानना पड़ेगा। वह अर्थ यह कि "कमजोरों का श्री-हरण करके चपलाएँ (कामिनियाँ) जब वारिवाहकों (पानी ढोनेवालो) से प्रीति करती हैं, वह समय आ गया है।" इस स्थान पर दूसरा अर्थ अभिधा से नहीं निकलता, क्योंकि रूढ़िवाला अर्थ करीब-करीब वाच्यार्थ ही-सा निकलता है। जब एक स्थान पर व्यंग्य मानना ही पड़ता है, तब इतर

स्थानों में भी मानने में दोष नहीं। व्यंजना का विषय इसी स्थान पर समाप्त होता है।

ध्वनि का विषय इसी से मिलता जुलता है, किंतु भाव, रस और अलंकार बिना जाने उसका पूरा ज्ञान नहीं हो सकता। इसीलिये ध्वनि का विषय दूसरे खंड में, भाव तथा रस कह चुकने पर, लिखा जायगा।

अलंकार

पहले कहा जा चुका है, साहित्य-शरीर के लिये अलकार भूषण-स्वरूप है। उत्तम काव्य ध्वनि मूलक (व्यग्य-प्रधान) कहलाता है, और मध्यम गुणीभूत व्यग्य-युक्त। जहाँ व्यंग्य की प्रधानता नही होती, अर्थात् वह अप्रधान रूप से रहता है, वहाँ गुणीभूत व्यंग्य माना जाता है।

अल कार का विषय भाषा के सौदर्य पर आधारित है। उससे भाव को सहायता मिल सकती है, किंतु मुख्यता भाषा के ही रजन की है।

विशेष—कुछ अल कार ऐसे भी हैं, जो वस्तुत. गुणीभूत व्यग्य होने के कारण मध्यम काव्य मे आते हैं, पर साहित्य-शरीर के सौदर्य-वर्धक भी होने से अलंकारों के बीच भी गिने जाते हैं।

अलंकार—जिससे शब्द या वाच्यार्थ की शोभा बढ़े, उसे अलकार कहते हैं।

इसके दो भेद हैं—(१) अर्थालकार और (२) शब्दालंकार। कहीं-कहा एक ही अलकार में शब्द और अर्थ, दोनो का रजन होता है। वहाँ मिश्रालकार कहे जा सकते हैं।

धारेश्वर भोजराज ने तीनो प्रकार के चौबीस-चौबीस अलकार माने

हैं। पीछे से समय के साथ अलंकारों की संख्या बढ़ती गई। हमने वर्तमान पद्धति पर चलकर ही यह वर्णन किया है। मुख्यता केवल अर्थालंकारों तथा शब्दालंकारों की है, किंतु वर्णन-पूर्णता के विचार से मिश्रालंकार भी लिख दिए गए हैं। अर्थालंकार अब संख्या में इतर दोनो से बहुत अधिक हैं, और उन्हीं के साथ हम इस गहन विषय को उठाते हैं।

अर्थालंकार—जहाँ अर्थ विचारने पर रमणीयता मिले, वहाँ अर्थालंकार होगा।

शब्दालंकार—जिस वर्णन में श्रवण-मात्र से रमणीयता प्राप्त हो, वहाँ शब्दालंकार समझा जाता है। ऐसा हमारा मत है।

मिश्रालंकार—में दोनो प्रकार के या एक ही भाँति के एकाधिक अलंकार मिले रहते हैं।

शब्दालंकार किसे मानें, और अर्थालंकार किन्हें, इस विषय पर कुछ मतभेद संभव है। कुछ आचार्य श्लेष को शब्दालंकार मानते हैं, यद्यपि उसमें अर्थ का ख़ासा विचार है। जो अलंकार हमने शब्दालंकारों में कहे हैं, उनमें भी कुछ में अर्थ का विचार आ जाता है, जैसे वृत्त्यनुप्रास, यमक, पुनरुक्तवदाभास आदि में। पूर्णरूपेण शब्दालंकार केवल छेकानुप्रास रह जाता है। उसमें भी यदि बिना अर्थ का चमत्कार लाए हुए कोई केवल छेकानुप्रास का प्रयोग करे, तो सौंदर्य का अभाव-सा हो जायगा।

वीप्सा में भी बिना अर्थ-चमत्कार के काव्य का आरोपण ही कठिन हो जायगा। जैसे "वह बार-बार आता है" में वीप्सालंकार तो है, किंतु कोई रमणीयता न होने से काव्य नहीं। जब वीप्सा के साथ रमणीय कथन भी होंगे, तभी अलंकार की शोभा है।

इन कारणो से यह विचार उठ सकता है कि शुद्ध शब्दालकार कोई है ही नहीं। फिर भी आचार्यों ने इसका अस्तित्व माना है। इस विषय पर हम अपने विचार यथास्थान फिर भी प्रकट करेंगे।

अलंकारो के वर्गीकरण का भी प्रयास किया गया है, और हमने भी इस पर श्रम किया था, किंतु यह ठीक बैठता नही, क्योकि एक ही अलकार के विविध भेद और कही-कहीं वही अलंकार पृथक् वर्गों में पड़ने लगते हैं। अतएव यह विषय हम ग्रथ में सन्निविष्ट नही करते। अब विविध अलंकारो का वर्णन अर्थालकारो के साथ उठाया जाता है।

अर्थालंकार

उपमा (१)

उपमान—उसे कहते हैं, जिससे बराबरी की जाय। जैसे—"भगवान् का मुख चद्र-सा सुंदर है।"

उपमेय—जिसकी बराबरी हो, उसे उपमेय कहेगे।

वाचक—जिस शब्द से बराबरी प्रकट की जाय, उसे वाचक कहते हैं।

साधारण धर्म—जिस गुण आदि को लेकर उपमेय-उपमान की बराबरी की जाती है, उसे धर्म कहते हैं।

उदाहरण में भगवान् का मुख उपमेय एवं चंद्र उपमान है, और इन दोनो में अनुगमन करनेवाला सुंदरता-रूप साधारण धर्म लिखा गया है, तथा 'से' पद उपमा का वाचक है।

उपमान और उपमेय के पर्यायवाची शब्द— उपमान को अप्रस्तुत, अप्रकृत, विषयी और अवर्ण्य भी कहते हैं। उपमेय को विषय, प्रकृत, प्रस्तुत और वर्ण्य भी कहा जाता है।

उपमा—उपमान और उपमेय के साधारण धर्म-सबंध में शोभा होने पर उपमालंकार होता है।
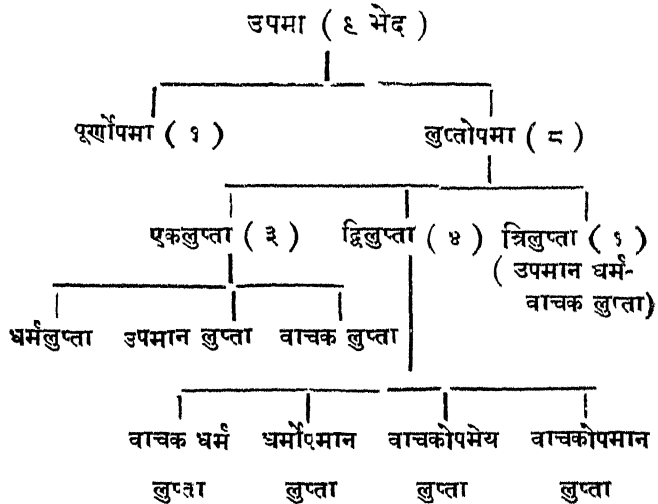
सूचना—उपमा के इन भेदों को हमने स्वीकार किया है, परंतु अन्यों ने पूर्णोपमा, धर्मलुप्ता तथा उपमान लुप्ता में श्रौती और आर्थी के दो-दो और भेद माने हैं। त्रिलुप्ता में केवल एक भेद उपमानधर्मवाचकलुप्ता होता है। उपमा के कुछ अन्य भेद भी

आचार्यों ने माने है, उनका चक्र नीचे दिया जाता है। उपमा के दो मुख्य भेद है —(१) पूर्णोपमा तथा (२) लुप्तोपमा।
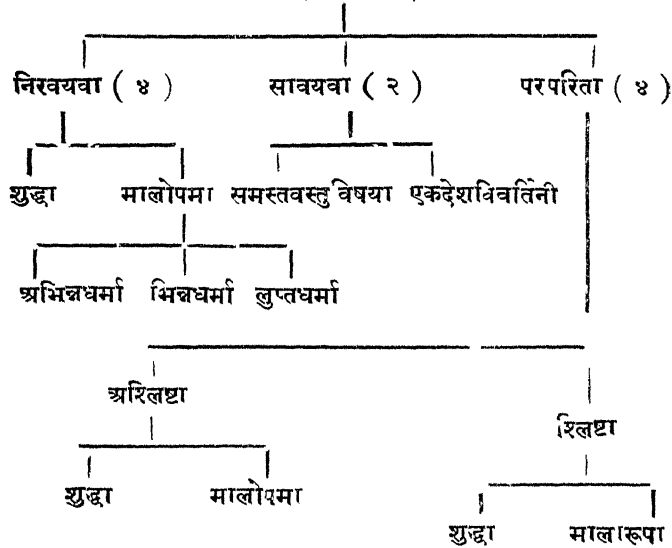
(१) **पूर्णोपमा**—जहाँ उपमा के चारों अंग पृथक् शब्दों द्वारा कथित हों, वहाँ पूर्णोपमा होगी। यथा —

> आलस वलित कोरैं काजर-कलित 'मति-
> राम' वै ललित अति पानिप धरत हैं,
> सारस सरस सोहैं सजल सहास सग-
> रब सविलास ह्वै मृगनि निदरत है।
> बरुनी सघन बंक तीछन कटाच्छ बडे,
> लोचन रसाल उर पीर ही करत है;

गाढ़े ह्वै गड़े हैं, न निसारे निसरत मैन-
बान-से बिसारे न बिसारे बिसरत हैं।
(मतिराम)

नेत्र मैन-बाण-से बिसारे (विष युक्त) हैं, इसमें उपमा के चारों अंग प्राप्त हैं।

वाको बदन मयंक-सो अति ही सुखद लखात;
हरि के नैन चकोर लौं जेहि देखत न अघात।
(बैरीसाल)

यहाँ दो बार पूर्णोपमा है। "बदन मयक-सो सुखद" तथा "नैन चकोर लौ न अघात", ये ही दोनो पूर्णोपमाएँ हैं।

कटु औषध-सा स्वार्थ-त्याग भी कुछ अवश्य दुखदाता है,
पर इसके बिन देश देह-सम कभी नहीं सुख पाता है।
(मिश्रबंधु)

यहाँ भी पूर्णोपमा है।

साजि चतुरंग बीर रंग मैं तुरंग चढ़ि,
सरजा सिवाजी जंग जीतन चलत हैं;
'भूषन' भनत नाद विहद नगारन के,
नदी नद मद गब्बरन के रलत हैं।
ऐल फैल खैल भैल खलक मैं गैल-गैल,
गजन की ठेल पेल सैल उसलत हैं;
तारा सो तरनि धूरि धारा मैं लगत जिमि,
थारा पर पारा पारावार यों हलत हैं।
(भूषण)

निकसत म्यान ते मयूखैं प्रलै - भानु कैसी,
फारै तम - तोम - से गयंदन के जाल को;

लागति लपटि कंठ बैरिन के नागिनि-सी,
रुद्रहि रिझावै दै-दै मुंडन की माल को।
लाल छितिपाल छत्रसाल महा बाहुबली,
कहाँ लौं बखान करौं तेरी करवाल को,
प्रतिभट सुभट कटीले केते काटि-काटे,
कालिका-सी किलकि कलेऊ देति काल को।
(भूषण)

उलदत मद अनुमद ज्यों जलधि-जल,
बलहद भीमकद काहू के न आह के,
प्रबल प्रचंड गंड मंडित मधुप-बृंद,
बिंध्य-से बुलंद सिंध सातऊ के थाह के।
'भूषन' भनत झूल झंपित झपान झुकि,
झूमत झुलत झहरात रथ डाह के,
मेघ-से घमंडित मजेजदार तेज-पुंज,
गुंजरत कुंजर कुमाऊँ-नरनाह के।
(भूषण)

एकै एक सरस अनेक जे निहारे तन,
भारे लाज भारे स्वामि काम प्रतिपाल के,
चंग लौं उड़ाई जिन दिल्ली की वजीर भीर,
पारे बहु मीरन किए हैं बे हवाल के।
सिंह बदनेस के सपूत श्रीसुजानसिंह,
सिंह लौं झपटि नख दीन्हे करवाल के;
वेई पठनेटे सेल-साँगनि खखेटे भूरि
धूरि सों लपेटे लेटे भेटे महाकाल के।
(सूदन)

हारे देखि हाडा मन मारे कमधुज-बस ,
कूरम पसारे पायँ सुनत नगारे के ;
केते पुर जारे, केते नृपति सँघारे तेई ,
जोरि दल भारे ब्रजभूमि पै हँकारे के।
रारे मधुसूदन सवाँरे बदनेस प्यारे ,
ब्रज रखवारे निज बंस अवधारे के ,
होत ललकारे सूर सूरज प्रताप भारे ,
तारे-से छिपैगे सब सुभट सितारे के।

(सूदन)

कमधुज = कबधज, राठौर। कहते है, कन्नौजपति जयचंद का कबंध युद्ध में उठा था। इसी से उनके वशधर कबधज कहलाते हैं।

अवधारे = निश्चय-पूर्वक तय करने मे। रारे = लड़ाई में। बदनेस प्यारे = सूरजमल महाराज बदनसिंह के पुत्र जाट थे, जिनके वशधर भरतपुर-नरेश अब भी है।

कवियो ने पूर्णोपमा के दो भेद माने हैं—(१) श्रौती और (२) आर्थी। (लुप्तोपमा के भेदो मे भी जहा पर वाचक उक्त होता है, वहाँ भी ये भेद प्राय माने जा सकते है।)

श्रौती—मे ऐसे वाचक लाए जाते है, जिनसे उपमेय और उपमान मे धर्म की तुल्यता प्रथमत. बोधित हो, अर्थात् उनमें साधर्म्य वाच्य हो (दोनो मे धर्म का एक-सा होना सीधे प्रकार से प्रकट हो।)

श्रौती उपमा वाचक—लो, यथा, इव, वा, जिमि, सी, सो, से आदि ऐसे ही वाचक हैं। इनमे प्रकट होता है कि धर्म मे उपमेय और उपमान एक-से हैं। यथा—

"ससि-सो उज्ज्वल तिय-बदन, पल्लव-से मृदु पानि।"

यहाँ सो अथच से शब्दों की सामर्थ्य से उपमेयों में साक्षात् सीधे धर्मों के संबंध ही का ज्ञान उपमानों से होता है। यही मत साहित्यदर्पण का भी है।

आर्थी उपमा—में पहले स्वयं उपमान और उपमेय की समानता पाई जाती है, और पीछे उनमें धर्म की एकता अर्थ-बल से निकलती है।

आर्थी उपमा के वाचक—तुल्य, समान, सम, सरिस आदि शब्द हैं। यथा—

"सारद हरि हीरा-सरिस जस उज्ज्वल हिय आनि।"

यहाँ सरिस के कारण यश का शारद आदि से पहले समानता का विचार उठता है, और तब उज्ज्वलता धर्म का।

ये दो भेद संस्कृत के आचार्यों तथा कुछ हिंदीवालों ने भी लिखे हैं, सबने नहीं। यहाँ इतना भारी भेद नहीं दिखाई देता कि दो भेदांतर स्थापित किए जायें। यह चमत्कार केवल भिन्न प्रकार के उदाहरण (उदाहरणांतर) मात्र कहे जा सकते हैं।

उपमा के अन्य भेद—इसी भाँति बिंबप्रतिबिंब-भावापन्न धर्मोपमा, निरवयवोपमा, सावयवोपमा, समस्तवस्तुविषयोपमा, एकदेशविवर्त्युपमा, परंपरितोपमा, वैधर्म्योपमा आदि के वर्णन आचार्यों ने किए हैं, किंतु इन्हें भी अलग भेद न मानकर उदाहरणांतर कह सकते हैं। इनके विशेष कथन रूपकादि में आवेंगे।

उपमादि के लक्षण ऊपर आ गए हैं, किंतु याद रखने के लिये समझने भर को दूलह का छंद नीचे लिखा जाता है, जिसमें लक्षण तो नहीं हैं, किंतु समझाने तथा याद दिलाने का मसाला अच्छा है—

बाचक धरम उपमेय उपमान, कान्ह
काम-से रुचिर तहाँ उपमा बखानिए ;
एक, दोय, तीन लुपैं लुपतोपमा है आठ,
तिनको उदाहरण ही सों पहिचानिए।
आनन-सो आनन अनन्वै कज-से हैं नैन ,
नैन - से हैं कज उपमेयोपमा मानिए ,
जानिबे के हेत कबि 'दूलह' सुगम कियो ,
नाम लच्छय लच्छन कबित्त ही सों जानिए ।
(दूलह)

(२) लुप्तोपमा—उपर्युक्त चारो मे से उपमा मे जहाँ एक से तीन तक अंगों का लोप हो, वहाँ लुप्तोपमा होती है ।

पद्माकर तथा बेनीसाल ने चौथे अग का भी लोप मानकर एक भेद पूर्णलुप्तोपमा भी कहा, जो अन्य आचार्यों ने नही लिखा । कुवलयानंद चंद्रालोक में आठ लुप्ताओं के कथन हैं, जिन्हे दूलह ने भी लिया है ।

१—धर्मलुप्ता—

"बदन सुधानिधि सो लखौ ।"

में उज्ज्वलता धर्म का लोप है ।

बदन चंद्र - सों तरुनि को और सुधा से बैन ;
चंद्रक - सी हाँसी लखौ, इंदीवर - से नैन ।
(चिंतामणि)

२—उपमान लुप्ता—

"सुंदर नंदकिसोर-सो हौ न निहारयौ आन ।"
(ब्रह्मदत्त)

संस्कृत और हिंदी के कुछ आचार्यों ने ऐसे कथन में उपमान लुप्ता माना है, किंतु इसे असम या अतिशयोक्ति भी कहा जा सकता है।

असम (अतिशयोक्ति) और उपमा का विषय-पृथक्करण—जब यह मान लिया जाय कि उसने तो नहीं देखा, किंतु है कोई अवश्य, तब उपमान लुप्ता हो सकेगी, किंतु जब यह अभिप्राय लिया जायगा कि ऐसा सुंदर कोई है ही नहीं, तब असम (या अतिशयोक्ति) हो जायगी।

असम अलंकार—उसे कहते हैं, जहाँ किसी उपमेय के योग्य उपमान का पूर्ण अभाव हो। यथा—

"सुंदर नंदकिसोर-सो है न जगत में आन।"

(कस्यचित्कवेः)

अन्यनच्च—

चिंतामनि-मनु ! जगत मैं ढूँढि फिर्यो चहुँ ओर ;
वा सम मानस मोहनी कौनि तरुनि सिरमौर ?

(चिंतामणि)

सूचना—इसी प्रकार अन्य स्थानों पर भी किंचित पृथक्ता होने पर हमने पृथक् अलंकारता स्वीकार नहीं की है, परंतु पाठकों के ज्ञानार्थ उस अलंकार का वर्णन-मात्र कहीं पर कर दिया है। यदि वक्ता गंभीर है, तो "मैंने नहीं देखा" ऐसा कहेगा, अन्यथा "सर्वथा है ही नहीं" इस प्रकार कहेगा, बस, यही परस्पर भेद है, तात्पर्य दोनो कथनों का एक ही है। इसी कारण हमने इसको पृथक् अलंकार माना ही नहीं।

उपमान लुप्ता का द्वितीय प्रकार का उदाहरण यथा—

"कोकिल-से, बचन मधुर जाके सुखदानि।"

(दूलह)

में उपमान लुप्ता स्पष्ट है, क्योंकि कोकिल न होकर उसके वचन उपमान है, जिनका कथन नहीं है।

३—वाचक लुप्ता—

"प्रीति सों न पगै तिन्हैं कुलिस-कठोर जानि,
प्रेम परतीति तै पतीजत है पाहनो।"
(कुलपति मिश्र)

में तिन्हें कुलिश (के समान) -कठोर जानो का प्रयोजन है, किंतु यहाँ वाचक प्रकट न होकर ऊह्य (गुप्त) है।

४—वाचक धर्मलुप्ता—

"सजल जलद अभिराम तन तडित ललित पट-पीत,
नदनँदन सखि चंद-मुख लखौ चित्त नवनीत।"
(चिंतामणि)

चंद-मुख और चित्त नवनीत, दोनों में वाचक धर्मलुप्ता है, क्योंकि यहाँ न तो वाचक है न धर्म। पूर्वार्ध में वाचक लुप्ता के दो उदाहरण हैं।

वाचक लुप्ता तथा रूपक में भेद—वाचक लुप्ता तथा अभेद रूपक में यह भेद है कि जहाँ वर्णन में उपमेय की विशेषता हो, वहाँ उपमा तथा उपमान की विशेषता होने से रूपक होता है, ऐसा मत साहित्यदर्पणकार का है।

इस पूरे दोहे में उपमेय (रूप) की मुख्यता है, उपमानों की नहीं। इसी से उपमा है। रूपक में उपमेय अपना (रूप) छोड़कर उपमान का रूप धारण करता है, जिससे उसी (उपमान) की मुख्यता हो जाती है, जो वहाँ योग्य भी है।

५—धर्मोपमान लुप्ता—

"हरि नीके लखि लेहु जू हरिनी के-से नैन।"

यहाँ केवल हरिनी का कथन है, उसके नेत्रो का नहीं, यद्यपि उपमान उसके नेत्र ही हैं। नेत्रो की दीर्घतावाला धर्म भी अकथित है। इसी से धर्मोपमान लुप्ता है।

६—वाचकोपमेय लुप्ता—

'उज्ज्वल धूर कपूर कगार अगार तें मुक्ति-नटी जह पैयत;
ताही के बीच बहै सुधा सुद्ध, लखे कलि-दोष छुधा-सी नसैयत।"

(लेखराज)

'कगारो के बीच शुद्ध सुधा बहती है' मे वाचकोपमेय लुप्ता है, क्योकि उपमेय गंगाजी का नाम न लेकर केवल शुद्ध (धर्म) सुधा (उपमान) के कथन द्वारा उपमेय गंगाजी की प्रशसा है।

७—वाचकोपमान लुप्ता—

"दाडिम दसन सोहाहीं।"

इसका अर्थ है दाड़िम (अनार) के (दानो) (से) दाँत शोभित हैं। वाचक (से) और उपमान (अनार के दानो) के अप्रकट होने से यहाँ वाचकोपमान लुप्ता है। यद्यपि दाड़िम से अनार के दानो का बोध होता है, तथापि अलग शब्द द्वारा कथन न होने मे कवियो ने उसका लोप माना है।

८—वाचक धर्मोपमान लुप्ता—

"गजगमनिहि लखि दुरि नंदलाल।"

(बैरीसाल)

हे नंदनदन! छिपकर गजगामिनी नायिका को देखो। यहाँ वाचक, उपमान और धर्म के लिये पृथक्-पृथक् शब्द न होने से उनका लोप माना गया है। ठीक अर्थ यह बैठाया जाता है कि गज गति के समान मस्तानी चाल से चलनेवाली नायिका को देखो।

अब उपमा के कुछ अन्य भेदातर कहे जाते हैं।—

(३) **मालोपमा**—में एक ही उपमेय के एक ही या भिन्न धर्मों से अनेक उपमान होते हैं।

एक धर्म-युक्त मालोपमा। यथा—

इंद्र जिमि जंभ पर, बाडव सु अंभ पर,
रावन सदंभ पर रघुकुलराज है;
पौनबारिबाह पर, संभु रति-नाह पर,
त्यों सहस्रबाहु पर राम द्विजराज है।
दावाद्रुम-दंड पर, चीता मृग-झुंड पर,
'भूषन' बितुंड पर जैसे मृगराज है,
तेज तम-अंस पर, कान्ह जिम कंस पर,
त्यों मलिच्छ-बंस पर सेर सिवराज है।

(भूषण)

यहाँ प्रबल पड़ना धर्म सब उपमानों पर लागू है।

रूप-जाल नँदलाल के परि करि बहुरि छुटै न;
खंजरीट - मृग - मीन - से ब्रज-बनितन के नेन।

(मतिराम)

यहाँ उपमेय नेन के लिये एक धर्म (न छूटने) पर खंजरीट, मृग तथा मीन उपमान हुए हैं।

भिन्न धर्म-युक्त मालोपमा—

जानति सौति अनीति है, जानति सखी सुनीति;
गुरुजन जानत लाज है, प्रीतम जानत प्रीति।

(मतिराम)

जीति अरि लेत नित पारथ-समान तुम,
भीषम-समान पुरुषारथ करत हौ;
करन को दान औ' कृपान मे लजाय देत,
बिदित पिनाकी-सम धनुष धरत हौ।

दीन-प्रतिपाल सिवराज नरपाल-मनि
स्वारथ के हेतु नहि रन में लरत हौ ;
धारि भुज-दंडन पै धरम दुवार आजु
हरि के समान भार भूमि को हरत हौ।

(मिश्रबंधु)

इन उदाहरणों में उपमेय एक ही है, किंतु उपमान कई, जिन सबके संबध में धर्म भिन्न हैं।

(४) रसनोपमा—

में ज़ंजीर के समान उपमा का एक वर्ग (पहले वर्ग का उपमेय अन्य स्थल में उपमान होकर) अन्य उपमा के दूसरे वर्ग से फँसा रहता है।

इसमें उपमा अनेक स्थलों में होती है, और प्रथम स्थल का उपमेय आगे आनेवाले वर्ग में उपमान हो जाता है। यथा—

बंस-सम बखत, बखत-सम ऊँचो मन,
मन-सम कर, कर - सम करी दान के।

(मतिराम)

यहाँ चार वर्ग हैं, जिनमें अलग-अलग चार उपमाएँ हैं, और प्रति पहलीवाली का उपमेय दूसरी में उपमान हो जाता है, यही संबंध है।

तथाहि—

अति प्रसन्न ह्वै कमल सो, कमल मुकुर सो बाम ;
मुकुर चद सो, चंद है तो मुख सो अभिराम।

(दास)

वाच्योपमा, लक्ष्योपमा और व्यंग्योपमा-नामक तीन और भेद कुछ कवियों ने माने हैं। यथा—

(५) वाच्योपमा—

भौह कमान कटाच्छ सर, समर-भूमि बिचले न,
लाज तजे हू दुहुन के सलज सूर-से नैन।

(मतिराम)

यहाँ जो उपमा "सलज सूर-से नैन" में है, वह केवल अभिधा द्वारा सिद्ध होने से वाच्योपमा मानी गई है।

(६) लक्ष्योपमा—

बिधु कैसो बंधु कैधौ चोर हास्यरस ही को,
कुंदन को बादी कैधौ मोतिन को मीत है,
पुत्र कलहंस को के छीरनिधि पृच्छक हैं,
हिमगिरि प्रभा प्रभु प्रगट पुनीत है।
अमल अमित अंग गंग के तरंग सम,
सुधा को समूह रिपु रूप को अभात है,
देस-देस दिसि-दिसि परम प्रकासमान
कैधौ 'केसौदास' रामचंद्रजू को गीत है।

(केशवदास)

यहाँ उपमा के वाचक बंधु, चोर, बादी, मीत, पुत्र, पृच्छक (प्रश्नकर्ता) और रिपु हैं, जिनमें लक्षणा शक्ति द्वारा सिद्ध होने से लक्ष्योपमा हुई।

(७) व्यंग्योपमा—

अद्वितीय निज को समुझि ससि जानि हर्षित होय;
रे सठ, भुवमंडल सकल कहा लियो तैं जोय।

(मुरारिदान)

यहाँ व्यंग्य द्वारा चद्रमा के समान किसी वस्तु का होना प्रकट किया गया है, जो उपमान रूप में है। इसी से व्यंग्योपमा हुई। भाव रस-गंगाधर (पंडितराज कृत) से लिया गया है।

केशवदास, भूषण आदि ने कुछ और भेद भी लिखे हैं, जिनका वर्णन अनावश्यक है, क्योंकि उनमें से अधिकांश इतर अलंकारों में चले जाते हैं। उपमा के पूर्णोपमा और लुप्तोपमा-नामक दो ही भेद हम मानते हैं। शेष भेदांतर दूसरे प्रकार के उदाहरण-मात्र कहे जा सकते हैं, क्योंकि उनमें इन भेदों से पृथक् कोई विशेष चमत्कार नहीं है।

अनन्वय (२)

अनन्वय—सादृश्यांतर व्यवच्छेदार्थ (दूसरी वस्तु से सादृश्य हटाने को) किसी वस्तु की उपमा उसी से दिए जाने में अनन्वयालंकार होता है।

प्रयोजन यह है कि उपमेय के समान किसी अन्य वस्तु के न होने से वही उपमान भी हो जाता है। यथा—

तीनि देव बडे, ते लुकाने पहिलेई, याते
एक ब्रह्मलोक छीरसिंधु एक नग मै,
ताहू पै न जान्यो भेव, पूछे जात अहमेव,
बृथा करि सेव पूजै देव-देव पग मै।
कोऊ न लखान्यो, लख्यो लाखन मै 'लेखराज',
इत-उत जाय धाय यों ही नापी मग मैं,
पाप-ताप पाता करि सुजस को ख्याता गंगे,
मुकुति की दाता माता तो सी तुही जग मै।
(लेखराज)

कहा कंज, खंजन कहा, कहा मीन को काम,
तेरे दृग से दृग अली तेरे ई अभिराम।
(बेरीसाल)

यथावा—

हियो हरत औ करत अति चितामनि चित चैन ;
वा सुंदरि के मैं लखे वाही के से नैन।
(चितामणि)

कोइ आँखों ने भी मार लिया उसकी नरगिसी कहानी है ;
कोइ जुल्फों के भी पेंच-तले नागिन की कला बखानी है।
कोइ हँसने के भी बीच रहा झमकानि रूप सुखदानी है ;
आखिर को निश्चय हुआ यही, तेरा-सा तूही जानी है।
(सीतल)

यहाँ कहा गया है कि तेरे सदृश्य तू ही है, अर्थात् और कोई तेरे समान नहीं है।

उपमेयोपमा (३)

उपमेयोपमा—वहाँ है, जहाँ तृतीय सादृश्य व्यवच्छेदार्थ पहले उपमान और उपमेय दूसरे स्थान पर क्रमशः उपमेय और उपमान हो जायँ।

प्रयोजन यह है कि उपमेय और उपमान जो कहे गए हैं, उनके समान तीसरी वस्तु कोई नहीं है। यथा—

तेरो तेज सरजा समत्थ ! दिनकर-सो है,
दिनकर सोहै तेरे तेज के निकर-सो ;
भौंसिला-भुवाल ! तेरो जस हिमकर-सोहै,
हिमकर सोहै तेरे जस के अकर-सो।
'भूषन' भनत तेरो हियो रतनाकर-सो,
रतनाकरौ है तेरे हिय सुखकर - सो ,
साहि के सपूत सिवसाहि दानि ! तेरो कर
सुरतरु सोहै, सुरतरु तेरे कर - सो।
(भूषण)

अकर = आकर = खान। अन्यच्च—

तीनों - ताप ताई को करत सीतलाई और,
बिसद-निकाई कहि सारदा न पाई है,
धाई दीप दीप लौं, सुधाई समुदाई छाई,
झाँई स्वच्छ जासु सुखदाई बिस्वभाई है।
ताकी सुघराई लेखराज कहताई कहे,
और समताई लोक मैं न स्वेतवाई है;
गाई जन्हु-जाई सम सरद जुन्हाई अरु,
सरद जुन्हाई सम गाई जन्हु-जाई है।

(लेखराज)

प्रतीप (५)

सम्मिलित लक्षण—(प्रतीप का अर्थ प्रतिकूलता है) उत्कृष्ट गुणी का तिरस्कार होना उससे प्रतिकूलता करनी है।

इसके पाँच भेद हैं।

प्रथम प्रतीप—में प्रसिद्ध उपमान को उपमेय वत् वर्णन करना है।

सखि, तो मुख-सो ससि भयो छिय धरि सुधा प्रकास ;
त्यों हीं कर-सो कंज भो पति-जीवन करि बास।

(बैरीसाल)

मुख शशि के संबंध में उपमेय है, किंतु यहाँ उपमान बना है। जीवन = पानी।

फटिक सिलान सों सुधारयो सुधा-मंदिर,
उदधि दधि को सो अधिकाय उमगै अमंद ;
भीतर सों बाहर लौं भीति न दिखैए 'देव',
दूध को सो फेनु फैल्यो आँगन फरस बंद।

तारा-सी तरुनि तामैं ठाढ़ी झिलमिल होति,
मोतिन की जोति मिली मल्लिका को मकरंद ,
आरसी से अंबर मैं आभा-सी उजेरी लागै ,
प्यारी राधिका को प्रतिबिंब सो लगत चंद ।

(देव)

यहाँ प्रसिद्ध उपमान चंद्र उपमेय है तथा राधा उपमान । साधारण-तया उपमान उत्कृष्ट गुण-युक्त रहता है, किंतु यहाँ प्रसिद्ध उपमान की समता उपमेय से दिए जाने के कारण उसका निरादर हुआ है ।

विशेष— कुछ व्यक्ति यह मानते है कि उ मान उत्कृष्ट गुणवाला और उपमेय न्यून गुणवाला होता है । इसी तत्त्व को ध्यान में रख-कर प्रतीप-अलंकार स्वीकार किया गया है ।

द्वितीय प्रतीप— मे प्रसिद्ध उपमान को उपमेय बनाकर वर्ण्य (असली उपमेय) का निरादर होता है । यथा —

कहा कलि - कलुष - निकंदन को मद, याके
सरस असुर कुल कालिका सँहारे है ,
'लेखराज' पाप जारिबे को कहा गर्ब,
रावरे-से बहु बिटपि-समूह बह्नि जारे हैं ।
कहा निज सोभा पै भभरि भोरे भूलौ आपु,
आपु से बिपुल प्रभा पुंज भानु धारे है ,
कहा निज तारेन को गहति गरूर गंगे,
तिनही से भारे हौ निहारे नभ तारे है ।

(लेखराज)

विटपी = बिटपी अर्थात् शाखा से युक्त वृक्ष ।

हे गंगे ! जैसे भारी पापी तुमने तारे हैं, वैसे ही भारे (बडे) नक्षत्र आसमान में हैं । यहाँ कहने-भर को उपमेय गंगा का निरादर है, किंतु

वास्तव में ऊँचा भाव यह प्रकट किया गया है कि नक्षत्रों के समान बड़े और असंख्य पापी गंगा ने तार दिए। अपकर्ष भी शाब्दिक-मात्र है।

सागर में गहराई, मेरु में उँचाई,
रतिनायक मैं रूप की निकाई निरधारिए;
दान देवतरु मैं, सयान सुरगुरु मैं,
प्रसाद गंगनीर वारो कैसे कै बिसारिए।
तरनि मैं तेज बरनत 'मतिराम', जोति
जगमगै जामिनी रमन मे बिचारिए,
राव भावसिंह कहा तुमहीं बड़े हौ जग,
रावरे सुगुन और ठौर हू निहारिए।
(मतिराम)

यहाँ उपमेय भाऊसिंह का यह कहकर निरादर किया गया है कि तुम्ही अकेले बड़े नहीं हो, क्योंकि तुम्हारे गुण अन्यत्र भी प्राप्त हैं। वास्तविक प्रयोजन उपमेय में इन सामूहिक गुणों के आरोप से प्रशंसा का है। फिर अन्यो में एक ही-एक गुण है, किंतु इनमें सब वर्तमान होने के कारण वास्तविक अपकर्ष भी नहीं है।

सिव प्रताप तव तरनि-सम अरि पानिप हर मूल;
गरब करत केहि हेत है बड़वानल तो तूल।
(भूषण)

यहाँ एक ही गुण होने से कुछ अपकर्ष आ गया है। प्रतीप उत्कृष्ट गुणवाले के निरादर मे होता है। सभी उदाहरणों में उपमेयो के भारी गुणी अथच गर्व करने के योग्य होने से उत्कृष्टता आई है।

विशेष—प्रथम प्रतीप में उपमान का निरादर होता है, परंतु इसमें उपमेय का अनादर किया जाता है, तो भी इस भेद का

निर्माण 'उपमान उत्कृष्ट गुणयुक्त होता है' को मानकर किया गया है। वास्तविक उपमेय को उपमान बनाने का कारण यही है। तथा प्रथम उदाहरण मे गंगा मे ग़रूर—घमंड की भी स्थापना इसी तत्त्व के आधार पर समझना; क्योंकि ऐसा अवसर उत्कट गुणी को ही प्राप्त होता है।

तृतीय प्रतीप—मे प्रसिद्ध उपमान का उपमेय के आगे निरादर होता है। यथा—

जलधर छाँडि गुमान को हौ ही जीवन-दानि,
तोसों ही पानिप भर्‌यो भावसिंह को पानि।
(मतिराम)

गरब करति कत चाँदनी हीरक छीर-समान;
फैली इती समाजगत कीरति सिवा खुमान।
(भूषण)

बूँदहि बूँद सु गारिकै, झारिकै, बारिकै जारि दियो नहिं पीर की;
मूँदिकै भाजन काढि मथो, कथो अंग नही मति जासु अधीर की।
पान कै लीन्हो कहै 'लेखराज' जू, जामैं रहै न छटा छबि छीर की;
कैसे गरूर कै कूर करैगो सो फेरि बराबरी गंग के नीर की।
(लेखराज)

चंद अरबिंद बिब बिद्रुम फनिंद सुक
कुंदन गयंद कुंद-कली निदरति है;
चंपा संपा सपुट कदलि घनस्याम कहा,
कुसुम के अंगराग अंगना करति है।
केहरि कपोत पिक पल्लव कलिंदी घन,
दरके निरखि दारयो छतिया बरति है;

तेरे इन अंगन की नकल बनाई बिधि,
नकल बिलोके मोहि न कल परति है।
(घनश्याम शुक्ल

संपा = बिजली।

यहाँ अगर बराबरी न कर पाना अर्थ कीजिए, तो चतुर्थ
तृतीय प्रतीप होगा। द्वितीय पद में पंचम प्रतीप है।

चतुर्थ प्रतीप—में उपमान उपमेय की बराबरी नहीं कर पाता। यथा—

दुरित दुरूह दुख द्वंद खंड-खंड होत,
रंचहू कृपा के भए संकट-कदन की,
धूमकेतु कैसो पेखि प्रखर प्रकास-पुंज,
धूम-धूसरित होति मंजुता मदन की।
दंपा की दमक दलित सी दिखाई देति,
दंत - दुति देखि हिम-नंदिनी-नदन की,
कलिमल-कलुष-निकुंज की निकंदिनी है,
धन्य कमनीयता मतंगज - बदन की।
(उमेश)

दुरति = पाप। दुरूह = कठिन। दपा = बिजली।
'दलित-सी दिखाई देति' में चतुर्थ प्रतीप है।

चदन मैं नाग, मद भरयो इंद्रनाग, बिष
भरयो सेसनाग कहैं उपमा अबस को?
भोर ठहरात न कपूर बहरात, मेघ
सरद उड़ात बात लागे दिसि दस को।
संभु नील - ग्रीव, भौर पुंडरीक ही बसत,
सरजा सिवाजी सन 'भूषन' सरस को?

छीरधि मै पंक, कलानिधि मैं कलंक, याते
रूप एक टंक ये लहैं न तव जस को।
(भूषण)

यहा प्रथम तीन पदो में चतुर्थ प्रतीप है, तथा चौथे पद मे पंचम प्रतीप मानना चाहिए।

यह झूठी उपमा सुकबि क्योंकरि करै प्रमान;
बिन कटाच्छ के कमल ये दृग - सम कहत अयान।
(बैरीसाल)

छीरनिध जायो, गायो निगम-पुरान, छायो,
बपुष प्रभा सों, लीन्हे तारन जगत है;
अनुज कहायो कमला को कहै 'रघुनाथ',
नातो पायो बिष्णु सों सो जानत जगत है।
माथे पै महेस राख्यो, मित्र कहि मित्र भाख्यो,
ऐसो जऊ तऊ तुलताई न लहत है;
भूप बरिबंड जस रावरे कुलीन आगे
धाकर सों देखत सुधाकर लगत है।
(रघुनाथ)

बपुष=वपुष्=शरीर।

कवि ने इसे पंचम प्रतीप के उदाहरण में लिखा है, किंतु है चतुर्थ, क्योंकि धाकर कुलीन के केवल बराबर नहीं है, न कि व्यर्थ।

बिक्रम मैं बिक्रम, धरमसुत धरम मैं,
धुंधमार धीर मैं, धनेस वारौं धन मैं;
'मतिराम' कहत प्रियव्रत प्रताप मैं,
प्रबल बल पृथु, पारथहिं वारौं पन मैं।

सत्रुसालनंद रैया राव भावसिंह आजु
महो के महीप सब वारौ तेरे तन मै,
नल वारौ नैननि मैं, बल वारौ बैननि मै,
भीम वारौ भुजन मै, करन करन मैं।
(मतिराम)

उपर्युक्त दूसरे और तीसरे उदाहरणो में प्रसिद्ध उपमान उपमेय हो गए हैं, किंतु चौथे मे ऐसा नहीं है। प्रतीप तीनो में सध जाता है। अन्यच्च—

जानी तेरा मुख-चंद्र लखे लेता है हिमकर ताब कहीं?
दिल में आदर्श मलीन हुआ, फिरता है कंज ख़राब कहीं!
क्या ताक़त पड़ी फ़िरिश्तों की जो आगे करे जवाब कहीं?
जब बेनक़ाब हो तू दिलवर अरु रोशन हो महताब कहीं?
(शीतल)

सवैया में वर्णित अनेक प्रसिद्ध उपमानों को उपमेय की समता के अयोग्य ठहराया गया है।

प्रतीप और व्यतिरेक मे भेद—इसमें व्यतिरेक इस कारण नहीं आता कि इस (व्यतिरेक) में जिस धर्म को लेकर उपमा दी जाती है, उससे पृथक् किसी अन्य गुण में विशेषता होती है, उसी में नहीं। जैसे—

"मुख है अंबुज-सो सही मीठी बात बिसेखि।"

यहाँ कमल से उपमा तो रंग के कारण दी गई है, किंतु मीठी बात के कारण मुख में विशेषता आई। यह मत स्वयं हमारा है, और किसी आचार्य के कथन में हमने इसे नहीं देखा। असल में यह किसी-किसी के मत से प्रतिकूल भी है। जैसे "चंद्र

मुख से श्रेष्ठतर है" को हम व्यतिरेक न कहकर प्रतीप कहेंगे। "मुख चन्द्र-सा है, किंतु कलंक-रहित।" ऐसा कथन व्यतिरेक में जायगा।

यदि इसे न मानिए, तो चौथे प्रतीप का लक्षण निम्नानुसार लिख सकते हैं —यदि उपमान उपमेयता पाकर उस (उपमेय) की समानता न कर सके, तो चतुर्थ प्रतीप होगा। यदि व्यतिरेकवाला हमारा मत न माना जाय, तथा चतुर्थ प्रतीप का लक्षण भी जैसे-का-तैसा रक्खा जाय, तो इस (चतुर्थ प्रतीप) मे व्यतिरेक की अतिव्याप्ति हो जायगी।

केते करे सुकपोत कपोतक पिंजर पिंजर बीच बिबादनि,
को गनै चातक चक्र चकोर कला पिक मोर मराल प्रबादनि।
बीन ज्यों बोलति बाल प्रबीन नवीन सुधारस बाद सवादनि;
वारौं सुकंठी के कंठ खुले कल कंठन के कलकठ निनादनि।
(देव)

राधिका-सी सुर-सिद्ध-सुता, नर-नाग सुता कबि 'देव' न भू पर;
चंद करौ मुख देखि निछावरि, केहरि कोटि लटी कटि हू पर।
काम कमानहू को भृकुटीन पै, मीन-मृगीन हू को दृग दू परि,
वारौं री कंचन कंज-कली मृगननी के ओछे उरोजन ऊपर।
(देव)

पंचम प्रतीप—मे उपमान उपमेय के आगे व्यर्थ हो जाता है। यथा—

पार्वतीजी के विवाह में—

चंद्रकला च्वै परी, असंग गंग ह्वै परी,
भुजंगी भाजि भ्वै परी बरंगी के बरत ही।
(देव)

सपूर्ण छंद वाक्य से आर्थी व्यजना के उदाहरण में देखो।

घूँघट खुलत अबै उलटु ह्वै जैहै 'देव'
उद्धत मनोज जग जुद्ध जूटि परैगो ;
ऐसी न सुरोक सिख, को कहै अलोक बात,
लोक तिहुँ लोक की लुनाई लूटि परैगो।
दैयन दुराव मुख नतरु तरैयन को,
मंडलहु मटकि, चटकि टूटि परैगो ;
तो चितै सकोचि सोचि-मोचि मृदु मूरछि कै
छोर ते छपाकर छता-सो छूटि परैगो।

(देव)

ऐसी शिक्षा देवलोक में भी नहीं है। तेरी ओर देखकर चंद्रमा संकुचित होकर, सोच करके, मोचि (लचककर), कुछ मूर्न्छित होकर अपनी सीमा से छाता की भाँति छूट पड़ेगा।

यों सिवराज को राज अडोल कियो सिव जोय कहा ध्रुव भू है ;
कामना दानि खुमान लखे न कछू सुररूख न देवगऊ है।
'भूषन' भूषन मे कुल भूषन भौंसिला भूप धरे सब भू है,
मेरु कछू, न कछू दिग-दंति, न कुंडलि, कोल, कछू न कछू है।

(भूषण)

रद देखे लाल बिहारी के अनबेधे मोती भड़क गए,
जो षटदश कला छपाकर के तिनके के फिरचे कड़क गए।
मुसकानों - भरे लखे जब ते रस-भीजे दाड़िम दड़क गए,
शरमिंदा कली चमेली की तड़िता के सीने तड़क गए।

(शीतल)

संपूर्ण छंद में पंचम प्रतीप है, परतु प्रथम पद तथा "शरमिंदा कली चमेली की" में चतुर्थ हुआ।

एरी वृषभानुलली, तेरे ये जुगुल जानु
मेरे बलबीरजू के मन ही हरत हैं;
सौरभ सुभाय अरु रंभा ते सदंभ सुख
'केसौ' सुभ करभ की आभा निदरत हैं।
कोटि रतिराज सिरताज ब्रजराज की सौ
देखि-देखि गजराज लाजन मरत हैं,
मोचि-मोचि मद, रचि सकल सकोच सोचि,
सुधि आए सुडन की कुंडली करत हैं।
(केशवदास)

क्या छवि सिकंदरी पन्ने की जो लखपावै रंग भरा कहीं;
तोते की गर्दन गर्द करी, शशि-पूत बराबर करा कहीं?
यूसुफ हज़ार जो हो आवै दल बाँध हुस्न का पडा कहीं;
क्या ताकत उनको ताब रहै देखै जो फेटा हरा कहीं?
(शीतल)

चंद परताप हिंदूपति परतापसिंह
दौस मैं पसारि मारतंड को दबायो है;
पूरन त्यों कीरति पसारि कै निसा के बीच
ससि के उजास को निरास कै छपायो है।
भनत 'बिसाल' यह पेखि कै प्रभाव बिधि
आपनी चतुरता बिचारि मुद पायो है;
चेति फिरि जग की प्रगति के मिलाइबे को
भानु सितभानु हित राहु उपजायो है।
(विशाल कवि)

सूर्य-चंद्र को व्य ै मानकर ही ब्रह्मा ने उन्हें ग्रसने का राहु उत्पन्न किया।

पाँचो प्रतीप याद करने के लिये नीचे दूलह के छंद उद्धृत किए जाते हैं—

उपमान जहाँ उपमेय ह्वै जाय, तहाँ पहिलोई प्रतीप गनो ;
कुच-से कमनीय बने करि-कुंभ, कहै कबि 'दूलह' लोग घनो।
उपमान जहाँ उपमेयता लै फिरि ताहि निरादरै दूजी भनो ;
सखि, नैनन को जनि जोम करौ, इनके सम सोहत कंज बनो।
(दूलह)

वर्ण्य वस्तु वर्णिकै अवर्ण्य को अनादरै,
सु तीसरो प्रतीप कबि 'दूलह' गनायो है ,
बिस भरे कैबर नसै बर गरब एरे,
तेरे तुल्य बचन प्रपंचिन को गायो है।
चौथो उपमान उपमेय की न समता को,
मुख-सो मयंक काहू भूलि ठहरायो है ;
उपमान है न काम पाँचवों प्रतीप नाम,
राम तन ताके काम काके मन भायो है।
(दूलह)

'चंद्र कहौ तिय-आनन सों' 'जिनकी मति वाके बखान सो है रली' ;
'आनन-एकता चंद्र लखौ' 'मुख के लखे चंद्र गुमान घटै अली'।
'दास न आनन सो कहौ चद्र' 'दई सौ भई यह बात न है भली' ;
ऐसो अनूप बनाइ कै आनन राखिबे की ससि हूँ को कहा चली।
(दास)

यहाँ क्रमश. सखी और नायक की उक्तियो में पाँचो प्रतीप उदाहृत किए गए हैं। यथा —

सखी—'चद कहौ तिय-आनन सों' (प्रथम प्रतीप)
नायक—'जिनकी मति वाके बखान सों है रली'।

सखी—'आनन एकता चद्र लखौ' (द्वितीय प्रतीप)।

नायक—'मुख के लखे चद्र गुमान घटै अली' (तृतीय प्रतीप)।

सखी—'न आनन सो कहौं चद्र' (चतुर्थ)

(अच्छा, अब मैं) आनन को चद्र के समान नहीं कहती हूं।

नायक—'दई सौ भई यह बात न है भली। ऐसो अनूप बनाइ कै आनन राखिबे की ससि हूँ की कहा चली'। (पचम प्रतीप)।

रूपक (५)

रूपक—जहाँ सादृश्य के कारण वर्ण्य को अवर्ण्य से अभेदता या तद्रूपता देकर एक को दूसरे के रूप में रँगने का चमत्कार हो, वहाँ रूपक-अलंकार होता है।

इसके अभेद और तद्रूप-नामक दो मुख्य भेद हैं। इन दोनो में सम, अधिक और न्यून के भेदांतर होते हैं। रूपक में वाचक न आना चाहिए, जिसमें वह उपमा न हो जाय।
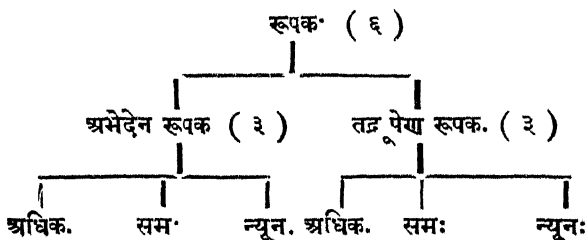
(१) अभेद रूपक—में उपमेय उपमान का रूप धारण करके उसमें बिलकुल मिल जाता है।

१—समाभेद रूपक—में उपमेय उपमान धर्म में एक दूसरे के बराबर रहते हैं। यथा—

धार मैं धाय धसीं निरधार ह्वै, जाय फँसीं उकसीं न अबेरी ;
री अँगराइ गिरीं गहिरी, गहि फेरे फिरीं न, घिरीं नहिं घेरी।
'देव' अदेवन को बसु ना, रस लालच लाल चितैं भई चेरी ;
बेगि ही बूड़ि गईं पखियाँ, अँखियाँ मधु की मखियाँ भईं मेरी।

(देव)

बरुनी बघंबर मैं गूदरी पलक दोऊ,
कोए राते बसन भगौहैं भेस रखियाँ
बूड़ीं जल ही मैं दिन जामिनि हूँ जागीं, भौंहैं
धूम सिर छायो बिरहानल बिलखियाँ।
आँसू सो फटिक माल लाल डोरे सेल्ही पैन्हि
भई हैं अकेली तजि चेली संग सखियाँ ;
दीजिए दरस 'देव', लीजिए सँजोगिनि कै,
जोगिनि ह्वै बैठी हैं वियोगिनि की अँखियाँ।

(देव)

कोयन जोति चहूँ चपला सुरचाप सुभ्रू रुचि कज्जल कादौ ;
बूँद बड़े बरसैं अँसुवा, हिरदै न बसै बिरहैपति जादौ।
'देव' समीर नहीं दुनिए, धुनिए सुनिए कल कंठ निनादौ ;
तारे खुले न घिरी बरुनी घन नैन भए दोउ सावन-भादौ।

(देव)

सुभ्रू = सुभ्रू ; अच्छी भौहैं। हिरदै न बसै = हृदय पर नहीं बसा है, अर्थात् वियोग की दशा है। वर्षा का पवन संसार को ध्वनित नहीं करता, वरन् सोहावने शब्द का कंठ सुन पड़ता है। यहाँ दोनो नेत्र सावन-भादौं हो गए हैं। नक्षत्र (घन से घिरे हैं) और आँख की पुतलियाँ (बरुनी से घिरी हैं) खुली नहीं हैं।

अंबर अडंबर डमरु गरजत बारि,
बरसि - बरसि सोखै बरसै बिसालु है ;

'देव' पल घरी जाम दोऊ दृग सेत स्याम
न्यारो एक-एक मूँदि खोलत उतालु है।
कौतुक त्रिबिध चहूँ चौहटे नचायो मीचु,
महि मैं मचायो चल अचलनि चालु है,
खेलत खेलैया ख्यालु, ताकि न थिरातु काल,
माया गुन जालु अदभुत इंद्रजालु है।
(देव)

बैठी कहा धरि मौन भटू, रँगभौन तुम्हैं बिनु लागत सूनो,
चातक ह्वै तुमहीं ररि 'देव' चकोर भयो चिनगी करि चूनो।
साँझ सोहाग की माँझ उदौ करि सौति-सरोजन को बन लूनो;
पावस ते उठि कीजिए चैत, अमावस ते उठि कीजिए पूनो।
(देव)

पावस से चैत करने का प्रयोजन है नायक का रोना बंद करने से, तथा अपने मुख-चंद्र के प्रकाश से पूर्णिमा करने का।

चोटी भुजंग महाछबि देति है, मोतिन की सरि गंग रसाल है;
सीस को फूल कलानिधि की कला, बंदन भाल बिलोचन लाल है।
सारी गयंद की खाल मनोहर, त्यों अँगराग बिभूति बिसाल है;
राजत सेज बघंबर पै बृषभानुसुता ससिभाल कृपाल है।
(बिशाल कवि)

यहाँ समाभेद रूपक है। बंदन = ईंगुर।

जहाँ उपमान के अभेद तदरूप करि
उपमेय रौप्यमान रूपक ये द्वै कहैं;
कहै कबि 'दूलह' अधिक सम न्यून ताके
एक-एक प्रति तीनि तीनि भेद ये लहैं।

राम अवियोगी तुम, राम तुम जलपाल,
राम तुम लंक के बिरोध बिनही अहैं ;
बैन सुधा सुने जीजै, नैन-कज देखे सुख,
प्यारे न्यारे चद हौ, मृगान रथ में नहैं ।
(दूलह)

इसमे छत्रों रूपको के सूक्ष्मतया लक्षण और उदाहरण समझाने-भर को हैं । तुम शब्द से किसी राजा को कवि ने संबोधित किया है ।

चौथे चरण में न्यारे शब्द का अन्वय तीनो उदाहरणों के साथ करने से तद्रूपता आ जाती है ।

२—अधिकाभेद रूपक—में उपमेय में किसी धर्म की अधिकता दिखलाई जाती है । यथा—

है यह साँचो काम, देह धरे विहरत फिरत ;
सरस आठहू जाम, संग लिए रति है तिया ।
(बैरीसाल)

काम में अनंग होने की न्यूनता है, किंतु उपमेय सदेह होने से उसमें उपमान से अधिकता आ गई ।

जंग मैं अंग कठोर महा, मद नीर झरैं झरना सरसे हैं,
झूलति रंग घने 'मतिराम' महीरुह फूल प्रभा बिकसे हैं ।
सुंदर-सिंदुर मंडित कुंभनि गैरिक सृंग उतंग लसे हैं ;
भाऊ दिवान उदार अपार सजीव पहार करी बकसे हैं ।
(मतिराम)

यहाँ सजीवता का आधिक्य है ।

३—न्यूनाभेद रूपक—मे उपमेय उपमान से कुछ कम दिखलाया जाता है ।

विशेष—कुछ आचार्यों का विचार है कि यह न्यूनता वास्तव में आदर-सूचक अथच महत्ता-पूर्णता का कारण होनी चाहिए, जिसमें उपमेय का वास्तविक निरादर न हो। यथा—

राम अबियोगी तुम, राम तुम जज्ञपाल ;
राम तुम लंक के बिरोध बिनही अहैं।
(दूलह)

यहाँ अवियोगी होने से उपमेय अधिक, यज्ञपाल होने से सम और लंका का अविरोधी होने से न्यून है, क्योंकि राम की मुख्य महत्ता लंका-विजय है, जो उपमेय (तुम) में नहीं। आंतरिक महत्ता दिखलाने को यह विचार आरोपित होगा कि उपमेय से लंका विरुद्ध भी नहीं है, जैसा कि उपमान राम से है।

महादानि याचकन को भाऊ देत तुरंग,
पच्छन बिगिर बिहंग हैं, सुंडन बिगिर मतंग।
(मतिराम)

यहाँ घोड़े विना परों के उड़ते हैं, तथा विना शुंड के हाथी के समान बड़े हैं। न्यूनता दोनो उदाहरणों में देखने-भर की है, वास्तव में नहीं।

(२) तद्रूप रूपक—में उपमेय उपमान का रूप तो ग्रहण करता है, पर वही नहीं हो जाता, जिससे दूसरे रूप में वही कहा जाता है।

१—सम तद्रूप रूपक—

छाँह करैं छितिमंडल पै, सब ऊपर यों 'मतिराम' भए हैं ;
पानिप को सरसावत हैं, सिगरे जग के मिटि ताप गए हैं।

भूमि पुरंदर भाऊ के हाथ पयोदनहीं सब काज ठए हैं ;
पंथिन को पथ रोकिबे को घने बारिद-बृंद बृथा उनए हैं ।

(मतिराम)

वह इंद्र स्वर्ग के हैं, किंतु भाऊ भूमि के, जिससे पार्थक्य सिद्ध है ।

कबिजन - मन - कमलन को बिकास कर
मोह - निसि नास कर प्रगट दिखात हैं ;
रसिक-मधुब्रत को पास कर खासकर,
मूकन उलूकन को त्रासकर ख्यात हैं ।
कंबखत नखत लखत हो चखत, मीत
बखत बुलंद चकवान दरसात हैं ;
पूरब सुकबि लेखराज ते उदित ह्वै कै
आज ब्रजराज दूजो सूरज लखात हैं ।

(विशाख)

ब्रजराज लेखराजजी कवि के पुत्र थे । 'दूजो' शब्द से तद्रूपता ग्रहण होती है ।

कानन के चारी चारु, भारी हैं चपल महा,
थिरता न गहैं कहूँ एक घरी हारिकै ;
कहै 'रघुनाथ' पर पलकन फरकाय
कौतुकै करत मद जोबन को धारिकै ।
कजरारे चीकने बिसद भारे रंगन सों
दुचितई डारैं देखे सुचितई टारिकै ;
बाहरे न जाहि कोऊ लेइगो बभाय देखि
तेरे नैन खंजन ये खंजन बिचारिकै ।

(रघुनाथ)

यहाँ 'नेरे' शब्द से पार्थक्य प्रकट है। पहले उदाहरण के अंतिम चरण में कुछ आधिक्य का रूप आ जाता है, किंतु अमुख्य-विषयक होने से इसे सम ही मानना चाहिए। जो कोई अधिक माने, वे उसी का उदाहरण मान लें।

बटु ह्वै नटु ह्वै कै रिझावैं जिन्हैं, कबि 'देव' कहै बतियाँ तुतरी,
बिधि ईस के सीस बसी बहु बारन कोरि कला रज सिंधु तरी।
जगमोहनि राधे तू पाँय परौ, वृषभानु के भौन अभै उतरी,
गुन बाँधे नचावति तीनिहु लोक लिए कर ज्यों कर की पुतरी।
(देव)

यहाँ राधा और गंगा का सम तद्रूप रूपक है। यह गंगा वृषभानु के भवन में है, इससे तद्रूपता है।

२—अधिक तद्रूप रूपक—

लगति कलानिधि चाँदनी निसि ही मैं अभिराम;
दीपति या मुख चंद की दिपति आठउ जाम।
(बैरीसाल)

'या' शब्द से तद्रूपता आ जाती है।

३—न्यून तद्रूप रूपक—

नहिं रतनाकर ते भयो, चलि देखौ निरसंक;
याते दूजो कहत हौ याको बदन मयंक।
(बैरीसाल)

वर्णन-शैली के अनुसार समाभेद रूपक तथा सम तद्रूप रूपक अन्य कई प्रकार के भी होते हैं, जिनका चक्र नीचे दिया जाता है—
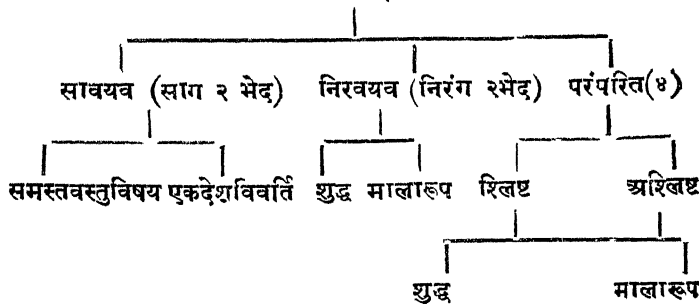
(१) **सावयव रूपक**—मे उपमेय का उपमान में अंगों-सहित आरोप रहता है। इसके दो भेद होते हैं। (१) समस्तवस्तु-विषय, (२) एकदेशविवर्ति।

१—**समस्तवस्तु विषय**— मे सभी अंगों का उचित आरोप शब्द द्वारा कथित होता है। यथा—

आस-पास पूरन प्रकास के पगार सूझैं,
बनन अगार दीठि गली ह्वै निबरते,
पारावार पारद अपार दसौ दिसि बूड़ी,
बिधु बरम्हंड उतरात बिधि बरते।
सारद-जुन्हाई-जन्हु पूरन सरूप धाई,
जाई सुधा-सिंधु नभ सेत गिरिबरते;
उमडो परति जोति-मंडल अखंड सुधा-
मंडल मही मैं इंदु-मंडल-बिबरते।

(देव)

सब ओर पूर्ण प्रकाश के समूह देख पड़ते हैं, जो वनो, भवनो, गलियों (आदि) में दृष्टि से निवृत्त होते हैं, अर्थात् नज़र से गुज़र जाते

हैं। उस पारा के समुद्र-रूपी श्वेत प्रकाश मे अपार दसो दिशाएँ डूब गई हैं, किंतु उसी में ब्रह्मा के वरदान से चद्रमा और ब्रह्माड उतरा रहे हैं। श्वेत गिरिवर के सुधा-सिंधु से उत्पन्न जन्हु की शारदी जुन्हाई (गगा) पूर्ण रूप से धाई। प्रयोजन यह है कि गंगा-रूपी ज्योत्स्ना भी उसी प्रकाश-पुंज से निकली है, जिस प्रकाश का अश श्वेतगिरि पर सुधा-सरोवर के रूप में स्थित है। भाव यह है कि ससार में प्रकाश-पुंज सर्वत्र व्याप्त है, किंतु आकाश रूपी परदा उसे पृथ्वी पर नहीं आने देता। उसी परदे में चंद्रमा एक छिद्र है, जिसमें से होकर यह प्रकाश-पुंज सुधा-मडल के समान पृथ्वी पर उमड़ा पड़ता है। यहाँ देव कवि ने सारे ससार का रूपक प्रकाश में बाँधा है, और उसके विविध अंगों का कथन उसी रूप में किया है, जिससे समस्तवस्तुविषय अभेद रूपक आया है। तात्पर्य यह है कि चंद्र-विवर-(गुफा) है, उसी से चाँदनी रूप गंगा निकली है, इसी प्रकार और भी मिला लीजिये। यहाँ इंदु को विवर तथा शारदी चंद्रिका को जान्हवी कहना उचित ही है, क्यो कि दोनो की समानता स्पष्ट है।

अस कहि कुटिल भई उठि ठाढ़ी, दारुन रोष-तरंगिनि बाढ़ी।
पाप-पहार प्रगट भइ सोई, भरी क्रोध जल जाय न जोई।
बर दोउ कठिन कूल हठि धारा, भँवर कूबरी बचन प्रचारा।
ढाहति भूप रूप तरु मूला, चली बिपति बारिधि अनुकूला।
(तुलसीदास)

यहाँ गोस्वामी तुलसीदास ने केकयी का रूपक उमड़ी हुई नदी से बाँधा है, जो उचित होने से समस्तवस्तुविषयक अभेद सावयव रूपक है।

परंपरित तथा सावयव रूपक का पृथक्करण—क्रोध-पूर्ण तरुणी तथा वेगवती नदी की समानता विना अन्य कारणों के भी हो सकती है। यह बात आगे आनेवाले कुलपति मिश्र-कृत परंपरित रूपक के उदाहरण मे न होगी। यही भेद है। नदी से इतर पाप पहार, क्रोध जल, दो वरदान कूल आदि के रूपक समर्थक-मात्र हैं।

पंडितराज का कथन है कि सावयव में एक मुख्य रूपक होता है, तथा शेष उसके समर्थक रहते हैं।

यह बात उपर्युक्त दोनो उदाहरणों मे है। उपर्युक्त समाभेद रूपक के भी दूसरे तथा तीसरे उदाहरण इसके भी कहे जा सकते हैं।

बिधेसुरी को घट्यो परताप, बढ़ी सब देवन के उर संका,
राकसबंस बढ़े खल-बृंद, बजै परिपूरन पाप को डका
साधु बिभीषण व्याकुल देखि सुनौ अब अंजनी के सुत बंका,
राघव फेरि चढ़ै दल साजि, भयो मिरजापुर दूसर लंका।
(कस्यचित् कवेः)

यहाँ मिरज़ापुर का लका से सावयव तद्रूप रूपक बाँधा गया है।

गाजिकै घोर कढ़ो गुफा फोरिकै पूरि रही धुनि है चहूँ देस री,
दोऊ कगार बगारिकै आनन पाप मृगान को खात जो बेस री।
तापै अघात कबौ न लख्यो गनि नेकु सकै नहि सारद सेस री,
सो 'लेखराज' है गंग को नीर जो अदभुत बेसरी बेसरी केसरी।
(लेखराज)

अद्भुत बेसरी बेसरी केसरी = पूरी। आश्चर्य-युक्त सूरत का बेसरी (अद्वितीय, बिना बराबरी का)। रूपक साग है। यहाँ गगा और केसरी में नाशकता के नाते उचितता है।

प्रबल प्रताप द्वीप सातहू तपत जाको,
तीनि लोक तिमिर के दलन दलत है,
देखत अनूप 'सेनापति' राम - रूप - रबि
सबै अभिलाष उर अतर फलत है।
ताही उर धारौ, दुरजन को बिसारौ नीच,
थोरो, धन पाय महा तुच्छ उछलत है;

सब बिधि पूरो, सुरबर सभा रूरो यह ,
दिनकर सूरो उतराइ ना चलत है ।
(सेनापति)

उपर्युक्त छंद राम और सूर्य, दोनो पर लागू है ।

तिमिर = अज्ञान, अंधकार । राम = रामचंद्र, अभिराम । दुरजन = बुरा मनुष्य, दु (बुरी) रजन (रात) । धन = रुपया-पैसा, धन राशि का सूर्य । दिनकर सूरो = दिन करनेवाला सूर्य, सूर्य वंश का बहादुर ।

२—एकदेशविवर्ति रूपक—मे कुछ अंगों का शब्दों द्वारा कथन होता है, और कुछ का ग्रहण अर्थ बल से करना पडता है । यथा—

कुच गिरि चढ़ि अति थकित ह्वै चली दीठि मुख चाड़,
फिरि न टरी परियै रही परी चिबुक के गाड़ ।
(बिहारी)

यहाँ दृष्टि यात्री है, जो बात कही नही गई है, किंतु अर्थ-बल से निकलती है । शेष बातें शब्द द्वारा कही गई हैं ।

करे चाह सों चुटुकि के खरे उड़ौहैं मैन ,
लाज नवाए तरफरत करत खुँदी ये नैन ।
(बिहारी)

यहाँ रूपक नैनो का तो घोडे से बाँधा गया है, किंतु उसका कथन नहीं है, जो अर्थ-बल से आता है । इसी प्रकार लाज का रूपक लगाम से है, जो कही नहीं गई है । ये शब्द से यहाँ तू पता आगई है ।

बिशेष—ये सब भेद तद्रूप में भी दिखलाए जा सकते हैं ।

(२) निरवयव रूपक—मे संपूर्ण अंगों का रूपक नहीं बाँधा जाता, केवल एक अंग का वर्णन किया जाता है । एक रूपक हो, तो शुद्ध रहा, तथा कई उपमान एक ही उपमेय के होने से मालारूप कहलाता है ।

इसके सामने सावयव मे पूर्णता अधिक होती है।

१—शुद्ध निरवयव रूपक—

हरि मुख पंकज, भ्रुव धनुष, खंजन लोचन मित्त,
बिंब अधर, कुंडल मकर, बसे रहत मो चित्त।

(दास)

यहाँ रूपक मे अंगो का कथन नही है, न एक ही उपमेय के कई उपमान हैं, वरन् दोहे में पाँच पृथक् शुद्ध निरवयव रूपक हैं।

२—मालारूप निरवयव रूपक—

दरप सिरी कंदरप की घन की सहज मसाल,
भागनि की अधिदेवता कौन धन्य ही बाल।

(चिंतामणि)

यहाँ एक उपमेय के तीन उपमान लाए गए है, जिससे मालारूप निरवयव रूपक है, क्योकि अगो का विस्तार नही है।

कंदर्प = कामदेव। घन की मसाल = बिजली।

(३) परंपरित रूपक—मे एक आरोप के सिद्ध करने को कारण रूप दूसरा आरोप भी लाना पड़ता है।

(१) श्लेष से काम निकालने मे श्लिष्ट शब्द रूपक है, तथा (२) अश्लिष्ट शब्दों के प्रयोग मे भिन्न शब्द रूपक आता है।

इन दोनो मे दो-दो भेद शुद्ध और मालारूप के होते है।

(१)—श्लिष्ट परंपरित रूपक—

१—शुद्ध श्लिष्ट परंपरित रूपक—

सुंदर नदन-नद को रूप जितो जनु काम;
गोपी फूली हेम तन बेलि रसिक अलि स्याम।

(चिंतामणि)

भगवान् का रूप ऐसा सुंदर है, मानो उन्होंने कामदेव को जीता है। यहीं तक रूपक का संबन्ध नहीं है। गोपी सोने की रस-युक्त बेलि फूली है, अर्थात् यह सोना सूखा नहीं है। उधर श्याम इस फूली बेलि के लिये रसीले भ्रमर है। रसिक शब्द श्लिष्ट है, जो एक स्थान पर रस-युक्त का अर्थ देता है, और दूसरी ओर रस लेनेवाले का।

उदाहरण शुद्ध परंपरित का है, मालारूप का नहीं। इस मे गोपी के फूली बेलि होने के कारण भगवान् भ्रमर कहे गए हैं।

२—श्लिष्ट परंपरित माला-रूप

जीवन दायक स्याम घन, गोपी पद्मिनि मित्र,
बिहरत ब्रज-महि कलानिधि, श्री गोविंद विचित्र।

(चिंतामणि)

जीवन = पानी और प्राण। स्याम = मेघ और कठोर। मित्र = सूर्य और सखा। कलानिधि=१६ कलाओ से युक्त और ६४ कलाओ के ज्ञाता। जीवन दायक होने से गोविंद को स्याम घन कहा गया, और मित्र से सबंध स्थापित करने के लिये गोपियो को पद्मिनी कहा गया। चंद्र से संबंध स्थापनार्थ कलानिधि कहा है। एक से अधिक अरोप होने से मालारूप है। श्लेष तो स्पष्ट ही है।

(२)—अश्लिष्ट परंपरित रूपक :—

१—शुद्ध अश्लिष्ट (भिन्न शब्द) परंपरित रूपक—

ऐसो हौ जु जानतो कि जै है तू विषै के संग
एरे मन ! मेरे तेरे हाँथ पाँय तोरतो;
आजु लगि केते नरनाहन की नाहीं सुनि
नेह सौ निहोरि हारि बदन निहोरतो।
चलन न देतो 'देव' चंचल अचल करि
चाबुक चितावनीन दै-दै मुँह मोरतो,

भारो प्रेम पाथर नगारो दै गरे मों बाँधि
राधाबर बिरद के बारिधि मै बोरतो।
(देव)

यहाँ एक रूपक मुख्य हैं, उसी के समर्थन करने के लिये दूसरे रूपक लाए गए हैं। श्लिष्ट शब्दो का भी प्रयोग नही है। इस कारण परंपरित अश्लिष्ट रूपक जानना, और प्रत्येक वस्तु को एक ही रूप में स्थापित करने के कारण शुद्ध कहना चाहिए। तथाहिः—

रनित भृंग घंटावली झरत दान-मधु-नीर ;
मंद-मंद आवत चल्यो, कुंजर-कुंज-समीर।
(बिहारी)

समीर को कुंजर स्थापित किया गया है, उसी को पुष्ट करने को अन्य रूपक लाने पड़े।

२—अश्लिष्ट (भिन्न शब्द) मालारूप परंपरित रूपक—

दारिद दुरद मरदन काज अंकुस है,
अरि-कुल-तिमिर बिनासन को भानु है,
खल-गिरि ढाहन को भादौ की नदी है, पुर
दुनी को गरब रोग-हरन निदानु है।
कीरति-सुरसरी की जनक सुमेरु, फौज
मोह के बिदारन को हरि-पद-ध्यानु है,
कूरम कलस जयसिहजू के नंद महा-
राज रामसिह कर राजत कृपानु है।
(कुलपति मिश्र)

यहां रामसिंह के खड्ग के लिये कई रूपक बाँधे गए हैं, और प्रत्येक

रूपक पहले के कारण रूप से आया है। जब दरिद्र हाथी है, तब तलवार अंकुश बनी। शत्रु-वश के अंधकार होने से वह सूर्य है। इसी प्रकार क और भी सब रूपक हैं, जिनसे परंपरित रूपक मालारूप में प्राप्त है।

सावयव रूपक तथा परंपरित में भेद—सावयव रूपक मे एक रूपक प्रधान होता है, तथा अन्य उसके समर्थक मात्र, किंतु वह विना उनकी सहायता के भी प्रसिद्ध होने से सिद्ध रहता है। इधर परंपरित मे दूसरा रूपक पहले के कारण रूप से आता और विना उसके सिद्ध नही होता। यही कुलपतिवाला उदाहरण इसका प्रमाण है।

विशेष—अधिकतर हिंदीवाले आचार्यों ने रूपक के अभेद तद्रूप अधिक सम न्यूनवाले छही रूप मे कहे है। वे ही वास्तविक भेद है भी और जो सांग, निरंग और परंपरित के नए भेद-भेदांतर दिखलाए गए है, उनमे भी अभेद या तद्रूप होते है। ये नवीन भेद केवल दूसरे प्रकार के उदाहरण-मात्र है, और मुख्य भेद नहीं समझे जा सकते।

सांग, निरंग और परंपरित उपमा—इन्ही परंपरित आदि में यदि उपमा वाचक शब्द बढ़ा दिए जायँ, तो इन्ही नामो की उपमाएँ हो सकती हैं।

परिणाम (६)

परिणाम—उपमान को पात्रता न रखने के कारण वह उपमेय के रूपवाला होकर विद्यमान रहता है। यथा—

कर-कंजनि खंजनि-दृगनि ससिमुखि अंजन देति,
बिज्जु-हास ते 'दास' जू मन, बिहंग गहि लेति।

(दास कवि)

यहाँ उपमान कमल क्रिया नहीं करता, किंतु उपमेय हाथ से मिलकर करता है।

पहले पद में क्रिया (देति) है, परंतु अंजन देने की क्रिया कमल नहीं कर सकते, अतः यहाँ भी परिणाम है। अलंकार के लिये खंजन अनावश्यक है। वैसे ही बिज्जु उपमान काम नहीं करती, किंतु उपमेय हाथ से मिलकर मन रूपी विहंग पकड़ती है। विहंग का विचार मन के साथ परिणाम के लिये अनावश्यक है।

तो चख-कंजन-कोर दौरि दौरि अंजन-भरी—
पिय-चितवनि बरजोर हरे लेत, हारैं न ये।
(गोकुलनाथ)

कमल मे दौडने की शक्ति नहीं है, किंतु उपमेय नेत्र से उसे वह मिलती है। प्रियतम की दृष्टि को ये नेत्र हरे लेते हैं।

देखि लिये सिगरे अपमारग, जानि लिए उर अंतर के छल;
काह करैगो मेरो द्विजराज, कहौ किमि जीति सकै अबला-दल।
रे रतिराज, कहा डरपावत, आवत नेक न लाज अरे खल;
तोहि 'बिसाल' न माल गनै, कछु संकर के पद-पंकज के बल।
(विशाल)

यहाँ रतिराज के प्रति प्रदर्शित उपेक्षा का कारण है, शंकर के पद-पंकज द्वारा दिया जानेवाला बल। इस बल के आधार पद हो सकते हैं, न कि पंकज।

परिणाम की रूपक से पृथक्ता—रूपक में उपमेय उपमान का रूप धारण करता है, किंतु परिणाम में उपमान उपमेय से मिलता है, सो मानो उसका रूप धारण करता है, जिससे प्रधानता उपमेय-वाली क्रिया की हो जाती है। यथा—

है यह नायक दच्छिन छैल, पै तैं अनुकूल कर्यो चितचोर है ;
है अभिमानिय आपने रूप को, दीन ह्वै तो सों रह्या निसि-भोर है ।
है रँग रावरो गोर रँग्यो, पुनि तेरेहि प्रेम-पग्यो झकझोर है ;
है घनश्याम, पै तेरो पपीहरा, ह्वै ब्रजचंद, पै तेरो चकोर है ।

यहाँ परिणाम "ह्वै ब्रजचंद, पै तेरो चकोर है" में समझ लीजिए । चकोर एकटक देखने का काम करता है, किंतु शब्द क्रियात्मक नहीं है । फिर भी अलंकार माना गया है । अन्यच्च:—

है कोमल अरुण गुलाब सुमन सखि जिन्हैं देख ललचाय सदा ;
नख नग से दमके जड़े हुए मुक्ताहल की छबि छाय सदा ।
कविता कहि कैसे वरणि सकै उपमा सब देखि लजाय सदा ;
वे वारिज-चरण बिहारी के शीतल पर रहैं सहाय सदा ।
(शीतल)

सहायता कर सकना वारिज की क्रिया नहीं है, चरण की है ।

रूपक और परिणाम में मतभेद—रूपक और परिणाम में भेद यह है कि पहले में क्रिया उपमान की होती है, तथा दूसरे में उपमेय की । भूषण का निम्न-लिखित छंद सर्वस्वकार के मत पर चलकर उपर्युक्त मत के प्रतिकूल है । यथा—

भौंसिला भूप बली भुव को भुज भारी भुजंगम सों भरु लीनो ;
'भूषन' तीखन तेज तरन्नि-सों बैरिन को कियो पानिप हीनो ।
दारिद दौ करि बारिद-सों दलि यो धरनीतल सीतल कीनो ;
साहि तनै कुल चंद सिवा जस चंद सो चंद कियो छबि छीनो ।
(भूषण)

यहाँ भूषण के उपमान-भुजंगम, तरणि और वारिद काम करते हैं, उपमेय भुज, तेज और करि नहीं । इससे अधिकतर आचार्यों के मता-नुसार यहाँ रूपक है, परिणाम नहीं । परिणाम में कार्य उपमेय का होना

आवश्यक होने से सर्वस्वकार तथा भूषण और मतिराम के मत ठीक नहीं समझ पड़ते। मतिराम कहते हैं—

हाथिन बिदारिबे को हाथ हैं हथ्यार तेरे,
दारिद बिदारिबे को हाथी ये हथ्यार हैं।
(मतिराम)

यहाँ पहले उदाहरण में हाथ उपमेय हैं, और हथ्यार उपमान, तथा काम उपमान करता है। दूसरे उदाहरण में हाथी उपमेय है तथा हथ्यार उपमान, किंतु काम उपमेय करता है। अतएव आप दोनो ओर झुकते हैं। इनका लक्षण भी इसी प्रकार दुरुखा है।

सर्वस्वकार का मत है कि रंजन-मात्र से रूपक और कार्य होने से परिणाम होना चाहिए। यह भेद पक्का नहीं समझ पड़ता, क्योंकि जब उपमेय उपमान का रूप ही रूपक मे ग्रहण करता है, तब विना उसी का-सा काम भी हुए रूप-ग्रहण अधूरा ही रहेगा। इससे रूपक में रंजन-मात्र रखकर कार्य की अव्याप्ति अधूरापन लाएगी।

मम्मट रूपक ही कहते हैं, परिणाम नहीं। उनके टीकाकार का मत है कि परिणाम भी रूपक ही के अंतर्गत मान लेना चाहिए। यथा—

मुख-ससि होत प्रसन्न—परिणाम।

मुख-ससि हरत अँध्यार—रूपक।

यहाँ यदि वैज्ञानिक अर्थ (शाब्दबोध) लगाया जाय, तो पहले उदाहरण से शशि अलग कर देना पड़ेगा, तथा दूसरे से मुख। अतएव ये दोनो अलंकार मिल नहीं जाते, सो एक ही नहीं हैं। इसलिये परिणाम का अलग अलंकार होना ठीक समझ पड़ता है। यदि उपर्युक्त तर्क न भी हृदयंगम माना जाय, तो भी परिणाम और रूपक में उपलभ्यमान पार्थक्य का अनुभव सहृदयों का हृदय करता ही है।

उल्लेख (७)

उल्लेख—के दो भेद हैं। पहले में गुण के कारण एक का अनेक वास्तविक रूपों मे बहुतों द्वारा कथन या विचार किया जाता है। दूसरे मे एक ही व्यक्ति किसी को अनेक वास्तविक रूपों में समझे या कहे।

प्रथम उल्लेख—

कबि कहै करन, करनजीत कमनैत,
अरिन के उर माहिं कीन्हो इमि छेव है;
कहत धरेस सब धराधर सेस, ऐसो
और धराधरन को मेट्यो अहमेव है।
'भूषन' भनत महाराज सिवराज, तेरो
राज-काज देखि कोऊ पावत न भेव है;
कहरी यदिल, मौज लहरी कुतुब कहै,
बहरी निजाम को जितैया कहै देव है।
(भूषण)

जानति सौति अनीति है, जानति सखी सुनीति;
गुरुजन जानत लाज है, प्रियतम जानत प्रीति।
(मतिराम)

कोऊ कहै नाग-सो लखात करबाल बर,
म्यान सों जबहि रन माहि निकसत है;
कोऊ कहै सूर के समान है खड्ग, जाहि
देखि सूर-मुख ज्यों कमल बिकसत है।

कोऊ कहै सोहै जमदंड के समान यह,
करषत रहै सदा प्रानिन के प्रान को;
भाषत अपर असि चंचला अपर, जाहि
लखे मुँदे जात चख कादर के मान को।
(मिश्रबंधु)

इन तीनो उदाहरणो में अनेक पुरुष एक ही को अनेक भाँति सोचते या कहते हैं, जिससे सबमें प्रथम उल्लेख है।

द्वितीय उल्लेख—

पैज प्रतिपाल, भूमि-भार को हमाल, चहूँ
चक्क को अमाल भयो दंडक जहान को,
साहिन को साल भयो, ज्वाल को जवाल भयो,
हर को कृपाल भयो, हार के बिधान को।
बीर रस ख्याल सिवराज भुवपाल तुव
हाथ को बिसाल भयो 'भूषन' बखान को,
तेरो करवाल भयो दक्खिन को ढाल, भयो
हिंद को दिवाल, भयो काल तुरकान को।
(भूषण)

सखिन को सुख सुने सौतिन को महादुख,
होत गुरुजनन को गुन को गरूर है;
'देव' कहै लाख-लाख भाँति अभिलाख पूरि,
पी के उर उमगत प्रेम--रस-पूर है।
तेरो कल बोल कलभाषिनि ! ज्यों स्वाति बुंद,
जहाँ जाइ परै, तहाँ तैसोई समूर है;

ब्यालि-मुख बिष ज्यों, पियूष ज्यों पपीहा-मुख,
सीपी मुख मोती, कदली-मुख कपूर है।
(देव)

बिघन बिनासन हैं, आछे आखु-आसन हैं,
सेए पाकसासन हैं सुमति करन को,
आपदा के हरन है, संपदा के करन हैं,
सदा के धरन हैं सरन असरन को।
कंज-कुल को है, नव पंकज न जोहै सरि,
'सुखदेव' सोहै धरे अरुन बरन को;
बुद्धि के बिधायक, सकल सुखदायक,
सु सेवो कबिनायक बिनायक-चरन को।
(सुखदेव)

आखु = चूहा, जो गणेश की सवारी है। पाकसासन = इंद्र।

जनक है ज्ञान को, बखान को युधिष्ठिर है,
दान को दधीचि, कलि काम-तरवर है;
पृथु प्रजा-पालन को, काल अरि-जालन को,
सुकबि-मरालन को मान-सरवर है।
दौलति कुबेर 'बेनी' मेरु मरजाद को है,
मुकुट महीपन को जाहि हरबर है;
राजन को राजा महाराजा श्रीटिकतराय,
जाहिर जहान में गरीब-परवर है।
(बेनी कवि)

खल खंडन, मंडन धरनि, उद्धत उदित उदंड;
दल दंडन दारुन समर हिंदुराज भुज-दंड।
(करन कवि)

बुद्धि के प्रकासक, अबुद्धि के बिनासक,
मदन-मद-नासक, अनंद के करन हैं,
जन - मन - रंजन, गरब गुरु - गंजन,
भरम - भव - भजन, भगत के भरन हैं।
भनत 'बिसाल' कबि कुल के कलपतरु,
पालक परम दुख - दारिद - दरन है;
तारन - तरन, असरन के सरन सिव
संकर-चरन मेरे मन के हरन हैं।
(विशाल)

यहाँ वक्ता केवल एक है तथा वर्णन अनेक।

मालारूपक, भ्रांतिमान् तथा उल्लेख का विषय-विभाजन—साहित्य-दर्पण के अनुसार मालारूपक मे गृहीता या वक्ता एक ही होता है, किन्तु प्रथम उल्लेख मे अनेक। भ्रांतिमान् में कथित वस्तु उस रूप मे वास्तविक नही होती, जिसमे वह कही जाती है, किंतु उल्लेख मे वास्तविकता है। वस्तुत. उल्लेख मे आरोप मूलक चमत्कार नहीं होता, पर रूपक मे होता है।

स्मृतिमान् (८)

स्मृतिमान्—सादृश्य के कारण किसी वस्तु के याद आने को स्मृतिमान् कहते है। यथा—

चद सुधा सदन बिलोके तेरे बदन के
सुधि आई ता समै मदन सागी दौर है।
(दूलह)

पन्नग मीन कपोत चकाचकी बाल मरालन केते गहे हैं,
बिद्रुम औ' मुकता पुखराज बिसाहिबे को अति नेह नहे हैं।

देख्यो तुम्हें जब सों, तब सों उनके ढँग ये रघुनाथ लहे हैं ;
रोज तमासे को जात तितै, जितै ओजसौ फूलि सरोज रहे हैं।

(रघुनाथ)

यहाँ नायक ने नायिका को देखा, अनंतर उसके हृदय पर उपमेयों की इतनी तीव्र स्मृति जाग्रन् हुई कि उसको उपमानों को सग्रह करने तथा देखने की बान सी पड़ गई। यहाँ स्मृतिमान् अलकार व्यजनावृत्ति से गोचर होता है—अभिधा से नहीं।

'केसव' एक समै हरि-राधिका आसन एक लसै रँग-भीने,
आनँद सो तिय-आनन की दुति देखत दर्पन मैं दृग दीने।
भाल के लाल मे बाल बिलोकत ही भरि लालन लोचन लीने ;
सासन पीय सबासन सीय हुतासन मे मनौ आसन कीने।

(केशव)

यहाँ करुण रस सब अगो से पुष्ट होने से पूर्ण है, तथा स्मृति उसी का सचारो भाव है, और यही अलकार भी है, जो सादृश्य से सिद्ध होता है।

सघन कुंज, छाया सुखद, सीतल - मंद समीर,
मनु ह्वै जात अजौ वहे वा जमुना के तीर।

(बिहारी)

यहाँ वियोगावस्था मे भी सयोग का स्मरण सघन कुज, सुखद छाया, शीतल मद समीर के सादृश्य के कारण आया है, जो बातें सयोग की दशा में भी थी।

कुंद मयंक, सरोज बिलोचन, किंसुक तीसरो लोचन लाल है ;
आरसी फूल हलाहल के सम, कंज सनाल त्यों सूल कराल है।
पीरे प्रसून बघंबर बेस, पराग की पुंज बिभूति बिसाल है ;
ऐसो बसंत को बानक देखि हिये बिच आवत संकर ख्याल है।

(विशाल)

किंसुक = पलाश-पुप। आरसी = अलसी का फूल

वैधर्म्य में स्मृतिमान्—राघवानंद महापात्र सादृश्य के अतिरिक्त वैधर्म्य से भी स्मृति अलंकार मानते हैं। यथा—

"जब-जब शिरीष पुष्पवत् कोमला सीता को पर्वतों में चलने से कष्ट होता है, तब-तब राम को उनके राजसदनवाले सुखों का स्मरण आता है।"

समझ ऐसा पड़ता है कि यहाँ स्मृति रस का अवयव (अंग)-मात्र है, न कि अलंकार भी। आचार्यों ने स्मृति में सादृश्य आवश्यक माना है। दर्शन-शास्त्र में स्मरण कई सादृश्य से इतर कारणों से भी कहा गया अथच ठीक भी है, किंतु आचार्यों ने अलंकार का चमत्कार केवल सादृश्यवाले कथन में माना है।

इसी भाँति निम्नाङ्कित उदाहरण में वैधर्म्य से स्मृति का होना वर्णित है। यह वस्तुत स्मृति संचारी भाव-मात्र है, स्मृतिमान् अलंकार नहीं :—

> ज्यों-ज्यों इत देखियत मूरख विमुख लोग
> त्यों-त्यों सुखरासी-ब्रजवासी मन भावै है ;
> खारे जल छीलर दुखारे अध-कूप देखि
> कालिंदी के कूल काज मन ललचावै है।
> जैसी अब बीतत सो कहत बनै ना बैन
> 'नागर' न चैन परै प्रान अकुलावै है ;
> थूहर-पलास देखि-देखि कै बबूर बुरे
> हाय हरे हरे वे तमाल सुधि आवै है।
> (नागरी दास)

भ्रांतिमान् (९)

भ्रांतिमान्—सादृश्योद्भव कवि-कल्पित भ्रम के अनाहार्य-(बनावटी नहीं, असली) वत् वर्णन में भ्रांति अलंकार है।

विशेष—आचार्यों ने असली भ्रम में अलंकार नहीं माना है, जो केवल कवि कल्पित भ्रम में समझा गया है। यदि सीप मे चाँदी का और रात मे ठूँठ से मनुष्य का भ्रम हो, तो भाषा-संबंधी चमत्कार न होने से आचार्य अलकार नहीं मानते। किंतु —

> आभा तरिवन लाल की परी कपोलनि आनि,
> कहा छिपावति चतुर तिय, कंत-दंत छत जानि।
>
> (मतिराम)

में माना है, क्योंकि यहाँ भ्रम वास्तविक न होकर कवि-कल्पित है। नीचेवाले दोनो दोहो में भी यही बात है। पहले में भ्रम का निवारण हो गया है, किंतु नीचेवालो ने नहीं हुआ है।

> पायँ महावर देन को नायन बैठी आय,
> फिरि-फिरि जानि महावरी एँड़ी मीड़ति जाय।
>
> (बिहारी)

> कौहर-सी एँड़ीन की लाली लखे सुभाय;
> पायँ महावर देन को आय भई बेपाय।
>
> (बिहारी)

> नवल नवाब खानखानाजू तिहारे त्रास
> भागे देसपति धुनि सुनत निसान की,
> 'गग' कहै तिनहूँ की रानी रजधानी तजि
> बन बिललानी, सुधि भूलीं खान-पान की।
> तेई मिली करिन, हरिन, मृग, बानरन,
> तिनहूँ सों तहाँ भली भई रच्छा प्रान की;
> सची जानी करिन, भवानी जानी केहरिन,
> मृगन कलानिधि, कपिन जानी जानकी।
>
> (गंग)

महाकवि गंग के इस छंद में भी कवि-कल्पित भ्रम है। नीचे का छंद देखने को तो अपह्नुति का भी रूप लिए हुए है। किंतु है वास्तव में भ्रांतिमान् ही, क्योंकि यह अपह्नुति के लक्षण में नहीं आता। यथा—

नाग नहीं, बर बेनी बिराजति, चंद नहीं, सिर - फूल रसाल है ;
गंग नही, मुकुतान की माल, हलाहल नाहि, मृगम्मद ख्याल है।
है न बघंबर, सारी अनूप बिभूति नहीं, अँगराग बिसाल है ;
हे रतिनाथ, सतावै कहा, बिधु-भाल नहीं, यह सुंदर बाल है।
(बिशाल)

घोर घटा जटाजुट बिराजत, बारि बिसाल सु देव-नदी-सम ;
चंचला चारु छुपाकर की छटा स्यामलता बिष सों न कछू कम।
त्यों धुरवा-सी बिभूति लसै धुरवान की धार सो ब्याल अनूपम ,
यों ऋतु पावस को लखि रूप भयो सबको सिव संकर को भ्रम।
(बिशाल)

इस छंद में भ्रांतिमान् अलंकार है। यथावा :—

दृग लाल बिहारी के देखे जाते हैं मृग संग कोर लगे ,
जुल्फों को अहिपति समझ यार ये भ्रम के मारे मोर लगे।
तन कमल गुलाब कली समझा देखे से भौंरे भोंर लगे ,
मुख शरद सुधाकर जानो का फिरते हैं संग चकोर लगे।
(सीतल)

संदेहवान् (१०)

संदेहवान्— में सादृश्योद्भव संशय होता है।

भ्रांतिमान् में निश्चय होता है, किंतु इसमें संशय बना रहता है। यथा—

कै यह फूल्यो पलासन को बन, कै बर होलिका को रँग राजत ;
कै जल- सागर को बडवानल, कै रबि प्रात समै छबि छाजत।

कै रन मैं करवाल 'बिसाल' किधौ चकचौधत चंचला भ्राजत ;
कै बजरंग बली बिकराल, किधौ सिव को चख लाल बिराजत ।

(विशाल)

बारन उबारन के हेत कैधौ आतुर ह्वै
निकसो तरंगिनी के तीर के अचल सों,
कैधों बन-बागन सों, तट के तड़ागन सों,
पुहुप परागन सो, कैधों नव थल सो ।
कैधों कढ़ो सरस पुनीत पदमाकर सों,
अनिल सो, कैधौ कल कमल के दल सों,
प्रगटो भुसुंड सो कि दल ही के खंड सों
कि गरज प्रचंड सों कि नन ही के जल सो ।

(उमेश)

इसमें देखने को तो संदेहवान्-सा लगता है, किंतु है नहीं, वरन् यह वितर्क संचारी का उदाहरण है । इसमें सादृश्य का अभाव है ।

मुख सरद-चंद पर श्रम-सीकर जगमगै नखतगन जोती-से ;
कै दल गुलाब पर शबनम के है कनके रूप उदोतो-से ।
हीरे की कनियाँ मंद लगैं, हैं सुधा किरन के गोती-से
आया कै मदन आरती को धर कनक-थार पर मोती-से ।

(भूषण के वंशधर शीतल कवि)

बानी को बसन कैधों बात के बिलास डोलै,
कैधों मुख - चंद्र चारु चंद्रिका - प्रकास है ;
कबि 'मतिराम' कैधों काम को सुजस, कै
पराग-पुंज प्रफुलित सुमन सुबास है ।
नाक नथुनी के गज मोतिन की आभा, कैधौं
देहवंत प्रगटित हिय को हुलास है ;

सीरे करिबे को पिय नैन सार कैधौं
बाल के बदन बिलसत मृदु हास है ।
(मतिराम)

जानी इन गुल रुख़सारो पर शबनम का जड़ा पसीना है ;
या लाल बदख़्शाँ पर दिलवर इलमासी जड़ा नगीना है ।
समझे यह रंज वही ज़ालिम जो इश्क दरद में बीना है ;
हिम कर पर अख़्शाँ जडे हुए या किया जौहरी मीना है ।
(सीतल)

रुख़सार=कपोल, शबनम=ओस

लखे वहि टोल मैं नौल वधू मृदु हासनि मेरो भयो मन डोल ;
कहौं कटि छीन को डोलनो डौल कि पीन नितंब उरोज को तोल ।
सराहौं अलौकिक बोल किलोल कि आनन-कोष को रग तमोल ;
कपोल सराहौ कि नील निचोल किधौं बिब लोचन लोल अमोल ।
(दास)

यहाँ पहले कई उदाहरण तो संदेहवान् में आते हैं, किंतु अंतिम सादृश्योद्भव न होने से नहीं आता । कवि का प्रयोजन यह है कि सारे अंग परम श्रेष्ठ हैं, जिससे वह निश्चय नहीं कर पाता कि किसे सराहना के लिये चुने । उसे संदेह नहीं है ।

संदेहवान् और द्वितीय समुच्चय का भेद—

आनि के सलाबतखाँ जोर कै जनाई बात,
तोरि धर पंजर करेजे जाय करकी ;
दिलीपति साहि को चलन चलिबे को भयो,
गाज्यो गजसिंह को सुनी जो बात बरकी
कहै 'बनवारी' पातसाह के तखत पास
फरकि-फरकि लोथि लोथिन पै अरकी ;

बाढ़ि की बड़ाई कै बडाई बाहिबे की करौ,
कर की बड़ाई, कै बडाई जमधर की।
(बनवारी)

जमधर (तलवार), उसकी बाढ़ि (धार), चलाने की युक्ति तथा हाथ, इन चार वस्तुओं की बड़ाई हो सकती है। कवि कहता है, इन चारों में से मैं किसकी प्रशंसा करूँ ? प्रयोजन यह है कि सब हेतु पूर्णतया समर्थ हैं, सो इनमें से कार्य किस हेतु द्वारा हुआ, सो संदिग्ध है। यहाँ संदेहवान् अलंकार न होकर (नं० ५४) द्वितीय समुच्चय है, जिसका वर्णन आगे होगा।

दासजीवाला छंद भावभेद में जायगा। यदि यह अर्थ किया जाय कि 'मेरे मन को चंचल करने की कारणता वर्णित सभी कारणों में समान है' तो यहाँ समुच्चय अलंकार माना जा सकता है।

अपह्नुति (११)

अपह्नुति का सम्मिलित लक्षण—वर्ण्य या अवर्ण्य का नकार लाकर या हेतु देकर पर्यस्त, भ्रांत छेक या कैतव द्वारा निषेध लाने अथच उस निषेध के हेतु में या हेतु के विचारने में जहाँ चमत्कार हो, वहाँ अपह्नुति अलंकार माना जाता है।

इसके छः भेद हैं—शुद्ध, हेतु, पर्यस्त, भ्रांत, छेक और कैतव अपह्नुति। इन में कभी तो हेतु के विचारने, तथा कहीं हेतु में ही प्रत्यक्ष चमत्कार होता है।

(१) शुद्धापह्नुति—में नकार भाववाले शब्द लाकर किसी का निषेध करके उसे दूसरा ठहराया जाता है। यथा—

पारवार पीतम को प्यारी ह्वै मिली है गंग,
मोरि चारु अंग मन मानें न निहारिकै ;

छिन-छिन सागर मैं उठैं त्यों मतंग सम
प्रबल तरंग कबि बरनै बिचारिकै।
जरत-बरत बड़वानल सों बारिनिधि,
बीचिन के सोर सों जनावत पुकारिकै;
ज्यावत बिरंचि ताहि प्यावत पियूष निज
कलानिधि-मंडल-कमंडल ते ढारिकै।
(मतिराम)

कवि का प्रयोजन यह है कि गगाजी प्रिया बनकर समुद्र में नहीं मिली हैं, वरन् सिंधु को बड़वानल से जलते अथच तरंगो द्वारा पुकारते देखकर ब्रह्मा चंद्रमा-रूपी कमंडल से गंगा रूपी अमृत ढालकर समुद्र को पिलाते हैं। "मन का न मानना" नकारवाचक शब्द हैं, जो वास्तविक वस्तु का निरोध करता है।

चमकती चपला न फेरत फिरगै भट,
इंद्र को न चाप रूप बैरख समाज को;
धाए धुरवा न छाए धूरि के पटल मेघ,
गाजिबो न बाजिबो है दुंदुभि दराज को।
भौसिला के डरन डरानी रिपु रानी कहै,
पिय भजौ देखि उदो पावस के साज को;
घन की घटा न गज घटन सनाह साजे,
'भूषन' भनत आयो सेन सिवराज को।
(भूषण)

यह नहि जवक है सखी, पिय अनुराग-प्रमान;
हठि लाग्यो तव पगन मैं, मेटत मान अमान।
(बैरीशाल)

अनुराग (प्रेम) का भी रंग लाल माना गया है, जिससे जावक को

नकार देकर वह अनुराग कहा गया है। सब उदाहरणों में शुद्धापह्नुति स्पष्ट है।

(२) हेत्वपह्नुति—मे कारण कथित होकर एक के निषेध-मूलक अन्य का कथन होता हे। यथा—

जिन मुच्छन धरि हाथ कछू जग सुजस न लीनो,
जिन मुच्छन धरि हाथ कछू पर-काज न कीनो।
जिन मुच्छन धरि हाथ दीन लखि दया न आनी,
जिन मुच्छन धरि हाथ कबौ पर-पीर न जानी।
अब मुच्छ नही ते पुच्छ है, कवि'भरमी'उर आनिए,
चित दया-दान सनमान बिन मुच्छ न नर-मुख जानिए।

(भरमी कवि)

यहाँ चार पदो तक कारण देकर पाँचवे में मुच्छ का निषेध करके पुच्छ बतलाने से हेत्वपह्नुति है, छठ पद में सब पदों का निष्कर्ष कथित है।

ससि तौ न होइ है गरम, रबि है न राति,
जानियत निकस्यो ज्वलन जलनिधि सों।

(रघुनाथ)

यहाँ कवि उष्णता के कारण चद्र का तथा रात्रि के कारण सूर्य का निषेध करके चद्र को समुद्र की ज्वाला बतलाता है। चद्र मे गरमी वियोग-वाले कथन के कारण कही गई है।

यह नहिं बदन प्रिया को, मनुजन मैं न पियूष,मन भूल्यो ;
ससि न मही को बासी, अमृतलता को सुमन फूल्यो।

(बैरीशाल)

कवि नायिका के मुख का वर्णन करता हुआ कहता है कि इसमें अमृत होने से यह मुख नहीं हो सकता, क्योंकि मनुष्यो में अमृत नहीं होता।

यह चंद्र भी नहीं है, क्योकि वह पृथ्वी पर नहीं बसता। इन कारणो से यह अमृतलता का फूल फूला है। वक्ता का तात्पर्य है कि स्त्रियों में इतनी मिठास नही होती, अथच वह स्त्रियों में अद्वितीय है।

तिय मैं इतौ न रूप तन, थिर न चंचला-जोति ;
मंदिर मैं मनिमाल यह जगमग-जगमग होति।
(सोमनाथ)

नायिका के विषय में कवि कहता है कि स्त्री में इतना रूप असंभव होने अथच बिजली अस्थिर होने से यह स्त्री या बिजली नहीं है, अतएव भवन में जगमगाती हुई मणि की माला है।

अति तीच्छन नहिं चाँदनी, तीच्छन धूप न होय ;
बड़वानल की लपट यह, कहौ सहै किमि कोय ?
(ऋषिनाथ)

विरहिणी नायिका चाँदनी का कथन करती हुई उसे कारण देकर बड़वानल की लपट कहती है।

ये नहि फूल गुलाब के, दाहत हियो अपार,
बिनु घनस्याम अराम मे लागी दुसह दवार।
(पद्माकर)

विरहिणी नायिका गुलाब को कारण देकर दावाग्नि कहता है।

कोऊ हलाहल को जु कहै बिस, भोरैं कहै मतिमूढ बृथा जन ;
मेरे तौ जान रमा बिस है, लहरैं अति दौरतीं जाकी सदा मन।
ताको प्रमान प्रतच्छ प्रकासि कहैं कबि-कोबिद पेखि पुरानन ;
खाइकै जागत संभु बिसै, हरि सोवत हैं परसे जु रमा-तन।

(३) पर्यस्तापह्नुति—मे एक वस्तु से धर्म का निषेध होकर दूसरी में उसका आरोप होता है।

इसमें प्रायः वही शब्द दो बार आता अवश्य है, किंतु यह बात लक्षण के लिये अनावश्यक है। यथा—

तुम करतार जग रच्छा के करनहार,
पूरन मनोरथ हौ सब चित चाहे के ;
यहै जिय जानि 'सेनापति' हू सरन आयो,
हूजिए सहाय मोहिं ताप दाप-दाहे के।
जो कहौ बिचारि मम करम अनैसे, हम
गाहक न ह्वै सकत मुक्ति रस लाहे के,
आपने करम करि हौं ही निबहौंगो, तौब
हौ हीं करतार, करतार तुम काहे के ?

(सेनापति)

कवि कहता है, मैं जो यातनाओं के दर्प से दग्ध हूँ, उसकी सहायता कीजिए। यदि कहिए कि निकृष्ट कर्मों के कारण मैं मुक्ति (फल-भोग)-लाभ के योग्य नहीं हो सकता, तो मेरी गति मेरे ही कर्मों के अनुसार होने से मैं ही करतार हुआ जाता हूँ। ऐसी दशा में भगवान् करतार कैसे हैं ? यहाँ करतारपन का धर्म भगवान् के पास से निषेधित होकर दास में आरोपित किया गया है।

है न सुधाधर मै, सुधा है तो अधर मैं,
सुकरमै सराहौ प्यारी रसना हमारी के।

(दूलह)

इसमें चद्रमा से सुधा की स्थिति का निषेध होकर अधर में स्थापित हुई है। सुधाधर और सुधा अधर के पद भी दो बार आए हैं।

पर्यस्ताग्ह्नुति रूपक क्यो नही ?—जगन्नाथ पंडितराज का विचार है कि यहाँ दृढ़ारोप रूपक-मात्र समझना चाहिए, पर्यस्तापह्नुति नहीं, क्योंकि किसी धर्म का कहीं दृढ़ता पूर्वक आरोप करने को ही उसका दूसरे स्थान से निषेध किया जाता है।

रूपक में चमत्कार आरोप का होता है, तथा अपह्नुति में निषेध का। यथा, तुम यज्ञपाल राम हो—रूपक। यहाँ उपमेय "तुम" को उपमान "राम" के रूप मे रंजित करने में चमत्कार है, तथा ऊपरवाले में उपमान चंद्र से सुधा के निषेध का कारण सोचने मे चमत्कार है।

प्रयोजन यह है कि चाँद सुधा मुखवाली के सामने ऐसी फीकी है कि न होने के समान है। अतएव चमत्कार आरोप मे नहीं है, वरन् निषेध में है।

अरुन असित सित रँग रँगे तीच्छनता के ऐन ;
मैन बान मोहन न जग, मोहन सोहन नैन।
(ऋषिनाथ)

कामदेव के नाराच जग मोहनेवाले न होकर नैन मोहित करनेवाले हैं।

है न चंद वह, चंद अलि राधा बदन बिचारि ;
हरि चकोर निसि-द्यौसहू जीवित जाहि निहारि।
(वैरीशाल)

हिये लाल के चुभत ही बे सुधि किए निदान,
मनमथ के सर बान नहिं, तिय-दृग तीच्छन बान।
(सोमनाथ)

बादि बकै बृथा सागर मैं कोऊ, भूतल सोधि कहै अगरी है ;
इंदु मै केते मुनिंद कहै, सुरधाम मै काहू कि बुद्धि अरी है।
और तिलोक बिलोकि सबै, 'लेखराज' यों चित्त बिचार करी है ;
है न सुधा बसुधा मे कहूँ, लखि लीजिए गंग के बीच भरी है।
(लेखराज)

अगरी = यहाँ यह प्रयोजन है कि पृथ्वी शोधकर कहते हैं कि यहाँ

नहीं, कहीं आगे है। दूसरे स्थानों से अमृत का निषेध करके गंगाजी में उसका आरोप होने से पर्यस्तापह्नुति प्राप्त होती है। अन्य उदाहरण—

कथा मैं न, कथा मैं न, तीरथ के पथा मैं न,
पोथी मैं न, पाथ मैं, न साथ की बसीति मै,
जटा मै न, मुंडन न, तिलक-त्रिपुंडन न,
नदी - कूप - कुंडन अन्हान दान - रीति मैं।
पीठ-मठ मंडल न, कुंडल - कमंडल न,
माला दंड मै न 'देव' देहरे की भीति मै;
आपु ही अपार पारावार प्रभु पूरि रह्यो,
पाइए प्रगट परमेसुर प्रतीति मैं।
(देव)

भगवान् का वास यहाँ कई स्थानो से निषेधित होकर प्रतीति में स्थापित होने से पर्यस्तापह्नुति प्राप्त हुई।

(४) भ्रांतापह्नुति—में किसी वस्तु का अनिश्चित वर्णन करते हुए भ्रांति के बहाने से किसी अन्य द्वारा वह कथन दूसरा ठहराए जाने पर सत्य वस्तु कहकर उसका चमत्कार पूर्ण स्पष्टीकरण होता है।

विशेष— जानना चाहिए कि भ्रांतापह्नुति के विषय मे यह हमारा स्वतंत्र मत-मात्र है। अन्य सब आचार्य भ्रम पड़ जाने में सत्य प्रकट करके किसी के शंका दूर करने-मात्र में यह अलंकार मानते हैं।

असली भ्रम श्रोता को भी नहीं होता, किंतु कारण-वश वह उसे प्रकट-भर करता है। यथा—

आली ! नैन लागे आजु, भली भई नींद आई;
मेरे बनमाली सों दुराव तोसो का करै।
(दूलह)

यहाँ भ्रम यदि आहार्य (अवास्तविक) न मानकर अनाहार्य (वास्तविक) मानें, तो अलंकार बहुत कुछ भ्रांतिमान् से मिल जाता है। इसलिये भ्रम का आहार्य होना आवश्यक है। नायिका कहती है—'हे सखी! आज नैन लागे' (अर्थात् श्रीकृष्णचंद्र से आँखें चार हुईं), पर सखी ने 'नैन लागे' का अर्थ आहार्य भ्रांति के सहारे निद्रा आ जाना ही ठहराया और कहा 'भली भई नींद आई'। तब (यह जानती हुई कि सखी को वास्तव मे भ्रम नहीं हुआ) नायिका वास्तविक सत्य कहकर उसका स्पष्टीकरण करती है कि—'मेरे वनमाली सों दुराव तो सो का करै'। जिसका तात्पर्य है कि वास्तव में 'नैन लागे' से मेरा अभिप्राय श्रीकृष्णचंद्र से नेत्र लगे हैं, से है, और यही वास्तव में नेत्र लगना है। यहाँ नायिका यद्यपि सखी के भ्रम को आहार्य (बनावटी) जानती है, तथापि उसके भ्रम को अनाहार्य (वास्तविक)-सा स्वीकार करती हुई अपने को भ्रम होना प्रकाशित करती है। अतएव अत तक भ्रम का निर्वाह हो जाता है, जो चमत्कार का आधार है। अत यहा प्रथम सखी को और फिर नायिका को भ्रम (आहार्य) क्यो हुआ, यह सोचने में आनंदानुभव होता है। (आहार्य का अर्थ मोटे तौर से बनावटी और अनाहार्य का नही बनावटी यानी असली है) दास निम्न-लिखित छंद में भ्रांतापह्नुति मानते हैं।

आनन है अरबिंद न फूलो, अलीगन ! भूले कहा मडरात हौ ?
कीर ! तुम्हैं कत वायु लगो, भ्रम बिंब कै ओठन पै ललचात हौ।
'दास'जू ब्याली न बेनो रची, तुम पापी कलापी ! कहा इतरात हौ ?
बोलत बाल, न बाजती बीन, कहा सिगरे मृग घेरत जात हौ।
(दास)

केवल भ्रम के निवारण में भ्रांतिमान् से पृथक् कोई चमत्कार नहीं देख पड़ता, किंतु यदि बनावटी भ्रम हो, तो पते की बात युक्ति-पूर्वक जानने या मूर्ख बनाने आदि का भाव व्यंजित होता है, जिससे इतर चमत्कार की

वृद्धि से पृथक् अलकारत्व मिल सकता है। इसीलिये दासजीवाला उदाहरण वास्तव मे भ्रांतिमान् (नं० ६) से इतर अन्य अलंकार नहीं।

बरजोरी होरी समै आँखिन गयो समाय;
सखि ! गुलाल ? नहिं बनक बनि नंदलाल इत आय।
(ऋतिनाथ)

यह उदाहरण दूलहवाले के समान है। नायिका की 'आँखिन गयो समाय' इस उक्ति को ठीक-ठीक समझते हुए भी सखी विनोदार्थ गुलाल स्थापित करती है। अत में नायिका (यह जानते हुए भी कि सखी को भ्रम नही हुआ है,) उसे गलत समझी हुई मानकर स्वतः 'नदलाल' का नाम ले देती है और प्रकट करती है कि वह सखी की हँसी को बिलकुल नही समझी, एवं इस प्रकार सखी का ही परिहास उसी के परिहास मे परिणत हो जाता है। ऐसा ही भाव नीचेवाले पद्य में भी है—

दृग जल कँपत सरीर भयो पीत मुख, ज्वर कहा ?
एरी वहै अहीर, कछू बोलि मति ह्वै गयो।
(गोकुलनाथ)

(५) **छेकापह्नुति**—मे अनिश्चित वर्णन मे श्रोता जब असली बात ताड़ जाता है, तब वक्ता दूसरा अर्थ कहकर निषेध करता है। यथा—

अर्द्ध निसा मे आवै भौन, सुदरता बरनै कहि कौन;
जाके आए होत अनंद, कहि सखि सज्जन ? नहि सखि चद।

यहाँ नायक का वर्णन किया जा रहा था, वह चंद्र पर घटित कर दिया गया।

स्यामल तन, पीरो बसन मिलो सघन बन भोर ;
देखो नंदकिसोर अलि ? ना अलि ! अलि चितचोर ।
(ऋषिनाथ)

इसमें श्रीकृष्णवाला अर्थ भ्रमर पर घटाया गया है । आगे आनेवाले उदाहरण में अर्थ भोर तथा शिवाजी पर बाँधा गया है ।

तिमिर - बंस - हर अरुन - कर आयो सजनी भोर ;
सिव सरजा ? चुप रहि सखी, सूरज-कुल-सिरमोर ।
(भूषण)

रही रुकी क्यों हूँ सु चलि आधिक राति पधारि ;
हरति ताप सब द्यौस कौ, उर लगि यारि ? बयारि ।
(बिहारी)

नायक की अंतरंग मित्र से उक्ति—(आज) कहीं कार्य-वश रुक गई, इस कारण समय हो जाने पर भी न आ सकी । वह सारे दिवस का ताप हरण करनेवाली है । दूसरा मित्र कहता है, क्या नायिका ? नायक उसमे नहीं बतलाना चाहता, अत. कहता है, नहीं , मैं वायु का वर्णन करता हूँ ।

साँवरो सलोनो गात, पीतपट सोहत है,
अंबुज - से आनन पै परै छबि ढरकी ;
मंत्र ऐसी, जंत्र ऐसी, तंत्र - सी तरकि परै ,
हँसनि चलनि चितवनि त्यों सुघर की ।
'गोकुल' कहत बन कुंजन को बासी लखे ,
हाँसी-सी करत है री काम कलाधर की ;
इतने मैं बोली आनि मिले हरि सुखदानि ?
नाहीं, मै कहानी कही राम रघुबर की ।
(गोकुलनाथ)

सूचना—छेकापह्नुति का (नं० ८६) व्याजोक्ति से अंतर उसी में देखिए।

(६) **कैतवापह्नुति**—में छल, मिसि, व्याज आदि वाची शब्दों से निषेध होकर किसी अन्य का स्थापन होता है। यथा—

सुंदर - बदनि राधे ! सुषमा - सदन तेरो
बदन बनायो चारिबदन बनायकै ;
ताकी छबि लेन को उदित भयो रैनिपति ,
मूढ - मति रह्यौ निज कर बगरायकै।
कहै 'मतिराम' निसिचर चोर जानि ताहि
दीन्ही है सजाय कमलासन रिसायकै ,
रातौ-दिन फिरै अमरालय के आस-पास ,
मुख मैं कलंक मिसि कारिख लगायकै।
(मतिराम)

साहिन के सिच्छक, सिपाहिन के पातसाह ,
संगर मैं सिंह - कैसे जिनके सुभाव हैं ;
'भूषन' भनत सिव सरजा कि धाक ते वै
काँपत रहत, चित गहत न चाव हैं।
अफजल की अगति, सासता की अपगति ,
बहलोल बिपति सों डरे उमराव हैं ,
पक्का मतो करिकै मलिच्छ मनसब छोड़ि
मक्का ही के मिस उतरत दरियाव हैं।
(भूषण)

अरध्वस्त कै धौरे धराधर को भभकी धरा पै धुनि धारती है ;
धुव धर्म को धीर दै धामनि-धामनि धोखेहु धोख न पारती है।

भर धर्षित बिस्नु धकाधकी कै अघ - ओवन धूरि लौं झारती है ;
'लेखराज' के पाप धुवै मिस देवधुनी बर धार धुकारती है।
(लेखराज)

इन तीनो मतिराम, भूषण और लेखराज के उदाहरणों में केवल मिस आदि वाची शब्दों से निषेध प्रकट हुआ है, अन्य प्रकार से साफ़-साफ़ नहीं, जैसा कि अन्य अपह्नुतियों में होता आया है। यही दशा नीचे के उदाहरण मे भी है—

गाज के समान तब गरजि-गरजि तोप
अरिन के हिरदै हलावन के चोप सों,
परम प्रचंड बल धारि दुसमन दिसि
पूरित कियो है नभ गोलन के ओप सों।
उमडि भुवाल सिवराज को प्रताप-पुंज
बोरन चहत मनु बैरिन को जाल है ;
गोलन के तेज मिस छादित करत नभ,
तासु लहरिन को समूह बिकराल है।
(मिश्रबंधु)

प्रयोजन यह है कि गोलों का तेज न होकर यह शिवाजी का प्रताप-पुंज है।

दूलह के निम्नोक्त छदो में सब अपह्नुतियो के लक्षण तथा प्राय. सबके उदाहरण आ गए हैं। यथा—

आन ठहरावै, मुख्य बस्तु को छपावै,
सुद्धापह्नुति, ये नैन हैं न, कज छबि भारी के ;
जुगुति सों वहै हेत्वपह्नुति, ये कंज नाहीं,
कंज किते अंजन ये खंजन हैं जारी के।

परजस्तापह्नुति बखानै आन मैं जु आनि,
सांचे बैन जानौ कबि 'दूलह' करारी के;
है न सुधाधर मैं, सुधा है तो अधर मैं,
सुकरमै सराहौ प्यारी रसना हमारी के।
(दूलह)

आन के भए ते भ्रम भ्रम को निवारै जहाँ,
तहाँ भ्रांतापह्नुति बखानी कबि आदरै;
आली नैन लागे आजु, भली भई नींद आई,
मेरे बनमाली सौं दुराव तो सौं का करै।
आन सुनि संका मानि, आन ठहरावै जहाँ,
वहै छेकापह्नुति जुतथ्य गोपना करै;
कैतव अपह्नुति जु कैतव कै गोपै ऐन,
बैन मिसि मोहन के मुख सौं सुधा ढरै।
(दूलह)

उत्प्रेक्षा (१२)

उत्प्रेक्षा—मे एक वस्तु को अन्य वस्तु के रूप में, अहेतु को हेतु के रूप मे या अफल को फल के रूप मे, निश्चय तक न पहुँचते हुए, उत्कट भाव से आहार्य (बनावटी) ज्ञान पूर्वक देखना होता है।

मम्मट-कृत काव्य-प्रकाश की टीका उद्योत में कहा है —"उत्कटा-प्रकृष्टस्य उपमानस्य ईक्षाज्ञानं उत्प्रेक्षा।" उत्कट प्रबल को कहते हैं, ईक्षा देखने को तथा अप्रकृष्ट = प्रबल नहीं, अर्थात् प्रबल न भी हो। प्रबल भी हो, और प्रबल न भी हो, दोनो वस्तु साथ ही होना असभव

हैं। अतः उपमान के रूप में प्रबलता से (निश्चय तक न पहुँचते हुए) देखने के ज्ञान को उत्प्रेक्षा कहते हैं।

उत्प्रेक्षा के मुख्य भेद तीन हैं, अर्थात् वस्तु या स्वरूप, हेतु और फल। वस्तूत्प्रेक्षा के उक्तविषया और अनुक्तविषया-नामक दो भेद हैं। इसी प्रकार हेतु और फल के सिद्ध और असिद्धविषया-नामक दो-दो भेदांतर हैं, जिससे उत्प्रेक्षा के छ भेद हो जाते हैं। तथा यही भेद गम्योत्प्रेक्षा में भी होने से १२ भेद हुए—
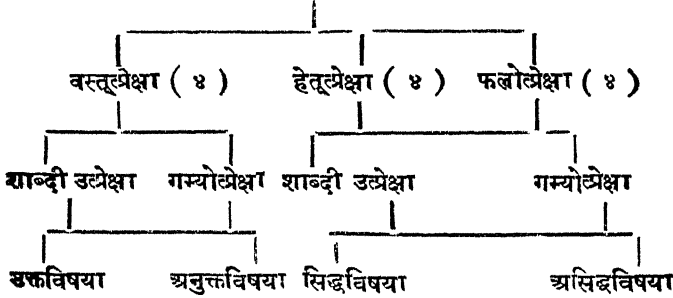
उत्प्रेक्षावाची शब्द—मानना, शंका करना, निश्चय करना, बहुधा, इव, लौं आदि उत्प्रेक्षा वाचक शब्द हैं। इन वाचकों के कहीं कथित और कहीं अकथित (लुप्त) होने के कारण हरएक उत्प्रेक्षा में वाच्य उत्प्रेक्षा और गम्योत्प्रेक्षा के भेदांतर माने गए हैं।

(१) वस्तूत्प्रेक्षा (स्वरूपोत्प्रेक्षा)—में किसी वस्तु (स्वरूप) का अन्य (वस्तु) के रूप में उत्प्रेक्षा करना होता है।

१—उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा—विषय उपमेय है। जहाँ उपमेय और उपमान, दोनों शब्दों द्वारा पृथक्-पृथक् कहे गए हों, वहाँ उक्तविषया होगी। यथा—

थोथि थुरकीली, ढुरकीली बिधु-कला भाल,
सरसीली भौंहनि समाधि सरसति है ;
प्रानायाम साँसन, कलित कमलासन के,
बिघन बिनासन की बासना बसति है।
सिंदुर भरो भुसुंड सोभित अनंत, गज-
बदन के रदन की दुति यो लसति है,
साँझ समै छीरनिधि नीर के निकट मानो
द्वैज के कलाधर की कला बिलसति है।
(जनगोपाल)

थोथि=कुछ बढ़ा हुआ पेट। थुरकीली=थुलुर-थुलुर करता हुआ। यहाँ उपमान और उपमेय, दोनों कोटियों के कथित होने से उक्त-विषया वस्तूत्प्रेक्षा है।

लखे रुंडन पै रुंड औ' बितुंड बिन सुंड कटे,
बाजि रथ कवच अमित दरसात;
कहूँ भूसननि जटित भुजा हैं रनखेत परे,
अंग-भग सुभट अनेकन लखात।
चढ़ीं भौंहें ज्यो कमान, परे मुंड बेसुमार
सूर घायल अधर कहूँ दतन चबात,
बही सोनित की धार भरी हाड़-मेद-मास,
मनो रौद्र पै बिभत्स को दखल भयो जात।
(मिश्रबंधु)

यहाँ ऊपर उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा है।

बजत नूपुर मंद गति बसि आँगुरिन यहि भाँति,
मनहु तन धरि सुरुचि पग परि रूप बरनति जाति।

जटित जेहरि तड़ित-सी जुग गुलुफ पै छवि देत,
भानु अरु सितभानु को मनु करति मेल सहेत।
(मिश्रबंधु)

पौन भरै बर बाँसन मैं तिनसों मुरली-सम तान सोहाई;
पूरति होति दसौ दिसि मैं बन मैं अति ही स्रुति आँनददाई।
मानहु कुंजन मै बनदेव भरे मुद मंजुल बीन बजाई,
गावत कीरति भूपति की पय-फेन-सी जौन दिगंतन छाई।
(मिश्रबंधु)

ऊपर उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा दोनो में है।

हैबर हरट्ट साजि गैबर गरट्ट-सम
पैदर के ठट्ट फौज जुरी तुरकाने की;
'भूषन' तहाँई राय चंपति को छत्रसाल
रोप्यो रन ख्याल ह्वै कै ढाल हिंदुवाने की।
कैयक हजार एक बार बैरी मारि डारे,
रंजक दगनि मानौ अगिनि रिसाने की;
सैद अफगन सेन सगर सुतन लागी
कपिल सराप लौं तराप तोपखाने की।
(भूषण)

सोहत नलिनी-पत्र पर उत बलाक यहि भाँति,
मरकत-भाजन पै मनो लसत संख सुभ काँति।
(दास)

नलिनी = कमलिनी। बलाक = बगुला। मरकत = पन्ना।

यहाँ उत्प्रेक्षा के विषय हैं। नलिनी-पत्र और बलाक, तथा उनके रूपों को "मनो" पद के जोर से मरकत भाजन पर शंख कहकर वर्णन किया

गया है। उपमेय-कोटि में नलिनी और बलाक हैं तथा उपमान-कोटि में मरकत और शख। "मनो" शब्द के योग से उपमान-कोटि के रूप में देखने की प्रबलता (निश्चय तक न पहुँचते हुए) वक्ता प्रकट करता है। दोनो कोटियो के कथित होने से उक्त विषया है।

यों मुनि के कहतैहि अनंदित नंदिनि धेनु अनंदहि छाई;
आहुति साध निहारि मुनीस कि ताथर कानन सो चलि आई।
कोमल कोपल-सो तनु लाल, ललाटहि बंक लसै सित टीको;
साँझ समै नभ-मंडल मैं मनु राजत है नव बिब ससी को।
(मिश्रबंधु , कालिदास से अनुवाद)

फिर क्रम-ही-क्रम लाल-लाल रवि-बिंब लखानो,
ह्वै पूरन पुनि मनो थार सिंदूर सोहानो।
चल भ्रामक पै नहीं छिनक निज कर बगरायो,
लाल रूप धरि मनो चंड़बर गात दिखायो।
(मिश्रबंधु)

इन दोनो छदों में भी उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा है।

२—अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा—जहाँ उपमेय उक्त न हो (शब्द द्वारा न कहा गया हो), वहाँ होती है। यथा—

जगमगे जोबन अनूप तेरो रूप चाहि,
रति ऐसी रंभा-सी, रमा-सी बिसराइए;
देखिबे को प्रानप्यारी पास प्रानप्यारो खरो,
घूँघट उघारि नैंकु बदन दिखाइए।
तेरे 'अंग-अंग मैं मिठाई औ' लुनाई भरी,
'मतिराम' कहत प्रगट यह पाइए;

नायक के नैनन में नाइए सुधा-सी, सब
सौतिन के लोचननि लोन-सो लगाइए।
(मतिराम)

यहाँ नायक को सुख तथा सौतो को दुःख देने के भाव हैं। सुख और दुःख अकथित हैं, केवल उपमान अमृत नाना तथा लोन लगाना कहे गए हैं, जिससे अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा है। 'सी' और 'सो' उपमावाचक तथा उत्प्रेक्षावाचक भी माने गए हैं।

वस्तुमूलक गम्योत्प्रेक्षा (या प्रतीयमानोत्प्रेक्षा)—

जहाँ उत्प्रेक्षावाचक शब्द न हों, वहाँ गम्योत्प्रेक्षा होती है। यथा—

परसत ससि गृह ग्राम के सौध कहत सब लोग।
(चंदन)

यह चंद्रालोक द्वारा दिए गए संबंधातिशयोक्ति में अयोग्य को योग्य कल्पनावाले भेद का अनुवाद है।

वस्तुमूलक गम्योत्प्रेक्षा मान्य है या अमान्य ?—यहाँ उत्प्रेक्षा माननी चाहिए या संबंधातिशयोक्ति (नं० १३), इस विषय में पंडितराज तथा विश्वनाथ आदि मे मतभेद है। इस विषय को लेकर पंडितराज तथा रसगंगाधर के टीकाकार नागेश भट्ट के मत का सारांश दिया जाता है—

उदाहरण मे अट्टालिकाएँ मानो चंद्र-मंडल को छूती हैं, यह अर्थ हुआ। यदि यहाँ मानो शब्द उदाहरण मे न हुआ, तो इनके मत से यहाँ वस्तुमूलक गम्योत्प्रेक्षा माननी चाहिए, न कि संबंधातिशयोक्ति। मानो आदि के अभाव मे गम्योत्प्रेक्षा होती है, यह सर्व-

सम्मत है। अब यहाँ मानो के लोप में गम्योत्प्रेक्षा माननी चाहिए या संबंधातिशयोक्ति, इस वस्तु का मतभेद-मात्र रह जाता है।

पंडितराज तथा उनके टीकाकार का कहना है कि संबंधातिशयोक्ति उसी स्थान पर माननी चाहिए, जहाँ उत्प्रेक्षा की सामग्री का अभाव हो। इस उदाहरण में उत्प्रेक्षावाचक शब्द के अभाव मे उसकी सामग्री वर्तमान है ही, अत उत्प्रेक्षा का माना जाना सिद्ध हुआ। संबंधातिशयोक्ति में उनका कहना है कि ऐसे उदाहरण देने चाहिए, जिनमें उत्प्रेक्षा की सामग्री न हो। यथा—

"हे नीरद ! तुम्हारी धीर ध्वनि सुनकर मेरा मासिक गर्भ मेरे जठर में कूदता है।"

इस स्थान पर उत्प्रेक्षा की सामग्री का अभाव है। यह सिंहनी का मेघ से वचन है।

> भाल गुही गुन लाल लटैं लपटी लर मोतिन की सुख दैनी,
> ताहि बिलोकत आरस सों कर आरसी लै इक सारस नैनी।
> 'केसव' कान्ह दुरैं दरसी परसी उपमा मतिकौ अति पैनी ;
> सूरज-मंडल मैं ससि मंडल मध्य धसी जनु धार त्रिबैनी।
>
> (केसवदास)

उपर्युक्त छंद में सूर्य-मंडल के अंतर्गत शशि-मंडल और उस शशि-मंडल के मध्य त्रिवेणी की धारा को उपमान रूप से स्थापित किया गया है। यह उपमान का स्वरूप सरासर कवि कल्पित है, वास्तविक जगत् में संभव नहीं है। तथा 'जनु' के वाचक होने से उत्प्रेक्षा स्पष्ट है। यहाँ उत्प्रेक्षा की संपूर्ण सामग्री कवि-कल्पित होने से यदि वाचक 'जनु' को हटाकर उसके स्थान की पूर्ति 'सुचि' आदि विशेषणों से कर दी जाय, तो भी उत्प्रेक्षा-लंकार गम्य मान रूप में विद्यमान रहेगा, यह मत पंडितराज

का है, इससे गम्या-वस्तूत्प्रेक्षा हो सकती है, यह सिद्ध हो गया।

जहाँ उपमान-कोटि की प्रबलता हो, वहाँ उत्प्रेक्षा होती है। "मुख है कि चंद्रमा" में उपमान और उपमेय-कोटियाँ, दोनो बराबर हैं, जिससे संदेहालंकार है। भ्रांतिमान् में उपमान-कोटि में निश्चय हो जाता है, जैसे—

तव मुख-चंद्र बिलोकि कै यह चकोर ललचान।

(ब्रह्मदत्त)

इस छंदांश में निश्चय होने से भ्रांतिमान् है। जहाँ उपमान-कोटि प्रबल तो हो, किंतु निश्चय तक न पहुँचे, वहाँ उत्प्रेक्षा होती है। उपर्युक्त उदाहरण में "मानो" जोड़ने की आवश्यकता नहीं समझी जा सकती, क्योंकि विना इसे जोड़े भी अर्थ बन जाता है।

गम्योत्प्रेक्षा के सर्वभेद मान्य हैं अथवा अमान्य ?—

परसत ससि मनु सौध-गृह यहै कहत सब लोग।

यहाँ मनु शब्द के कारण उपमान-कोटि प्रबल हो जाने से उत्प्रेक्षा का माना जाना उचित ही है, परंतु इस दूसरे रूप—

परसत ससि गृह ग्राम के सौध कहत सब लोग।

वाले उदाहरण मे यदि "मानो" को ऊह्य न माने, जैसा अर्थ लगाने में आवश्यक भी नहीं, तो सौध का ससि तक निश्चय-पूर्वक पहुँच जाने के कारण उत्प्रेक्षा नहीं बनती। गम्योत्प्रेक्षा के हरएक रूप में यही कठिनाई पडेगी। अतः उत्प्रेक्षा का यह भेद (गम्योत्प्रेक्षा) मानना ही ठीक नही बैठता। फिर भी आचार्यों ने इसे माना अवश्य है। अतएव यद्यपि "मानो" न जोड़ने से अर्थ बन सकता है, फिर भी उनके मान-रक्षणार्थ इसमे उसे जोडकर अर्थ करके यहाँ गम्योत्प्रेक्षा मान ली जाय, तो भी विशेष हानि नहीं।

(२) **हेतूत्प्रेक्षा**—मे अहेतु को हेतु कहकर उत्प्रेक्षा की जाती है।

इसमें उपर्युक्तानुसार सिद्धविषया और असिद्धविषया के दो भेद हैं।

१—**सिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा**—जिसमे हेतु ठीक अर्थात् संभव हो, वह है सिद्धविषया।

सिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा यथा—

प्रबल बुलंद बर बारन के दंतनि सों
बैरिन के बाँके-बाँके दुरग बिदारे हैं;
कहै 'मतिराम' दीन्हें दीरघ दुरद-बृंद,
मुदिर से मेदुर मुदित मतवारे है।
तेग त्याग राजत जगतराज भावसिंह,
मेरे जान तेरे गज याही ते पियारे हैं;
दुज्जन दलनि, कबि लोगनि के दारिदनि
नीके करि गजन की फौजनि सो मारे है।
(मतिराम)

मुदिर = मेघ। मेदुर = अतिशय स्निग्ध, श्यामल, बहुत चिकना, साँवला।

मतिराम ने यहाँ हाथियों का प्यारा होना इस कारण लिखा है कि वे युद्ध में शत्रु-सेना (मारते हैं) तथा दान में दिए जाने से कवियो का दरिद्र मारते है। दोनो बातें सभव होने से सिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा है।

करत कोकनद मदहि रद तुव पद हद सुकुमार,
भए अरुन अति दबि मनो पायजेब के भार।
(वैरीशाल)

यहाँ सिद्ध विषया हेतूत्प्रेक्षा है। दबने से पैर लाल हो ही जाते हैं।

इन्ही उदाहरणों से 'मनो' आदि वाचक शब्दो को लुप्त कर देने से गम्योत्प्रेक्षा हो जायगी।

हेतुरूपा सिद्धविषया गम्योत्प्रेक्षा—

भए अरुन अति दबि दुसह पायजेब के भार।

यहाँ भी पायज़ेब से दबना हेतुरूप उपमान निश्चय तक पहुँच जाता है, अर्थात् इसमें पद के अरुण होने का हेतु निश्चय रूप से पायज़ेब का भार ग्रहण होता है। इसी कारण हम व्यंग्योत्प्रेक्षा का भेद होना नहीं मानते। यहाँ तो हेतु सिद्ध होने से हमारा कथन और भी पुष्ट हो जाता है।

असिद्ध विषया हेतूत्प्रेक्षा —

जहाँ असम्भव हेतु का कथन केवल कवि-कल्पना से होता है, वहाँ असिद्ध विषया हेतूत्प्रेक्षा कहलाती है।

२—असिद्धविषया वाच्य हेतूत्प्रेक्षा यथा—

भीम बलसीम ये मतंग मतवारे फिरैं,
धावत मही पै मनो भूधर उत्तंग मैं;
चूर करिबे को रिपु-गन को प्रबल दल
धवल बटोरन सुजस जुरि जग मैं।
देस पै बिलोकि दिन मानो चहुँ कोदन सों
धाए गिरिवर आजु नूतन प्रसंग मैं,
राज मै बसे है, तब क्यों न राजभगति कै
गरद गनीमन मिलावैं रन - रंग मै।
(मिश्रबंधु)

इस छंद मे असिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा है।

सुरलोक को जात चली सब है जो बिमानन पातकी भीर लदी ;
कोउ जाय निरै दद पावत ना धुनि पूरि रही यह चारो हदी।
लिपि चित्रगोपित्रकी जेती लिखी, सो लखालखी मैं लखौ होति रदी ;
'लेखराज' बदाबदी मानो करै जमराज ही की बदी बिस्नुपदी।
(लेखराज)

मानो विष्णुपदी (गंगाजी) शर्त लगाकर यमराज की बदी (बुराई) करती हैं। गंगाजी मानो यम की बुराई करने ही के विचार से पापियों को तारती हैं। लेखराजजीवाले इस भाव के कारण हेतूत्प्रेक्षा हुई, किंतु कारण है असिद्ध, क्योंकि तारने का हेतु यह है नहीं। इसीलिये असिद्ध-विषया माननी चाहिए।

लूट्यो खानदौराँ जोरावर सफजंग अरु—
लह्यो कारतलबखाँ मनहु अमाल है,
'भूषन' भनत लूट्यो पूना मे सहस्तखान,
गढन मैं लूट्यो त्यों गढोइन को जाल है।
हेरि-हेरि कूटि सलहेरि बीच सरदार
घेरि-घेरि लूट्यो सब कटक कराल है,
मानो हय-हाथी उमराय करि साथी अव-
रंग डरि सिवाजी पै भेजत रिसाल है।
(भूषण)

मुगल-दल भेजे जाने का प्रयोजन डरकर ख़िराज भेजना है नहीं, किंतु यही अहेतु सेना भेजे जाने का हेतु समझा जाने से असिद्ध विषया हेतूत्पेक्षा हुई।

कमल बीच करहाट की दुति कत लखियत नाहि ;
जीत्यो तुव कर मनु परे छाले छतियन माहिं।
(वैरीशाल)

कमल के बीच में जो पीत बोड़ी (छत्ता, जिसमें आगे चलकर फल होते हैं) होती है, उसे करहाट कहते हैं। इसमें कमलगट्टे के स्थान छाले से दिखते हैं। कवि कहता है, तुम्हारे हाथों ने शोभा में कमल को जीत लिया है, जिससे मानो उसके हृदय में छाले पड़ गए हैं। कमल के विचार - शक्ति - हीन होने से पराजय के कारण छाले पड़ने का हेतु असंभव होने से असिद्धविषया है।

बिधु-सम तुव मुख लखि भई पहिचानन की सक ,
बिधि याही ते जनु कियो सखि मयंक में अंक ।
(वैरीशाल)

इसमें भी वही बात है।

बृष को तरनि तेज सहसौ करनि तपै
ज्वालनि को जाल बिकराल बरसत है ,
तचति धरनि जग झुरत झरनि सीरी ,
छाँह को पकरि पंथी पंछी बिरमत है ।
'सेनापति' नेक दुपहरी के ढरत होत
धमका बिषम, सो न पात खरकत है ,
मेरे जान पौन सीरे ठौर को पकरि कोनो
घरी एक बैठि कहूँ घामै बितवत है ।
(सेनापति)

गगन अगन घनाघन ते सघन तम ,
'सेनापति' नेकहू न नैन मटकत हैं ,
दीप की दमक, जीगनीन की झमक छाँडि
चपला चमक और सों न अटकत है ।
रवि गयो दबि मानो, ससि सोऊ धसि गयो ,
तारे तोरि डारे सो न कहूँ फटकत हैं ,

मानो महातिमिर तैं भूलि परी बाट, तातैं
, ससि, तारे कहूँ भूले भटकत हैं।
(सेनापति)

अगन = अगणित । घनाघन = घने से घना ।

'सेनापति' उनए नए जलद सावन के,
चारिहू दिसान घुमरत भरे तोय कै,
सोभा सरसाने न बखाने जात केहू भाँति,
आने है पहार मनों काजर के ढोय कै।
घन सों गगन छयो, सघन तिमिर भयो,
देखि न परत मानो रबि गयो खोय कै;
चारि मास भरि स्याम निसा को भरम करि
मेरे जान याही ते रहत हरि सोय कै।
(सेनापति)

सीत को प्रबल 'सेनापति' कोपि चढ़्यो दल,
निबल अनल गयो दूर सियराय कै,
हिम को समीर तेई बरसैं बिषम तीर,
रही है गरम भौन कोनन मे जाय कै।
धूम नैन बहै, लोग आगि पर गिरे रहैं,
हिये सों लगाय रहै नेकु सुलगाय कै;
मानो भीत जानि महा सीत ते पसारि पानि
छतिया की छाँह राख्यो पावक छिपाय कै।
(सेनापति)

इस छंद से भासता है कि सेनापति कभी कश्मीर गए थे, क्योकि वहीं छाती के पास अँगेठी लटकाए रहने की चाल गरीबो मे है।

शीत की विशाल सेना के आक्रमण से निर्बल पड़े पावक को भय के कारण छाती की छाया में छिपा रखने का वर्णन असिद्ध-विषयक ही है।

वाचक-रहित असिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा—

कमल बीच करहाट की छिति कत लखियत नाहिं,
जीत्यो तुव कर लखि परे छाले छतियन माहिं।
(वैरीशाल)

यहाँ पराजय के कारण करहाट में छाले का होना मान लिया गया है। यद्यपि छाले के होने का कथित हेतु असिद्ध है, तथापि वह हेतु वक्ता द्वारा निश्चय रूप से मान लेने के कारण हेतु रूप उपमान पूर्ण दृढ़ रूप से कथित हो गया, अत. वाचक हटा देने से यहाँ भी उत्प्रेक्षा नहीं रह जाती। ऐसा हमारा मत है।

(३) फलोत्प्रेक्षा—अफल के फल-रूप में उत्प्रेक्षा करने से प्राप्त है।

इसमें भी सिद्ध और असिद्धविषया के भेदांतर हैं।

१—सिद्धविषया वाच्य फलोत्प्रेक्षा—

बारनि धूपि, अगारनि धूपि कै धूम अँध्यारी पसारी महा है,
आनन चद समान उग्यो, मृदु मजु हँसी जनु जोन्ह-छटा है।
फैलि रही 'मतिराम' जहाँ, तहाँ दीपति दीपनि की परभा है;
लाल, तिहारे मिलाप को बालहिं मानो करी दिन ही मैं निसा है।
(मतिराम)

यहाँ रात करना अहेतु होने पर भी सिद्ध होने से सिद्धविषया फलोत्प्रेक्षा है। 'मानो' हटा देने से गम्य फलोत्प्रेक्षा हो सकती है। यथा—

सिद्धविषया गम्या-फलोत्प्रेक्षा—

लाल, तिहारे मिलाप को बालहिं आजु करी दिन ही मैं निसा है।

यहाँ भी दिन का मिलन-फल के लिये रात्रि कर देना निश्चय तक पहुँच जाने से, और वह भी सिद्ध होने के कारण, हमारे विचार से उत्प्रेक्षा मानना ठीक नहीं बैठता।

२—असिद्धविषया वाच्य फलोत्प्रेक्षा—

खजरीट नहि लखि परत कछु दिन साँची बात,
बाल-दृगन-सम होन को करन मनो तप जात।
(दास)

खजन का तप करना असिद्ध है।

बारि मैं बूडि जपैं रबि को सरि पंकज पाँयन की गहिबे को;
बास उपास करै बन मैं कटि की सरि सिंहिनि हू चहिबे को।
'गोकुल' श्रीफल संकर सेइ चहै कुच की रुचि के नहिबे को;
चंद अन्हात है छीरधि मैं, मनौ तो मुख की समता लहिबे को।
(गोकुल)

यहाँ फलाकांक्षी सब क्रियाएँ उपमानों के निरजीव होने के कारण असंभव होने से असिद्धविषया फलोत्प्रेक्षा है। इसमें तीन गम्योत्प्रेक्षाएँ हैं, और अंतिम प्रकट।

विशेष—उत्प्रेक्षा में हैं तो उपर्युक्त बारह भेद, किंतु मुख्य तीन ही मानने चाहिए, अर्थात् वस्तु, हेतु और फल। इतर भेदांतरों में कोई पृथक् चमत्कार नहीं है।

'सेनापति' ऊँचे दिनकर के चलत लूवैं
　　नदी-नद-कूलैं कोपि डारत सुखाय कै;
चलत पवन, मुरझात उपबन-बन,
　　लाग्यो है तवन डारयो भूतलौ तचाय कै।
भीषम तपत, ऋतु ग्रीषम सकुच, तातैं
　　सीरक छिपी है तहखानन में जाय कै;
मानो सीतकाल सीत लता के जमायबे को
　　राखे हैं बिरंचि बीज धरा में धराय कै।
(सेनापति)

तवन = ताव देना, गरम करना। सीरक = ठंढक।

यहाँ असिद्ध विषया फलोत्प्रेक्षा है। नीचेवाले छंद में भी यही उत्प्रेक्षा है, क्योंकि यद्यपि कोयले परचाए जा सकते हैं, तथापि कामदेव उन्हें नहीं परचाता।

लाल-लाल टेसू फूलि रहे हैं बिसाल, संग
स्याम रग भेटि मानो मसि मैं लगाए है;
तहाँ मधु काज आय बैठे मधुकर-पुंज,
मलय पवन बन-उपबन धाए है।
'सेनापति' माधव महीना मे पलास तरु
देखि-देखि भाव कविता के मन आए हैं;
आधे अनसुलगि, सुलगि रहे आधे, मनो
बिरही दहन काम क्वैला परचाए हैं।
(सेनापति)

काले रंग से मिले हुए लाल टेसू (पलाश-पुष्प) ऐसे फूले हैं, मानो उनसे स्याही लगी हुई है।

प्रतीयमाना असिद्धविषया फलोत्प्रेक्षा यथा—

खंजरीट नहि लखि परत कछु दिन साँची बात,
बाल-दृगन-सम होन को करत तपस्या तात।

खंजन का नेत्रों की समता पाने रूप फल के लिये तप करना असिद्ध होने पर भी यहाँ निश्चय रूप से मान लेने के कारण, हमारे विचार से, ऐसे स्थानों पर भी उत्प्रेक्षा का माना जाना पूर्णरूपेण उपयुक्त नही।

सी, से, इव का उपमा तथा उत्प्रेक्षावाचकत्व—

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवञ्जन नभः।
"बरसत इव अंजन नभहि तम लीपत इव अंग।"
(चिंतामणि)

घने अंधकार की उत्प्रेक्षा है। इस स्थान पर "इव" शब्द उत्प्रेक्षा-वाचक है। कवि-कल्पित उपमान होने पर इव उत्प्रेक्षावाचक माना जाता है, तथा प्रकृति से प्राप्त उपमान में उपमावाचक।

"राम काम इव शोभित हैं' में इव उपमावाची है*। ऊपर के उदाहरणों में न तो अँधेरा शरीर में लीपा जाता है। न आसमान से अंजन की वर्षा होती है। अतएव ये कोरी कवि-कल्पनाएँ हैं।

उद्योत का मत—

तिङंत † क्रियावाची शब्द के साथ जब इव का प्रयोग हो, तब

---

* यत्र यत्राप्रकृततादात्म्यसम्भावनोपयुक्तविशेषणकल्पना तत्र सर्वत्राप्युत्प्रेक्षाऽवगन्तव्या। यत्र तु सम्भावनोपयुक्तविशेषणकल्पना-रहितमुपमानं निबध्यते तत्र परमिव शब्दः सादृश्यपर इत्युपमालंकारः।

(अप्पय्य दीक्षित)

तात्पर्य यह कि जहाँ-जहाँ अप्रकृत उपमान का संभावनोपयुक्त कल्पित विशेषण हो, वहाँ "इव" उत्प्रेक्षावाचक होता है, और जहाँ पर इस प्रकार का विशेषण-युक्त न होते हुए वास्तविक उपमान हो, वहाँ उपमा होती है, तथा "इव" सादृश्यवाचक होगा।

† तिङंत के संबंध में निम्न-लिखित प्रत्ययों का प्रयोग होता है—

तिप्, तस्, झि, सिप्, थस्, थ, मिप्, वस्, मस्, त, आताम्, झ, थास्, आथाम्, ध्वम्, इट्, वहि, महि।

जिन क्रियाओं (धातुओं) के अंत में ऊपर के प्रत्ययों में से कोई जोड़ा जाता है, उन क्रियाओं को तिङंत कहते हैं। वे तीन प्रकार की होती हैं—परस्मैपदीय, आत्मनेपदीय तथा उभयपदीय। उपर्युक्त १८ प्रत्ययों में से पहले नौ परस्मैपदीय तथा दूसरे नौ आत्मनेपदीय हैं। उभयपदीय क्रियाओं में आत्मनेपदीय तथा परस्मैपदीय दोनों के प्रत्यय जोड़े जाते हैं।

वह उत्प्रेक्षावाचक होता है। इव के समान सी और सो भी में (कवि-कल्पित उपमान या तिङंतवाची शब्द के साथ हों, तो) उत्प्रेक्षावाचक माने गए है। यथा—

नायक के नैननि मैं नाइए सुधा-सी, सब
सौतनि के लोचननि लोन-सो लगाइए।"

वाला उदाहरण जो वस्तूत्प्रेक्षा के नीचे दिया जा चुका है, वहाँ भी सुखर्थ सुधा नाय देना और दुःखार्थ आँख में लवण लगाना कवि-कल्पना-मात्र हैं। इसीलिये "सी" शब्द उत्प्रेक्षावाची माना गया था।

इव आदि उत्प्रेक्षावाचक के विषय मे इस ग्रथ कर्ताओं का मत—

उत्प्रेक्षा का स्वरूप (निश्चय तक न पहुँचते हुए) उपमान-कोटि को उत्कटता से देखने में है, जो सी, इव और सो वाचकों के समता-प्राधान्य अर्थ होने के कारण कुछ कम समझी जा सकती है। फिर भी आचार्यों का मत यही होने के कारण सदेह न करना चाहिए। पतंजलि आदि भी ऐसे स्थानों पर इव को उत्प्रेक्षा-वाचक मानते है।

यद्यपि कहा जा सकता है कि कहीं के सौध शशि को नहीं छू सकते, तथापि उसके आहार्य ज्ञान होने के कारण उसका निश्चय तक न पहुँचना उत्प्रेक्षा-वाचक पद न होने पर भी भासित हो जाता है। अतः यहाँ उत्प्रेक्षा का होना तर्क-साध्य है। यह तर्कावली भी हमको हृदय-ग्राह्य नहीं जँचती, और सिद्ध विषयावाले उदाहरणों मे वह और भी शिथिल हो जाती है। दूसरे, इस तर्कावली से कुछ अलंकारों की स्थिति ही बहुत कुछ संशय में पड़ जायगी। प्राचीनों की आज्ञा का उल्लघन करने में अनौचित्यवाली तर्कावली ही हमें मान्य जँचती है।

अतिशयोक्ति (१३)

अतिशयोक्ति—विवक्षा या विशेषस्य लोकसीमातिवर्तिनी।
(दंडी)

जहाँ लोक-सीमा के विशेष रूप से उल्लंघन की जानेवाली कहने की इच्छा प्रकट हो, वहाँ अतिशयोक्ति होती है।

इसके ७ भेद है, जो लिखे जाते हैं - (१) रूपकातिशयोक्ति, (२) सापह्नवातिशयोक्ति, (३) भेदकातिशयोक्ति, (४) संबंधातिशयोक्ति, (५) अक्रमातिशयोक्ति, (६) चपलातिशयोक्ति तथा (७) अत्यंतातिशयोक्ति।

(१) रूपकातिशयोक्ति—मे केवल उपमान द्वारा उपमेय का बोध कराते हुए लोक-सीमोल्लघन होता है।

कुछ लोक-सीमोल्लघन तो उपमा में भी होता ही है, जैसे "मुख चंद्र-सा है" मे, किंतु इसकी विशेषता से अतिशयोक्ति होती है। मुख वास्तव मे चंद्रमा के समान कब होता है? उदाहरण—

चारु चद्र - मंडल मैं बिद्रुम बिराजैं, छद
मोतिन के छाजैं, ते छपाए छपते नही।
(दूलह)

प्रयोजन यह है कि चंद्र मंडल (मुख) में मूँगे (ओंठ) शोभित हैं, जो (ओठ) मोतियो (दाँतों) को ढकते हैं, किंतु तो भी मोतियों के टुकड़े (छद) छिपते नही। प्रयोजन मद हास्य की स्थिति का भी है।

'भूषन' भनत देस - देस बैरि - नारिन मैं
होत अचरज घर - घर दुख - दद के,
कनक - लतानि इंदु, इंदु माहि अरबिंद,
झरैं अरबिदन ते बुंद मकरद के।
(भूषण)

स्वर्ण-बेलि (देह) मे चद्रमा (मुख) है, जिस चद्रमा में कमल (नेत्र) हैं, जिनसे मकरद (आँसू) के बूँद झरते हैं। नीचे के छंद में नेत्रों का कथन है—

सुख सार सिवार सरोवर ते ससि सीस बँधे बिधि के बल सों ;
चकई-चकवा तजि गंग-तरंग अनग के जाल परे छल सों।
कमलाकर ते कढ़ि कानन मै कलहंस कलोलत हैं कल सों,
चढ़ि काम के धाम ध्वजा फहरात सुमीनन काम कहा जल सों।

(देव)

सरोवर से शैवाल निकाला जाकर चंद्रमा (मुख) में बँधे। चकई-चकवा कामदेव के जाल में पड़े। हंस क्रीड़ा करते हैं। काम के मंदिर की दो फहराती हुई पताकाएँ हैं। बालो, उरोजों (वस्त्राच्छादित), चाल और नेत्रों का वर्णन है।

जुग जलजात, तापै उलटे कदलि-खंभ,
तापै मृगपति परिपूरन अनंद पे ;
तापै बर कूर, तापै सरिता रुचिर, तापै
चक्रवाक बिकल निसा के दुख दद पै ;
भनत 'बिसाल' तापै जलज सनाल दोय,
तापै संख, बिंब सुक झक बिबि फंद पै,
तापै ओहि ओर कल कदलि के पत्र बीच
लोभ ते अमी के अहि चढो जात चंद पै।

(विशाल)

यहाँ क्रम से दो पैर, जाँघें, कटि, नाभि, रोमावली, ओढनी से ढके कुच, हाथ, ग्रीवा, ओठ, नाक, नेत्र, पीठ, बेनी जो मुख (चद्र) पर पीठ की ओर से चढ़ रही है, के कथन हैं।

अद्‌भुत एक अनूपम बाग।

जुगल कमल पर गजबर क्रीड़त, तापर सिंह करत अनुराग,
हरि पर सरवर, सर पर गिरवर, गिरि पर फूले कंजपराग ;
रुचिर कपोत बसै ता ऊपर, ताहू पर अमृतफल लाग।

फल पर पुहुप, पुहुप पर पल्लव, तापर सुक-पिक मृगमद काग ;
खंजन धनुष चंद्रमा ऊपर, ता ऊपर एक मनिधर नाग ।
(सूरदास)

कमल (चरण), गजवर (चाल), सिंह (कटि), सर (नाभि), गिरि (वक्ष), फूले कजपराग (कुच), कपोत (ग्रीवा), अमृतफल (ठोढी), पुहुप (गोदना), पल्लव (ओंठ), शुक (नाक), पिक (वाणी), मृगमद (बिंदी), काग (सिर के ऊपर के केश), खंजन (नेत्र), धनुष (भौहैं), चद्रमा (ललाट) मणिधर नाग (वेणी) ।

रूपकातिशयोक्ति मे लोक-सीमा-उल्लंघन का होना—

दामिनि-दमक मयक में, लाल लखौ यहि सौध ।
(ब्रह्मदत्त)

हे लाल, देखो, इस महल में चंद्रमा (मुख) मे बिजली (दाँत) चमक रही है । यहाँ चंद्र और बिजली उपमानो से मुख और दाँत उपमेयों का निगरण (निगलना) किया गया है, परतु महल में चंद्रमा या बिजली होती नही, अत जहाँ जो नही है, वहाँ उसके स्थापन मे लोक-सीमा का उल्लंघन है । ऐसा ही हाल अन्य उदाहरणों में भी समझ लीजिए ।

(२) सापह्नवातिशयोक्ति—में अपह्नुति से मिलकर अतिशयोक्ति आती है ।

सापह्नवातिशयोक्ति अमान्य है—इसी प्रकार कई अलंकार अन्यों से मिलाए जा सकते हैं, इसलिये इस एक ही के मिश्रण का पृथक् कथन कुछ विशेष युक्ति-संगत नहीं है । फिर भी कुछ आचार्यों ने इसे लिखा है, जिससे यहाँ भी कह दिया गया है । यथा—

संकर न कैलास, हेमलता कीन्हें बास,
हेरै क्यों पलासन, पलास-कलिका तही ;
(दूलह)

कनकबेलि (नायिका), शवर (कुच)। पलास कलिका (नख-क्षत)। नकार के कारण अपह्नुति समझी गई।

अली, कमल तेरे तनहि सर मैं कहत अयान।

(पद्माकर)

यहाँ कमल का तालाब में निषेध होने से अपह्नुति तथा मुख के लिये केवल उपमान कमल से रूपकातिशयोक्ति है। अत. सापह्नवातिशयोक्ति हो गई है।

(३) **भेदकातिशयोक्ति**—में वर्ण्य में आहार्य (अवास्तविक) विशेषरूपेण अंतर दिखलाया जाता है।

भेदकातिशयोक्तिवाची शब्द—

इसमें न्यारी रीति, अन्य और आदि वाचक आते हैं। यथा —

अनियारे, दीरघ नयन किती न तरुनि समान ;
वह चितवनि औरै कछू, जेहि बस होत सुजान।

(बिहारी)

औरै कछु चितवनि चलनि, औरै मृदु मुसुकानि ;
औरै कछु सुख देत है, सकै न बैन बखानि।

(मतिराम)

जगत को जैतवार जीत्यो अवरंगजेब,
न्यारी रीति भूतल निहारी सिवराज की ;

(भूषण)

भेदकातिशयोक्ति में लोक-सीमोल्लंघन—

इनमें औरै, न्यारी आदि के सहारे लोक-सीमोल्लंघन होता है। (कुछ भेद पडना तो संभव है, पर यहाँ नितांत पृथक्ता होने से विशेष-रूपेण सीमोल्लंघन प्रत्यक्ष है)।

औरै रूप केस के सुवेस दृग औरै भए,
औरै लाज लेस को कलेस अगवै चल्यो ;

औरै सुर कंठ कला बातन में औरै मुरि
उकसे उरोज उर औरै रूप च्वै चल्यो।
औरै कटि छीन, पीन पुलिन नितंब, औरै
औरै और 'सेवक' छिपे को छल छ्वै चल्यो,
औरै रति, औरै रंग, औरै दुति, औरै सग,
औरै तन, औरै मन, औरै पन ह्वै चल्यो।
(सेवक)

आगतयौवना का वर्णन है। लेस को कलेस अगवै चलयौ = थोड़ा भी क्लेश आगे चला, अर्थात् बुरा मालूम पड़ने लगा। मुरि = ढग। पुलिन = टापू उपमा यह नई है। छद में भेदकातिशयोक्ति के उदाहरण भरे पडे हैं। पुलिन का अर्थ किनारा के अतिरिक्त टापू भी है।

औरै भाँति कोकिल, चकोर ठौर ठौर बोलैं,
औरै भाँति सबद पपीहन के वै गए;
औरै भाँति पल्लव लिए है बृंद-बृंद तरु,
औरै छबि-पुंज कुंज-कुंजन उनै गए।
औरै भाँति सीतल, सुगंध, मद डोलै पौन,
'द्विजदेव' देखत न ऐसे पल द्वै गए,
औरै रति, औरै रंग, औरै साज, औरै संग,
औरै बन, औरै छन, औरै मन ह्वै गए।
(द्विजदेव)

(४) संबंधातिशयोक्ति—में असंबध होते हुए भी संबंध या संबंध होते हुए भी असंबंध कहा जाता है। इसमे इसी दो प्रकार के उदाहरण होते हैं।

प्रयोजन योग्य को अयोग्य या अयोग्य को योग्य कहने का होता है।

अयोग्य का योग्य कथन यथा—

अड़ि जात बाजी, त्यों गयंदगन गड़ि जात,
सुतुर अकड़ि जात, मुसकिल गऊ की ;
दामन उठाय पायँ धोखे जो धरत होत
आप गड़काब रहि जाति पाग मऊ की ।
'बेनी' कबि कहै देखि थर-थर काँपै अंग,
रथन को पथ न बिपति बरदऊ की ;
बार-बार कहत पुकारि करतार तोसों,
मीचु है कबूल, पै न कीचु लखनऊ की ।
(बेनी)

अंगनि उतंग जंग जैतवार जोर जिन्हैं,
चिक्करत दिक्करि, हलत कलपत हैं ;
कहै 'मतिराम' सैन सोभा के ललाम, अभि-
राम जरकस झूल झाँपे झलकत हैं ।
सत्ता को सपूत राव भावसिंह रीझि देत
छहूँ ऋतु छके मद - जल छलकत हैं ;
मंगन की कहा है मतंगन के माँगिबे को,
मनसबदारन के मन ललकत हैं ।
(मतिराम)

यहाँ मनसबदार माँगने के अयोग्य थे, वे माँगने के योग्य किए गए ।

चरन धरै न भूमि, बिहर तहाँई, जहाँ
फूले - फूले फूलन बिछायो परजंक है ,
भार के डरनि सुकुमारि चारु अंगन मैं
करति न अंगराग कुंकुम को पंक है ।
कहै 'मतिराम' देखि बातायन बीच आयो,
आतप मलीन होत बदन मयंक है ;

कैसे वह बाल लाल, बाहेर बिजन आवै,
बिजन - बयारि लागे लचकत लंक है।
(मतिराम)

पंखे की हवा से कटि लचकने के अयोग्य है, सो उसके योग्य की गई।

बिंध्य लगि बाढ़िबो उरोजन को पेखो है।
(दूलह)

यहाँ अयोग्य का योग्य कथन है। पुन: —

गंगा के चरित्र चितै परम बिचित्र नितै,
जैयै अब कितै, इतै पातकी न गोए जाय ;
ह्वै कै 'लेखराज' देवराज ब्रजराज केते,
खगराजराज छीरसागर मैं सोए जाय।
चित्र कैसे लिखे चित्रगुप्त चुपचाप रहे,
चितै-चितै चकित-से कागदनि धोए जाय ;
दूत गए टरकि, सरकि सब साथी, जम
मूँदि करि नरक अरक तीर रोए जाय।
(लेखराज)

अर्क (सूर्य) यम के पिता हैं, जिनके पास विकल होकर यम रोने गए। पातकी न गोए जाय = मुक्ति परम सुगम हो जाने से पापी इतने बढ़े कि वे छिपाए नहीं छिपते। यम रोने के अयोग्य थे, जिन्हें उस योग्य ठहराकर लेखराज कवि ने अयोग्य में योग्य कथन किया है। यही दूसरे चरण में भी है।

कालिय काल महा बिष ब्याल जहाँ जल-ज्वाल जरै रजनी-दिनु ;
ऊरध के अध के उबरै नहिं, जासु बयारि बरै तरु ज्यों तिनु।
ता फनि की फन फाँसिनु पै फँदि जाय फँसै उकसै न कछू छिनु ;
हा ब्रजनाथ सनाथ करौ हम होती हैं नाथ ! अनाथ तुम्हैं बिनु।
(देव)

कालीय के विष की हवा वृक्ष जलाने के अयोग्य थी, जिसका योग्य कथन हुआ है, जिससे सर्वथातिशयोक्ति हुई।

भूले गयो भोज, बलि बिक्रम बिसरि गए,
जाके आगे और तन दौरत न दोदे हैं;
राजा राइ राने, उमराइ उनमाने, उन
माने निज गुन के गरब गिरबीदे हैं।
सुजस बजाज जाके सौदागर सुकबि,
चलेई आवें दसहू दिसानि ते उनीदे हैं;
भोगीलाल भूप लाख पाखर लेवैया, जिन
लाखन खरच रचि आखर खरीदे हैं।
(देव)

भोगीलाल के सम्मुख भोज, बलि, विक्रम आदि बिसार देने के अयोग्य हैं, वे भुला देने के योग्य किए गए।

चाक चक चमू के अचाक चक चहूँ ओर
चाक सी फिरति धाक चंपति के लाल की;
'भूषन' भनत पादसाही मारि जेर कीन्ही,
काहू उमराय ना करेरी करबाल की।
सुनि सुनि रीति बिरदैत के बड़प्पन की
थप्पन-उथप्पन की बानि छत्रसाल की;
जंग जीतिलेवा ते वै ह्वै-ह्वै दामदेवा भूप
सेवा लागे करन महेवा महिपाल की।
(भूषण)

चींटी की चलावै को, मसा के मुख आपु जायँ,
स्वास की पवन लागे कोसन भगत हैं;
ऐनक लगाए मरु-मरु कै निहारे जात,
अनु - परमानु की समानता खगत हैं।

'बेनी' कबि कहै हाल कहाँ लौं बखान करौं,
मेरी जान ब्रह्म के बिचार हू सुगत हैं;
ऐसे आम दीन्हें जजमान मन मोद करि,
जाके आगे सरसौ सुमेरु-से लगत हैं।
(बेनी कवि)

योग्य का अयोग्य कथन यथा—

कानन कुंज प्रमोद बितान-भरे फल-फूल सुगंध बिधानै;
बावली के अरबिंदन पै मकरंद मलिंद सने सुभ गानै।
त्यौं 'लछिराम' तरगन तैं सरजू के कढ़े सुर साजि बिमानै;
औधपुरी महिमा यौ चितै अमरावति को हम क्यों सनमानै।
(लछिराम)

सान भरे भुज दंड अखंड तिहूँ पुर मंडन मान भरै को?
आँगुरी वै अलकेस धनी, सनी मौजन मै अनुमान अरै को?
यो नख भा 'लछिराम' लखे नखतावली के परमानै धरे को?
श्रीरघुनाथ के हाथन सामुहे कल्पलता सनमान करै को?
(लछिराम)

औडी चितौनि कहूँ गड़ि लागती, बंदन आडे जो आड़ न होती;
डारतो गूदि गुमान-गयंदु, जो गोल कपोलनि गाड़ न होती।
लूटती लोकु लटैं सफुलेल, हमेल हिये भुज टाड़ न होती;
चंदु अचानक च्वै परतो, मुख-चंदु पै जो चित चाड़ न होती।
(देव)

यदि बंदन (सिंदूर) की बिंदी आड़ न आती, तो टेढ़ी चितौनि गड़ जाती, गुमान-रूपी गयंद (हृदय को) मर्दित कर डालता, जो गोल कपोलों में गड्ढे न होते। अगर हृदय मे हमेल तथा भुजों में टाँड़े न होतीं, तो फुलेल लगे बाल लोक को लूट लेते, हृदय में यदि चाह न

होती, तो चंद अचानक उसके मुख-चंद का अवलोकन करके टपक पड़ता। यहाँ भी चंद में योग्यता होते उनको अयोग्य किया गया है।

यों तो अयोग्य के योग्यवाले उदाहरण ही में अर्थ दूसरी तरह लगाने में इसके उदाहरण भी समझे जा सकते हैं, तथापि यहाँ पृथक् भी उदाहरण दे दिए गए हैं। इनमें भी यही कहा जा सकता है। इसमें दूसरा भी अलंकार स्थापित किया जा सकता है। अतः एक शुद्ध उदाहरण देते हैं। यथा—

मार लजावनहार कुमार हौ, देखिबे को दृग ये ललचात हैं;
भूले सुगंध सो फूले सरोज-से आनन पै अलि हू मड़रात हैं।
नेकु चलै मग मैं पग द्वै 'ललिते' स्रम-सीकर-से सरसात हैं;
तोरि हो कैसे प्रसून लला ! वे प्रसूनहु ते अति कोमल गात हैं।

(ललिताप्रसाद त्रिवेदी)

हाथ वास्तव मे फूल तोड़ने के योग्य हैं, इनको अयोग्य स्थापित करना ही असंबधातिशयोक्ति है।

सूचना—

संबंधातिशयोक्ति अनेक अलंकारों मे होती है। अतः जहाँ अन्य अलंकार स्थापित न किया जा सके, वहीं संबंधातिशयोक्ति मानना चाहिए। कोई दूसरा अलंकार जहाँ निकल सकता हो, वहाँ उसी की प्रधानता मानना, क्योंकि उसको संबंधातिशयोक्ति से रहित होना असंभव होता है।

(५) **अक्रमातिशयोक्ति**—मे हेतु और कार्य साथ ही होते हैं। यथा—

उद्धत अपार तव दुंदुभी धुकार संग
लँघै पारावार बाल-बृंद रिपुगन के;

तेरे चतुरंग के तुरंगन के रँगे रज
साथ ही उड़ात रज-पुंज हैं परन के।
दच्छिन के नाथ ! सिवराज ! तेरे हाथ चढ़ैं
धनुष के साथ गढ़ कोट दुरजन के;
'भूषन' असीसैं, तोहि करत कसीसैं, पुनि
बानन के साथ छूटैं प्रान तुरकन के।
(भूषण)

इसमे इस अलङ्कार के चार उदाहरण हैं।

रँगे रज = धूल मे रँगने अर्थात् युद्धार्थ चलने से। रज पुंज = राज्य-श्री के ढेर। परन के = शत्रुओ के।

बालि को सपूत कपि-कुल पुरहूत
रघुबीरजू को दूत धरि रूप बिकराल को;
जुद्ध मद गाढो पाँव रोपि भयो ठाढ़ो,
'सेनापति' बल बाढ़ो रामचंद्र भुवपाल को।
कच्छप कहलि रह्यो, दिग्गज दहलि रह्यो,
कुंडली टहलि त्रास परो चकचाल को;
पाँव के धरत अति भार के परत भयो
एक ही परत मिलि सपत पताल को।
(सेनापति)

यहाँ पैर रखते ही सातों पातालो के मिलकर एक ही परत हो जाने से अक्रमातिशयोक्ति अलंकार आया है।

एकाएक उमड़ि परैगो तम-तोम घोर,
नभ माँहि परले-घटा-सी घिरि जाइहै;
धूमावृत अधकार माँहि अंध ह्वैकै सब
सूरन की आपुस मैं सेना भिरि जाइहै।

जैहै फटि पातक-पहार धानी मैं धसि,
रच्छ-कुञ्ज-मंडल पै गाज गिरि जाइहै ;
जहाँ-जहाँ घूमिहै तरल तरवारि तेरी,
ताही सँग जम की दोहाई फिरि जाइहै।
(उमेश)

(६) चंचलाति(चपलाति)शयोक्ति—मे हेतु के ज्ञान-मात्र से या चर्चा से ही कार्य हो जाता है। यथा—

गढनेर गढ चाँदा भागनेर बीजापुर
नृपन की नारी रोय हाथनि मलति हैं ;
करनाट हबस फिरंगहू बिलायत
बलख रूम अरि-तिय-छतियाँ दलति हैं।
'भूषन' भनत साहितनै सिवराज एते
मान तव धाक आगे दिसा उबलति हैं,
तेरी चमू चलिबे की चरचा चले ते,
चक्रवर्तिन की चतुरंग चमू बिचलति हैं।
(भूषण)

कैसे 'कुमार' कहै सुकुमारता, नामै सुगंध लगे गरुवाई ;
केसरि खोरि बनाउ कि बातहि गातन बाढ़ति आरसताई।
जावक दैन बिचार सुनेहि चढ़ै पद-पंकज आनि ललाई ;
बाल को मालती फूलनि चाह ही फैलति है अँगुरी अरुनाई।
(कुमार)

पहले उदाहरण में एक तथा दूसरे में चार अलंकार हैं।

बारि के बिहार बर बारन के बोरिबे को
बारिचर बिरची इलाज जयकाज की ;

कहै 'मतिराम' बलवंत जलजंत जानि
दूरि भई हिम्मत दुरद सिरताज की।
असरन-सरन चरन की सरन तकी,
त्यों ही दीनबधु निज नाम की सुलाज की ;
धाए एते मान अति आतुर उताल मिली
बीच ब्रजराज को गरज गजराज की।
(मतिराम)

ऐल परी अलका मैं, खलभल खलका मै,
एता बल का मै, जो रहत निज थान हैं ;
'गंजन' सुकबि कहै माल मुलकन तजि
रज रजपूती तजि तजत गुमान है।
रानी तजि, पानी तजि, कर किरवानी तजि,
अति बिहबल मन आनत न आन है ;
ह्वै करि किसान भूप भाजत दिसान, जब
कमरुद्दीं खानजू के बाजत निसान हैं।
(गंजन)

जैसे तैं न मोको कहूँ नेकहूँ डरात हुतो,
तैसे अब तोसों हौंहूँ नेकहू न डरिहौं ;
कहै 'पद्माकर' प्रचंड जो परैगो, तौ
उमंड करि तोसों भुज-दंड ठोंकि लरिहौं।
चलो चलु, चलो चलु, बिचलु न बीच ही ते,
नीच! बीच कीच तो कुटुंब को कचरिहौं ;
एरे दगादार, मेरे पातक अपार! तोहि
गंगा के कछार मैं पछारि छार करिहौं।
(पद्माकर)

यहाँ यदि सोचा जाय कि स्नान की इच्छा के ज्ञान-मात्र से पातक

भागा, तो चपलातिशयोक्ति है, और यदि सोचें कि स्नान पीछे होगा, और पातक पहले ही भागा, तो अत्यंतातिशयोक्ति होगी। मुख्यता चपलातिशयोक्ति की है, क्योंकि स्नान का वर्णन है नहीं।

ऐंठि बाँध्यो मुकुट समेटि घुँघुरारे बार,
कुंडल चढ़ाए कान कलँगी सुघट की,
जाँघिया जकरिकै अकरि अगराग करि,
कटि मै लपेटी कसि पेटी पीत पट की।
भृगु पद अंक ढाल सकति सिया को चिह्न,
'सूदन' सनाह बनमाल लाल टटकी,
कोटिन सुभट की निहारि मति सटकी,
अनूप म गोपाल का धरनि भेस भटकी।
(सूदन)

सिया=श्री, लक्ष्मी। सुघट की=अच्छे घाटवाली, अच्छी बनी।

चकित चकत्ता चौंकि चौंकि उठै बार-बार,
दिल्ली दहसति चित चाहै खरकति है;
बिलखि बदन बिलखात बिजैपुर-पति,
फिरत फिरंगिन की नारी फरकति है।
थर-थर काँपत कुतुबसाहि गोलकुंडा,
हहरि हबस भूप भीर भरकति है;
राजा सिवराज के नगारन की धाक सुनि
केते पातसाहन की छाती दरकति है।
(भूषण)

पानी धूम ईंधन मसाला संग आतस के,
हिकमति कोठरी हबूब हहरानी है;
उठत प्रभंजन, कै घन घहरात ठौर-
ठौर ठहरात जात जोर की निसानी है।

चाल की न थाह जाकी 'पूरन' सुकबि कहै,
पवन बिमान बान गति तरसानी है ;
नर लै समूह जूह भार लै अपार कूह
करत न रूह फेरि ताकी दरसानी है।
('पूर्ण' कवि श्रीबालदत्तजी मिश्र)

कूकने के पीछे ही चलकर तब रेल गायब होती है। कूकना चलने की निशानी-सा है। यहाँ कूकते ही गायब होना कथित है, जिससे हेतु के ज्ञान या चर्चा-मात्र से कार्य कथित होने से चपलातिशयोक्ति है।

हबूब = महबूबा, प्यारी।

यह छंद ज्येष्ठ लेखक के पूज्य पिताजी का है।

(७) अत्यंतातिशयोक्ति—मे फल हेतु के पहले हो जाता है। यथा—

पिय - हिय - गढ़ ते मान-रिपु पहिले गयो पराय ;
तेरे नैन - कटाच्छ - सर पीछे लागे जाय।
(वैरीशाल)

बेस पदारथ लोकन के अवलोकन को बर भाग भयो है ;
पै न मिले जब भोगन को, उर अंतर मैं तब दाग भयो है।
ख्याल करै किन हाल 'बिसाल' इहाँ पहले दुख त्याग भयो है ;
बाद कहूँ सिव संकर के पद पूजन को अनुराग भयो है।
(विशाल)

अब अतिशयोक्तियों के कुछ मिश्रबंधु-कृत मिलित उदाहरण दिए जाते हैं—

तोपन सों गोला अरि-देहन सों प्रान, कहैं
एक रन - मंडल मैं साथ ही निकरिहैं ;

गोलन को नाम ही सुने ते बरु संगर मैं
हहरि - हहरिकै मलिच्छगन मरिहैं।
जुद्ध की थली मैं आजु पीछे ते प्रचंड तोप
घोर घन - गरज - समान रव भरिहैं ;
बीरन के प्रबल प्रताप सों भरसि बहु
रोस के अनल पहिले ही अरि जरिहैं।

इस कवित्त के पहले चरण में अक्रमातिशयोक्ति, दूसरे में चपलातिशयोक्ति तथा तीसरे और चौथे में अर्थातिशयोक्ति है। नीचेवाले कवित्त के पहले चरण में भेदकातिशयोक्ति, दूसरे चरण में संबंधातिशयोक्ति और तीसरे तथा चौथे चरण में अत्यतातिशयोक्ति या भाविक (नं० ६४) है।

मीतन सों भाखत अपर बीर आजु तव
असि को प्रचंड रूप औरई लखात है ;
देखिकै प्रताप जासु जगत उजासकर
खासकर भासकर हू लौं दबि जात है।
तेग को किरनगन चलत गगन दिसि,
बैरिन को माल जिन्है देख बिललात है ;
साथ तिनही के अरि प्रानन को जाल अब
ही सो सूर - मंडल को बेधत लखात है।

तुल्ययोगिता (१४)

तुल्ययोगिता—मे ऐसों का साथ कहा जाता है, जो वास्तव में केवल यदा-कदा होता है।

यह लक्षण मुरारिदान के आधार पर है, अथच इतरोवाले से कुछ पृथक् है। इसके तीन भेद हैं—

प्रथम तुल्ययोगिता—मे अनेक वर्ण्यों अथवा अवर्ण्यों का एक ही धर्म एक ही बार कहा जाता है। यथा—

फूले सखा-सखी नैन
(दूलह)

सखा-सखी वर्ण्य हैं, और उनके नेत्रो का धर्म फूलना एक ही है, तथा एक ही बार कहा भी गया है।

तुल्ययोगिता में सादृश्य है या नहीं ?—

रसगंगाधर, एकावली तथा अलंकार-सर्वस्व का कथन इसमें सादृश्य-गर्भित वर्णन का है। यही मत साहित्य-दर्पण का भी है। यह विचार शायद उपर्युक्त के समान उदाहरणों मे चमत्कार-शून्यता के कारण उठा हो। जब केवल उपमेयों या केवल उपमानों का कथन होगा, जैसा इस अलंकार का रूप ही है, तब उपमा या सादृश्य तक ध्यान कैसे जा सकता है ?

हमने तुल्ययोगिता का लक्षण मुरारिदान के लक्षण पर आधारित किया है, और उन्होने तुल्ययोगिता शब्द के शुद्ध अर्थ पर।

धुरवान की धावन सोई अनंग की तुंग ध्वजा फहरान लगी ;
नभ-मंडल ह्वै छिति-मंडल छ्वै छिनजोति-छटा छहरान लगी।
'मतिराम' समीर लगे लतिका बिरही बनित थहरान लगी,
परदेस ते पीउ सँदेस न पायो, पयोद-घटा घहरान लगी।
(मतिराम)

छिनजोति = क्षणज्योति = बिजली। यहाँ अपना अलकार केवल तृतीय चरण में लतिका तथा विरही वनिता के समीर लगने से थहराने में है। दोनो वर्ण्य हैं। स्त्री सदैव वायु के झोके से नहीं थहराती, केवल यहाँ विरहिणी होने से वायु के उद्दीपन-वश थहराई। उधर लतिका सदैव हवा से काँपती है, अत यहाँ लतिका का वनिता से साथ सदैव होनेवाला न होकर केवल विशेष कथित दशा मे है, जो छद को चमत्कृत करता है।

फूले सखा-सखी-नैन, तन-दुति देखे ऐन
केतकी - कनक - जोति नरम निहारी है ;
(दूलह)

उपर्युक्तानुसार सखा-सखी-नैन फूलने में कोई चमत्कार नहीं, किंतु इस अवर्ण्योंवाले उदाहरण में है। शरीर की द्युति देखकर केतकी और सोने की ज्योति नरम पड़ गई। केतकी साधारणतया मुरझाने से अथच सोना मलिन होने से प्रभा-हीन होता है। यहाँ शरीर की शोभा के कारण असाधारणतया दोनो मलीन हुए, जिससे चमत्कार प्राप्त है। इसीलिये यह असाधारणपन हमने लक्षण का अंग ही माना है, क्योंकि बिना इसके उपमान होने पर भी कथन चमत्कार-शून्य हो जाता है, जैसा कि "फूले नैन" में है।

दीपक से पृथक्ता—यह विचार मानने से यह अलंकार दीपक (नं० १५) से पृथक् हो जाता है। इसमे कथन या तो वर्ण्यों का होता है या अवर्ण्यों का। उधर दीपक में वर्ण्य और अवर्ण्य दोनो का साथ कथन होता है।

रसगंगाधरकार का विचार है कि केवल इतना भेद पृथक् अलंकारता के लिये पर्याप्त नहीं। बात भी ऐसी ही होती, किंतु यदा कदा होनेवालों का साथ तुल्ययोगिता मे आ जाने से एक और भी भेद निकल आया, जिससे पृथक् अलंकारता के लिये काफ़ी मसाला मिल जाता है। अन्य उदाहरण—

गढ़-रचना, बरुनी, अलक, चितवनि, भौंह, कमान,
आघु बकाईहीं चढ़ै, तरुनि, तुरंगम, तान।
(बिहारी)

आघु = मोल।

यदि यहाँ सबको वर्ण्य मानो, तो तुल्ययोगिता प्रथम है।

जी के चचल चोर सुनि पी के मीठे बैन,
फीके सुक-पिक-बचन ये, नीके लागत हैं न।
(वैरीशाल)

यहाँ तोते और पपीहा उपमानों के वचन फीके कहे गए हैं, जिससे अवर्ण्यवाली तुल्ययोगिता है। शुक-पिक-बचन फीके होने में सदा साथ नहीं होता, किंतु इस स्थान पर साथ ही फीके हैं। ये दोनो यहा अवर्ण्य हैं, और ये प्रियतम के वचनों के सामने ऐसे हो गए हैं।

सूबनि उमेडि दिल्ली-दल दलिबे को चमू
सुभट समूहनि सिवा की उमहति है;
कहै 'मतिराम' ताहि रोकिबे को संगर मैं
काहू के न हिम्मत हिये मे उलहति है।
सत्रु सालनंद के प्रताप की लहरि सब
गरबी गनीम बरगीन को दहति है;
पति पातसाह की, इजति उमरावन की
राखी रैया राव भावसिंह की रहति है।
(मतिराम)

बरगी = वर्गवाले, झुंडवाले, साथी। चौथे पद में अलंकार है। बादशाह की लाज और उमरावों की इज़्ज़त का एक ही धर्म है। ये दोनो यहाँ अवर्ण्य हैं।

नोट— इस अलंकार में कहीं-कहीं वर्ण्य से मुख्य तथा अवर्ण्य से अमुख्य विषय का तात्पर्य है, न कि उपमेय या उपमान का।

द्वितीय तुल्ययोगिता—में हितकारी और अहितकारी वस्तुओं के साथ एकसाँ बर्ताव किया जाता है। यथा—

जो निसि-दिन सेवन करैं, अरु जे करैं बिरोध ;
दुहुन परमपद देत हरि, कहौ कौन यह बोध ?

(मतिराम)

विरोध करनेवालों तथा सेवा करनेवालों के साथ एक ही बर्ताव यदा-कदा होता है।

जो सींचत, काटत जु है, जो पेरत जन कोइ,
जो रच्छत, तिन सबन को ऊँख मीठेयै होइ।

(पद्माकर)

इन उदाहरणों में धर्म एक-ही-एक है।

तृतीय तुल्ययोगिता—में बड़े-बड़े गुणियों के साथ वर्ण्य का समता-सूचक वर्णन होता है। यथा—

दई जियावन की टहल बिधि ने इन्हैं अछेह ;
सुधा, सजीवन-मूरि अरु प्यारी मिलन सनेह।

(वैरीशाल)

किसी रोग-ग्रस्त प्रेमी का अपनी सेवा करनेवाले मित्र से वचन है। (हे ! कृपालु मित्र आप हमारी सेवा कर-कर के वथा हैरान हो रहे हैं,) ब्रह्मा ने जिलाने की अक्षय सामर्थ्य और कार्य सुधा, सजीवनी बूटी तथा प्रिया के प्रेम-पूर्वक मिलने में रख दी है। इस कारण, अरे मित्र ! तू इतनी मेरी ख़िदमत कर-करके क्यों हैरान हो रहा है, इनमें जो उपाय सहूलियत से हो पावे, वह क्यों नहीं कर देता।

यहाँ प्रिया का मिलन (वास्तव में) जिलाने के लिये यथेष्ट सामग्री नहीं, उसमें वह सामर्थ्य कहाँ, तथा अन्य किसी गुण में भी प्रिया का मिलन अन्य दोनो वस्तुओं की एकता में नहीं आता।

सौरभ में परिपूरन केतकी, मालती, मौलसिरी औ' तुहूँ है ;
गौरता में कल कंचन, केसरि और तुहूँ है गनो सबहूँ है।

बानक में 'रघुनाथ' कहै रति रंभा औ' तू है देखी महूँ है ;
ऐसी रची बिधि भावती तोहि, न तेरी छुटी मरजाद कहूँ है।
(रघुनाथ)

सोने और केसर की लालिमा के कारण उत्कृष्ट गोराई की इनसे उपमा दी जाती है।

तृतीय तुल्ययोगिता मे दीपक से पृथक् अलकारता है या नहीं—

उपर्युक्त बडे गुणी सब उपमान रूप मे भी समझे जा सकते हैं, किंतु उपमा नहीं दी गई है। इसी से दीपक का-सा सादृश्य हो जाता है। दूलह के उदाहरण "चारु गिरजा, गिरारु वृषभान की दुलारी हैं" मे अवर्ण्यपन बहुत प्रकट तो नही है, किंतु आ अवश्य जाता है। जो यदा कदा का साथवाला विचार पहली तुल्ययोगिता में है, वह भी हर स्थान पर स्पष्ट नहीं होता, क्योंकि यहाँ केवल उपमेय और उपमानों का एक धर्म के साथ कथन होने अथच उनके प्रबल गुण-युक्त होने से वर्णन प्रायः सादृश्य के रूप मे आ जाता है। अतएव मतिराम और भूषण ने इसे पृथक् अलंकार माना ही नहीं।

परंतु जैसा कि तृतीय तुल्ययोगिता के प्रथम उदाहरण की टीका में लिखा गया है, प्रिया का मिलन अन्य दोनो वस्तुओं के न तो अन्य किसी धर्म में समान है, तथा जिलाने रूप धर्म मे भी वह वास्तव में सदृश्य नहीं है, अत· "यदा कदावाले साथ" का विचार वहाँ आ जाने से यदि यह भेद मान भी लिया जावे, तो अनौचित्य न होवेगा।

दीपक (१५)

दीपक—मे वर्ण्य और अवर्ण्य का (एक ही बार कथित) एक ही धर्म होता है।

इसमें एक के लिये कहा हुआ धर्म अन्वय द्वारा अन्य के विषय में भी आरोपित हो जाता है। जैसे एक दीपक कई वस्तुओं को प्रकाशित करता है, वैसे ही एक धर्म कई को यहाँ रंजित करता है। उदाहरण—

कामिनि कंत सों, जामिनि चंद सों, दामिनि पावस-मेघ-घटा सों;
कीरति दान सों, सूरति ज्ञान सों, प्रीति बड़ी सनमान महा सों।
'भूषन' भूषन सों तरुनी, नलिनी नव पूषनदेव-प्रभा सों;
जाहिर चारिहु ओर जहान, लसै हिंदुवान खुमान सिवा सों।
(भूषण)

भाव यह कि हिंदुवान खुमान सिवा सों कामिनि कंत (सों) लसै। हिंदुवान खुमान सिवा उपमेय है, कामिनि कंत उपमान, सो वाचक लुप्त है, और लसै धर्म है। लसै धर्म एक उपमेय तथा बहुतेरे उपमानों के लिये कहा गया है।

चंचल निसि उदबस रहैं करत प्रात बसि राज;
अरबिंदनि मैं इंदिरा सुंदर नैननि लाज।
(मतिराम)

उदबस = उजड़े हुए। प्रयोजन यह है कि कमल में लक्ष्मी रात में नहीं रहतीं, तथा दिन में बसती हैं। इसी प्रकार सुंदर नैनों में लाज निशि में उजड़ी रहती है, तथा दिन में राज करती है।

गढ़न गँजाय, गढ़ धरन सजाय करि
छाँड़े केते धरम दुवार दै भिखारी से;
साहि के सपूत पूत बीर सिवराजसिंह
केते गढ़धारी किए बन बनचारी से।
'भूषन' बखानै केते दीन्हें बंदीखानै सेख,
सैयद हजारी गहे रैयति बजारी से;

महता से मुगल महाजन से महाराज
डाँड़े लीन्हें पकरि पठान पटवारी से।
(भूषण)

दंडित कर लेना धर्म वर्ण्य और अवर्ण्य, दोनो के साथ लगता है।

दुग्ग पर दुग्ग जीते सरजा सिवाजी गाजी,
डग्ग नाचे डग्ग पर रुंड-मुंड फरके;
'भूषन' भनत बाजे जीति के नगारे भारे,
सारे करनाटी भूप सिंहल को सरके।
मारे सुनि सुभट पनारे वारे उद्भट,
तारे लागे फिरन सितारे गढ़धर के;
बीजापुर बीरन के, गोलकुंडा धीरन के,
दिल्ली उर मीरन के दाडिम-से दरके।
(भूषण)

दरकना धर्म वर्ण्यावर्ण्य, दोनो के साथ आया है।

थोरी - थोरी बैसवारी नवलकिसोरी सबै
भोरी-भोरी बातनि बिहँसि मुख मोरतीं;
बसन बिभूषन बिराजत बिमल बर,
मदन मरोरनि तरकि तन तोरतीं।
प्यारे पातसाह के परम अनुराग रँगी,
चाय भरीं चायल चपल दृग जोरतीं;
काम-अबला-सी, कलाधर की कला-सी चारु
चंपक-लता-सी, चपला-सी चित चोरतीं।
(चंद्रशेखर वाजपेयी)

यहाँ काम-अबला, कलाधर की कला तथा चंपक-लता एवं चपला

उपमान हैं, तथा सबै नवलकिशोरी उपमेय हैं। इन सबका एक ही धर्म चित चोरना है, जिससे दीपकालंकार है।

नरकि तन तोरती = चपलता से अँगड़ाई लेती हैं। चायल = चालवाली, चालाक।

आवृत्ति दीपक (१६)

आवृत्ति दीपक—में एक ही शब्द, या अर्थ या (शब्द, और अर्थ) उभयवाची (शब्द) अनेक बार आते हैं।

यह तीन प्रकार का होता है—शब्दावृति, अर्थावृत्ति, और शब्दार्था-वृत्ति।

शब्दावृत्ति दीपक—में अनेक बार एक ही शब्द अन्यान्य अर्थों में आता है। यथा—

चढ़त तुरंग चतुरंग साजि सिवराज,
चढ़त प्रताप दिन-दिन अति जंग मैं,
'भूषन' चढ़त मरहट्टन के चित चाव,
खग्ग खुलि चढ़त है अरिन के अंग मैं,
भौंसिला के हाथ गढ़ कोट हैं चढ़त, अरि
जोट ह्वै चढ़त एक मेरुगिरि - संग मैं;
तुरकानगन व्योमयान है चढ़त, बिनु
मान है चढ़त बदरंग अवरंग मै।

(भूषण)

इस छंद में चढ़त शब्द विविध स्थानों में विविध अर्थों में प्रयुक्त हुआ है, जिससे पदावृत्ति दीपक है।

तीज दिन तरनि - तनूजा के तमाल तरे
तिथि की तयारी ताकि आईं तखियन मैं;

कहै 'पदुमाकर' त्यों उमगि उमंग उठै,
मेहँदी सुरंग की तरंग नखियन मैं।
सोरहौ सिंगार सजी, सची की न सोभा बची,
तारन मैं ससि ज्यों सोहाई सखियन मैं;
काम झूलै उर मैं, उरोजन मैं दाम झूले,
स्याम झूलै प्यारी की अन्यारी अँखियन मैं।
(पद्माकर)

सखियन = सखियाँ। नखियन = नखो। दाम का अर्थ रस्सी है। यहाँ ज़ंजीर-नामक आभूषण से प्रयोजन है। झूलै शब्द का अर्थ तीनो स्थानों पर पृथक् है। काम हृदय में बसने से सात्त्विक भाव कंप हुआ, जिससे ज़ंजीर हिलने लगी, नायिका नायक का स्मरण कर रही है।

अर्थावृत्ति दीपक—एक ही अर्थवाले अनेक शब्द अनेक बार आते है। यथा—

बैन सकुचैं न, नैन नैसुक न लाजैं री।
(दूलह)

यहाँ सकुचने और लजाने के अर्थ सम हैं।

थकि रहे दूत, तकि बकि रहे मुँह बाय,
चकि रहे चित्रगुप्त, जकि रहे जमराज।
(लेखराज)

यहाँ थकि, चकि, जकि के अर्थ सम हैं।

लखौ लाल! तुमकौं लखत यों बिलास अधिकात;
बिहँसत ललित कपोल हैं, मधुर नैन मुसकात।
(मतिराम)

बिहँसत और मुसकात एक ही अर्थवाची हैं।

राजत अंजन अधर लगि, सोहत जावक भाल,
भलो अपूरब रूप यह दरसायो नँदलाल।
(बैरीशाल)

राजत और सोहत एकार्थवाची हैं।

पदार्थावृत्ति दीपक—में एक ही शब्द उसी अर्थ में सुंदरता-पूर्वक अनेक बार प्रयुक्त होता है।

यदि प्रयोग में सौंदर्य न हो, तो वही पुनरुक्ति दोष हो जायगा। आवृत्ति दीपक अलंकारों में दीपक शब्द आता है, किंतु इस अलंकार में दीपकालंकार से पृथक् विषय है। यथा—

पच्छी पढ़ु कीर नीको, फूल कासमीर नीको,
सीरो-सो उसीर नीको, रूप जो अनंगा को,
मंत्री मतिधीर नीको, मित्र दिलगीर नीको,
रतनन हीर, चीर पाट पीत रंगा को।
कहै 'लेखराज' लखो लच्छनी सुवीर नीको,
प्रगट फकीर नीको बिना रस-रंगा को;
सज्जन को तीर नीको, पच्छिम समीर नीको,
सुरभी को छीर नीको, नीर नीको गंगा को।
(लेखराज)

पढ़नेवाला शुक पक्षी अच्छा, कश्मीरी फूल अच्छा, (विशेष) ठंढा खस अच्छा, कामदेव का रूप अच्छा, दिलगीर (रंजीदा, यहाँ चित्त पकड़नेवाला, जिसमें मन लगे) मित्र अच्छा, रत्नों में हीरा अच्छा, पीला रेशमी कपड़ा अच्छा, लक्षण-युक्त योद्धा अच्छा, रस-रंग में न पड़नेवाला फ़कीर अच्छा आदि। शेष सुगम है। दूसरे और तीसरे पदों के तुकांत रंगा शब्द हैं, जिनके अर्थ भिन्न, रंग तथा रंजित होने से तुकांत में पुनरुक्ति-दोष नहीं है।

सकल सहेलिन के पीछे पीछे डोलति है,
मंद-मंद गौन आजु हियरा हरत है;
सनमुख होत सुख होत 'मतिराम', जब
पौन लागे घूँघट को पट उघरत है।
जमुना के तट बंसीबट के निकट
नँदलाल पै सकोचन सों चाह्यो न परत है;
तन तौ तिया को बर भाँवरै भरत, मन
साँवरे बदन पर भाँवरै भरत है।
(मतिराम)

प्रतिवस्तूपमा और आवृत्ति दीपक मे भेद—प्रतिवस्तूपमा में एक प्रस्तुत और दूसरा अप्रस्तुत होता है, किंतु आवृत्ति दीपक में दोनो या तो प्रस्तुत होते हैं या अप्रस्तुत। यह मत अप्पय्य दीक्षित का है।

तुल्ययोगिता और आवृत्ति दीपक का भेद—तुल्ययोगिता में धर्म एक ही बार कहा जाता है, और आवृत्ति मे वही एक शब्द अनेक बार आता है। यथा—

चले चंदबान, घनबान औ' कुहूक बान,
चलत कमान धूम आसमान छ्वै रहो,
चली जमदाढे बाढ़िवारैं तरवारैं जहाँ,
लोह आँच जेठ के तरनि मान वै रहो।
ऐसे समै फौजे बिचलाईं छत्रसालसिंह,
अरि के चलाए पॉय बीर रस च्वै रहो;
हय चले, हाथी चले संग छोड़ि साथी चले,
ऐसी चलाचली मैं अचल हाड़ा ह्वै रहो।
(भूषण)

भागे मीरजादे, पीरजादे औ' अमीरजादे,
भागे खानज़ादे प्रान मरत बचायकै ;
भागि गज-बाजी, रथ पथ न सँभारैं, परैं
गोलन पै गोल सूर सहमि सकायकै ।
भाग्यो सुलतान जान बचत न जानि बेगि,
बलित बितुंड पै बिराजि बिलखायकै ;
जैसे लगै जंगल मैं ग्रीषम की आगि, चलैं
भागि मृग, महिष, बराह बिललायकै ।

(चंद्रशेखर वाजपेयी)

दौरे काल किंकर कराल किलकारी देत,
दौरीं काली किलकत छुधा के तरंग तैं ;
कहै 'हरिकेस' दाँत पीसत खबीस दौरे,
दौरे मंडलीक गीध गीदर उमंग तैं ।
चंपति के नंद छत्रसाल छत्रसाल आजु
फरकाई भुज औ' चढ़ाई भुव भंग तैं ;
भंग डारि मुख ते, भुजान ते भुजंग डारि,
दौर्‌यो हर कूदि डारि गौरा अरधंग तैं ।

(हरिकेश)

बेद राखे बिदित, पुरान राखे सार-जुत,
राम - नाम राखो अति रसना सुघर मैं ;
हिंदुन की चोटी, रोटी राखी है सिपाहिन की,
काँधे मैं जनेव राखो, माला राखी गर मैं ।
मीड़ि राखे मुगल, मरोड़ि राखे बादशाह,
बैरी पीसि राखे, बरदान राखो कर मैं ;

हिंदुन की हद्द राखी तेग-बल सिवराज,
देव राखे देवल, स्वधर्म राख्यो घर मैं।
(भूषण)

दीपक से पृथक् अलंकारता—जिस प्रकार एक ही दीपक अनेक वस्तुओं को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार दीपक में एक ही शब्द अनेकों का रंजन करता है। परंतु आवृत्ति दीपक में जिस प्रकार एक ही दीपक को प्रत्येक वस्तुओं के समीप ले-ले जाकर देखते हैं, इसी प्रकार यहाँ एक ही शब्द या एक ही अर्थ या एक ही शब्दार्थ अनेक स्थानों पर लिखा जाकर अनेकों का रंजन करता है।

प्रतिवस्तूपमा (१७)

प्रतिवस्तूपमा—में स्वतंत्र (निरपेक्ष) उपमेय-उपमान वाक्यों में एक ही धर्म शब्द-भेद से अलग-अलग कहा जाता है। यथा—

मद - जल धरन द्विरद बल राजत,
बहु जल - धरन जलद छबि साजै ;
पुहमि - धरन फनिनाथ लसत अति,
तेज - धरन ग्रीषम - रबि छाजै।
खरग,धरन सोभा तहँ राजत,
रुचि 'भूषन' गुन-धरन समाजै।
दिल्लि-दलन दक्खिन-दिसि-थंभन,
ऐंड़ - धरन सिवराज बिराजै।
(भूषण)

यहाँ पहले तीनो पदों में उपमान वाक्य हैं, तथा चौथा उपमेय वाक्य है।

पिसुन-बचन सज्जन-चितै सकै न फोरि न फारि ;
कहा करे लगि तोय मैं तुपक, तीर, तरवारि।
(मतिराम)

यहाँ न फोड़ना-फाड़ना पहले वाक्य का धर्म है, तथा कहा करै दूसरे वाक्य का, जिसका प्रयोजन वही है, जो पहले वाक्य के न फोड़ने-फाड़ने का।

वैधर्म्य से प्रतिवस्तूपमा—

बुध ही जानत बुधन को परम परिश्रम ताहि,
प्रबल प्रसव की पीर को बंध्या जानै नाहिं।
(गुलाब कवि)

यहाँ भी धर्म एक ही है, किंतु दूसरे चरण में नकार आने के कारण वैधर्म्य से उदाहरण माना गया है। वैधर्म्य उलटे धर्म को कहते हैं।

वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्नधर्मोपमा तथा वैधर्म्योपमा—यदि दूसरा चरण यों कर देवें—

प्रबल प्रसव की पीर जिमि बंध्या जानै नाहि,

तो वाचक के आ जाने से प्रतिवस्तूपमा हटकर वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्नधर्मोपमा हो जायगी। उलटा धर्म होने से यहाँ वैधर्म्योपमा भी कही जा सकती है।

प्रतिवस्तूपमा की लुप्तोपमा तथा वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्नधर्मोपमा से पृथक् अलंकारता—अब प्रश्न यह उठता है कि वाचक न होने से हम वस्तुप्रतिवस्तूपमा को लुप्तोपमा क्यों न मानें? उपमा में साधारण धर्म संबंध-मात्र में चमत्कार होता है, किंतु प्रतिवस्तूपमा में दो एक ही प्रकार के वाक्य अलग-अलग कहने में रहता है, जिनमें एक ही धर्म पृथक् शब्दों में कहा गया हो। इस बात में

पृथक् सौंदर्य का भी अनुभव होता है, अर्थात् इसमें उपमान और उपमेय वाक्यों मे बिंब-प्रतिबिंब भाव का संबंध होता है, किंतु वाचक के आ जाने से यह भाव अलग हो जाता है, जिससे उपमा आ जाती है।

प्रतिवस्तूपमा और दृष्टांत मे भेद—बिंब-प्रतिबिंब भाव दृष्टांत (नं० १८) में भी रहता है, किंतु भेद यह है कि प्रतिवस्तूपमा में धर्म एक ही होने से केवल उपमान-उपमेय का बिंब-प्रतिबिंब भाव रहता है, तथा दृष्टांत मे एक ही धर्म न होने के कारण दोनो वाक्यों में यह भाव धर्मों में भी आ जाता है। यह भेद बहुत थोड़ा होने से पृथक् अलंकारत्व के लिये अपर्याप्त-सा है। कृपया इस विषय पर दृष्टांत के उदाहरणों मे अंतवाले बिहारी के दोहे की टीका तथा उसके नीचे इनने पृथक् अलंकारता-शीर्षक लेख भी पढ़ लीजिए।

दृष्टांत (१८)

दृष्टांत—में धर्मों तथा उपमान और उपमेय (दोनो सामान्य या दोनो विशेष) का निरपेक्ष वाक्यों मे बिंब-प्रतिबिंब भाव होता है।

विशेष वाक्य—एक व्यक्ति के संबंध में कथन (एकवचन में) विशेष कहलाता है।

सामान्य वाक्य—(बहुवचन में) बहुतो के विषय मे साधारण वाक्य सामान्य कहलाता है।

दृष्टात तथा अर्थांतरन्यास का भेद—अर्थांतरन्यास (नं० १०) में एक वाक्य सामान्य होता है और दूसरा विशेष, किंतु दृष्टांत में दोनो वाक्य सामान्य या दोनो विशेष होते हैं।

दृष्टांत और निदर्शना में भेद—निदर्शना में वाक्य सापेक्ष होते हैं, किंतु दृष्टांत मे स्वतंत्र। यथा—

संगति के अनुसार ही सबके बनत सुभाय ;
साँभर में जो कुछ परै, निरो नोन ह्वै जाय।
(दुलारेलाल)

पगीं प्रेम नँदलाल के, हमैं न भावन जोग ;
मधुप ! राजपद पाय कै भीख न माँगत लोग।
(मतिराम)

यहाँ दोनो वाक्य सामान्य हैं। पहला उपमेय वाक्य है और दूसरा उपमान। धर्म दोनो पृथक् हैं, किंतु समानता भासित होने के कारण बिंब-प्रतिबिंब भाव है।

बिंब प्रतिबिंबोपमा—'कै' के स्थान पर 'जिमि' कर देने से बिंब-प्रतिबिंब भावापन्नधर्मोपमा हो जायगी।

देत तुरीगन गीत सुने बिन, देत करीगन गीत सुनाए ;
'भूषन' भावत भूप न आन जहान खुमान की कीरति गाए।
मंगन को महिपाल घने पै निहाल करै सिवराज रिझाए ;
आन ऋतैं बरसै सरसैं उमड़ैं नदियाँ ऋतु पावस पाए।
(भूषण)

यहाँ पहले तीन उपमेय वाक्य हैं, और चौथा उपमान। पहले तीनो वाक्य विशेष हैं, और चौथा भी वर्षा के कारण विशेष हो गया है।

अरबिंद प्रफुल्लित देखिकै भौंर अचानक जाय अरै पै अरै ;
बनमाल-थली लखिकै मृगसावक दौरि बिहार करै पै करै।
सरसी ढिग पाय कै ब्याकुल मीन हुलास सों कूदि परै पै परै ;
अवलोकि गोपाल को 'दास'जू मो अँखियाँ तजि लाज ढरै पै ढरै।
(दास)

यहाँ ऊपर के तीन वाक्य विशेष हैं, तथा अँखियाँ दो होने से सामान्य हुई जाती हैं, किंतु जोड़े को एक मानकर विशेष ही कहा गया है।

होत भले के बुरो सुत, भलो बुरे के होत ;
दीपक सों काजर प्रकट, कमल कीच के गोत।
सहनसील न सहै का, खल करै का न कुकर्म ;
का अदेय बदान्य को, अरु नीच को का धर्म।
(कस्यचित्कवेः)

वैधर्म्य से उदाहरण—

जीवन लाभ हमैं लखे लाल ! तिहारी काँति,
बिना स्यामघन छनप्रभा प्रभा लहै केहि भाँति।
(दास)

दूसरे वाक्य में नकारात्मक अर्थ से वैधर्म्य आ गया है।

दृष्टांत के सभव भेद—दृष्टांत के दो प्रकार के उदाहरण हो सकते हैं, एक तो शुद्ध बिंब-प्रतिबिंब भाव-युक्त, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, और दूसरा उस दशा मे, जहाँ पहले वाक्य का अर्थ कुछ अस्पष्ट हो, तथा दूसरे वाक्य से उसका स्पष्टीकरण अथच समर्थन किया जाय।

बसै बुराई जासु तन, ताही को सनमान ;
भलो भलो कहि:सब तजैं, खोटेग्रह जप-दान।
(बिहारी)

यहाँ बुरे का सम्मान क्यों होता है, सो विशेष प्रकट न था, जिसमे कवि ने ज्योतिष-सबंधी ग्रहों का वर्णन करके दिखलाया कि अच्छे ग्रहों को तो लोग अच्छा कहकर छोड़ देते हैं, किंतु बुरों को प्रसन्न करने को जप-दान करते-कराते हैं।

दृष्टांत तथा प्रतिवस्तूपमा में पृथक् अलंकारता—

दृष्टांत का यह द्वितीय भेद इतने महत्त्व का है कि इसको स्वीकार कर लेने पर प्रतिवस्तूपमा से दृष्टांत की पृथक्ता अत्यंत स्पष्ट हो जाती है। तथा इसको पृथक् अलंकार स्वीकार करना ही पड़ता है, और तब वे उदाहरण भी, जिनमें प्रतिवस्तूपमा से किंचित् ही पृथक्ता है, इसी में लाना पड़ता है।

निदर्शना (१९)

निदर्शना—निदर्शन दृष्टांतकरण—दृष्टांतकरणम् निदर्शना है, अर्थात् पदार्थ तथा वाक्यार्थ या कार्यार्थ को दृष्टांत-रूप में रखकर किसी अर्थ को अच्छे प्रकार हृदयगम कराया जाना निदर्शना है। ऐसा वाक्यार्थ तथा पदार्थ या क्रियार्थ द्वारा होने से इसके भी दो भेद हैं।

(१) वाक्यार्थ और पदार्थ निदर्शना—उपमेय - उपमानवाले सापेक्ष वाक्यों में पदार्थ या वाक्यार्थ के असंभव संबंध के कारण सादृश्य की कल्पना करने ही पर जहाँ अर्थ बने, वहाँ निदर्शना होती है। यथा—

वाक्यार्थ निदर्शना—

जो जस पावन पायो रमापति सिंधुर पायन धाय उधारे;
जो जस चारु लह्यो हरिचंदजू मंद ह्वै डोम के जाय बिहारे।
जोई दधीच लह्यो जस मीच लै, इंद्र जबै सब दानव मारे;
सोइ गयी जस भागीरथी सहजै लहि हौ 'लेखराज' के तारे।

(लेखराज)

यहाँ पहले तीनो वाक्य उपमान हैं, तथा चौथा उपमेय रूप में कहा

गया है। परंतु जो यश अन्यो ने अन्यान्य कार्य करके पाया, वही यश श्रीभागीरथीजी श्रीलेखराज को तारकर नहीं पा सकती थी। अतः दोनो यशों मे सादृश्य की कल्पना करने पर अर्थ की सगति होती है। यहाँ सादृश्य वाक्यार्थ के बल से पाए जाने से इसको वाक्यार्थ निदर्शना कहना चाहिए। यहाँ कई उपमान होने से वाक्यार्थ निदर्शना माला रूप से लाई गई है।

किंयो चहैं अपनो तुम्हैं तन-मन दै ब्रजराज,
खेलि जुवा ते बंछहीं संपति के सुख साज।
(वैरीशाल)

यहाँ भी वाक्य के बल से उपमा की कल्पना करनी पड़ी है, परतु दूसरा पद भी प्रस्तुत रूप में कहे जाने के कारण (न० ६५) ललित अलंकार हो गया है। अन्यच्च—

भरिबो है समुद्र को संबुक मैं, छिति को छिगुनी पर धारिबो है;
बाँधिगो है मृनाल सो मत्त करी, जुही फूल सों सैल बिदारिबो है।
गनिबो है सितारन को कबि संकर रेनु सों तेल निकारिबो है;
कबिता समुझाइबो मूढन को सबिता गहि भूमि पै डारिबो है।
(संकर)

यहाँ समुद्र को घोंघे में भरने कनिष्ठिका पर पहाड आदि उठाना आदि अनेक उपमान होने से निदर्शना माला रूप में कही जा सकती है। परंतु यहाँ भी उपमान वाक्य प्रस्तुत रूप में होने के कारण तथा वाचक भी न होने से ललित ही है।

पदार्थ निदर्शना—

जब कर गहत कमान-सर, रत परनि कौ भीति,
भावसिंह मैं पाइए तब अरजुन की रीते।
(मतिराम)

यहाँ निदर्शना वाक्य के सहारे न निकाली जाकर केवल एक पद 'रीति' के अर्थ के बल से निकाली गई है। शब्द 'रीति' के अर्थ के बल पर उपमा की कल्पना आश्रित है। अत यहाँ पदार्थ निदर्शना है।

तेरो मुख मेरी भट्ट, धरै सुधाधर-चाल ;
ज्यहि सौतिन के कमल-दग देखत होत बिहाल।

(बैरीशाल)

मुख का सुधाधर की चाल ग्रहण करना न बनने के हेतु सादृश्य की कल्पना करनी पड़ने के कारण निदर्शना अलंकार समझना चाहिए। उपमा की कल्पना 'चाल' शब्द के बल से होती है। अतः पदार्थ निदर्शना है।

देखो सहजै धरत ए खंजन लीला नैन।

(महाराजा जसवंतसिंह)

रूपक तथा निदर्शना का विषय-विभाजन—सर्वस्वकार तथा अप्पय्य दीक्षित ने निदर्शना का निम्नोक्त उदाहरण दिया है, जिसको पंडितराज रूपक को उदाहरण बतलाते हैं।

त्वत्पादनखरत्नानां यदलक्तकमार्जनम् ;
इन्दुं श्रीखण्डलेपेन पाण्डरीकरणं विधोः।

इसी का अनुवाद है—

रजन जावक सों करन तुव पद-नख कौ दार ;
सो 'सित करनों' है ससी करि लेपन घनसार।

(मुरारिदान)

'जो' और 'सो' मे से एक के होने पर दूसरे का ग्रहण हो जाता है। दूसरे पद में 'सो' शब्द है, अतः इस दोहे के प्रथम पद में भी 'जो' शब्द का ग्रहण कर लेना चाहिए।

पंडितराज का मत है—कि जहाँ कर्ताओं का अभेद आर्थ तथा क्रियाओं का अभेद शाब्द हो, वहाँ वाक्यार्थ रूपक होता है। तथा कर्ताओं का अभेद शाब्द और क्रियाओं का अभेद आर्थ होने पर निदर्शना।

यहाँ उपर्युक्त दोहे मे घनसार लेपन करनेवाले 'व्यक्ति' तथा जावक रंजन करके पद-नखो को सुंदर करनेवाले 'पुरुष' का अन्वय 'जो' और 'सो' शब्दों के साथ नहीं होता, अत इनका अभेद अर्थ-बल से ग्रहण करना पड़ता है, अत. कर्ताओ का अभेद आर्थ हुआ।

दोहे में वर्णित क्रियाएँ हैं 'रंजन करन' तथा 'सित करनौ'। इन दोनो का अन्वय 'जो' और 'सो' शब्दो के साथ होता है, अत इनका अभेद शाब्द (वाच्य) है। इसी कारण पंडितराज यहाँ वाक्यार्थ रूपक मानते हैं।

यहाँ दोनो क्रियाओं का अभेद शाब्द तो हो गया, परंतु वे दोनो क्रियाएँ एक तो हो नहीं गई, क्योंकि उनमे वास्तविक समानता नहीं है। अगर समानता होती, तो घनसार लेप तथा 'जावक रंजन' करनेवाले पुरुषो मे 'मूर्खता' रूप सादृश्य की कल्पना न करनी पड़ती। इस सादृश्य की कल्पना करने की आवश्यकता इस कारण हुई कि इन दोनो क्रियाओं मे वास्तविक समानता नही है—वह कल्पित-मात्र है। अत. रूपक की ओर ध्यान जाता ही नही, तथा चमत्कार भी उपमा की कल्पना मे विशेष है। जब इनमें दूसरे धर्म की कल्पना करनी ही पडी, और दृष्टांतकरण है ही, तो निदर्शना का माना जाना अनिवार्य तथा चमत्कार-पूर्ण हो गया।

पंडितराज कहते हैं कि उपर्युक्त श्लोक को—

> त्वत्पादनखरत्नानि यो रञ्जयति यावकैः ;
> इन्दुं चन्दनलेपेन पाण्डुरी कुरुते हि सः।

इस प्रकार कर देने से निदर्शना का उदाहरण हो जायगा। इसका अनुवाद यह है—

जो करत जु तुव चरन नख जावक मार्जन नारि ;
चंदन लेपन चद कौ उज्जल करत निहारि।
(मुरारिदान)

दोहे का अन्वय इस प्रकार हुआ—(हे) नारि ! जो (पुरुष) तुव चरन-नख (सो) जावक मार्जन करत, (वह) निहारि चद (कौं) चदन लेपन (करि) उज्ज्वल करत। यहाँ 'जो' 'सो' शब्दो के वाचक न होने पर भी वाक्य मे कर्ताओ तथा क्रियाओ को इस प्रकार रक्खा गया है कि कर्ताओं का अभेद शाब्द और क्रियाओ का अभेद आर्थ हो गया है। इस कारण यहाँ निदर्शना है।

(१) दोनो दोहो को विचार-पूर्वक देखिए, प्रथम में कर्ताओं का अभेद आर्थ है, तथा दूसरे में शाब्द (वाच्य)।

(२) प्रथम दोहे मे क्रियाओ का अभेद शाब्द है दूसरे में आर्थ, यही भेद है।

(३) सादृश्य की कल्पना जैसी पहले में करनी पडती है, वैसी ही दूसरे दोहे मे भी। दोनो दोहो में 'मूर्खता' रूप सादृश्य को निकालना ही पडता है।

रूपक में सादृश्य जगत्प्रसिद्ध होता है, जैसे 'मुख चंद शोभायमान है।' यही भेद वाक्यार्थ रूपक और प्रथम निदर्शना में भी मानना चाहिए, अर्थात् वाक्यार्थ रूपक में सादृश्य जगत्प्रसिद्ध होना चाहिए, और प्रथम निदर्शना में अन्य सादृश्य की कल्पना करनी पड़ती है। अतः दोनो दोहों में निदर्शना माननी चाहिए।

निदर्शना और ललित में भेद—निदर्शना मे उपमान रूप

वाच्यार्थ अप्रस्तुत रूप में होता है, परंतु ललित (नं० ६५) में वह प्रस्तुत रूप में कर दिया जाता है, तथा वाचक पद भी नहीं लाए जाते, यह भेद है। दोहे को यदि—

> करत अहहि तव चरन-नख जावक मार्जन नारि;
> चंदन चदहि लेपि करि उज्जल करति निहारि।

इस रूप में कर दे, तो ललित हो जायगा।

वास्तव में ललित का आभास तो उपर्युक्त पंडितराजवाले दूसरे श्लोक में भी है, किंतु इस दोहे में उसका रूप और भी स्पष्टतर हो गया है।

यहाँ नायिका के चरण नखो में जावक लगाया जा रहा है। उसको संबोधन करके उपर्युक्त दोहा कहा गया है, और दोहे का उपमान रूप वाच्यार्थ भी प्रस्तुत (वर्ण्य वस्तु के) रूप में है, अतः आगे कहा जानेवाला ललित (६५) अलंकार हो जायगा।

निदर्शना में उपमानरूप वाच्यार्थ अप्रस्तुत रूप (अवर्ण्य रूप) में होता है, यही भेद है।

दृष्टांत और निदर्शना का भेद—दृष्टांत (नं० १८) से हटाने को लक्षण मे 'सापेक्ष' वाक्य का विशेषण बनाया गया है। दृष्टांत में दोनो वाक्य स्वतत्र होते हैं।

(२) कार्येण सदसदर्थ निदर्शना—जहाँ कार्य द्वारा दृष्टांत रूप से सद् (अच्छा) या असद् (ख़राब) अर्थ का बोध कराया जाता है, वहाँ क्रमशः सद् या असदर्थ निदर्शना होती है।

सदर्थ निदर्शना—

> उदय भए निज पक्ष मैं, कीजै श्रीपरकास,
> यहै सिखावत रबि उदित, कौलनि देत बिकास।

(कुमारमणि)

यहाँ सूर्य उदय होकर यह शिक्षा देना हुआ कहा गया है कि अपने पक्षवालों का धन-धान्य से संपन्न होने पर पोषण करना चाहिए। यहाँ सद्वस्तु करने को कहा जाने से सदर्थ निदर्शना हुई।

देस पै भीर बिलोकि परी अति चंचलताई तुरंगन धारी,
देस कुपंकट की घटना उनसों कहुँ जाति छिनौ न निहारी।
बैरिन को मद झारि पछारि हरौ तुर देसहि को दुख भारी,
सूरन को करि चचलता सब देत तुरीगन सीख बिचारी।
(मिश्रबंधु)

तजि आसा तनु-प्रानु की दीपहि मिलत पतग,
दरसावत सब नरन को परम प्रेम कौ ढंग।
(दास)

कार्येण असदर्थ निदर्शना—

मधुप! तृभगी हम तजी प्रगट परम करि प्रीति,
प्रगट करत सब जगत मैं कटु कुलटन की रीति।
(मतिराम)

दीप-जोति सिर धुनि सुसुकि पोनहिं सो घर होइ;
यह उपदेसत सबन कौ, कुस को हितू न कोइ।
(पद्माकर)

घर होइ = बुझकर।

विशेष—सदसदर्थ निदर्शना मे संभव संबंध से तथा पदार्थ और वाक्यार्थ निदर्शना में असंभव संबंध से निदर्शना आती है।

अर्थात् सदसदर्थ निदर्शना मे संभव सबंध होने से सादृश्य की कल्पना नहीं करनी पड़ती, परंतु वाक्यार्थ तथा पदार्थ निदर्शना में

असंभव संबंध होने से सादृश्य की कल्पना करनी ही पड़ती है, दृष्टांतकरण दोनो में होता है। यथा—

कमलनि ससि कर परस हीं बिनसत दियो दिखाय,
प्रबल बिरोधी पाप कै समरथ हू नसि जाय।

जो गुन बृंद सता-सुत मैं, कलपद्रुम मैं सो प्रसून समाजै;
कीरति जो 'मतिराम' दिवान मैं, चंद मैं चाँदनी-सी छबि छाजै।
राव मैं तेज को पुंज प्रचड, सो आतप सूरज मैं रुचि साजै;
जो नृप भाऊ के हाथ कृपान, सो पारथ के कर बान बिराजै।
(मतिराम)

सता = छत्रसाल।

यहाँ दोहे तथा कवित्त, दोनो में दृष्टातकरण है। दोहे के दोनो पदों में प्रबल विरोधी द्वारा सबल का नाश होना रूप सभव सबध विद्यमान है, परतु कवित्त में पार्थ के बाण तथा भाऊ की कृपाण मे कोई संभव सबध नहीं वर्णित है, अतः उनमें सादृश्य की कल्पना करनी पड़ती है। इसी कारण निदर्शना के सम्मिलित लक्षण मे केवल दृष्टातकरण कहा गया है—दृष्टातकरण सब भेदों में है। पहले दो भेदों में असंभव संबध तथा सदसद् निदर्शना में संभव संबध रहता है। पहले भेदों में सादृश्य की कल्पना भी होती है, वह सादृश्य भी दोहे में सभव संबध होने से स्वयं सिद्ध है, अतः कल्पना नहीं करनी पड़ी। इसी कारण सादृश्य की कल्पना भी सम्मिलित लक्षण में नहीं रक्खी गई।

व्यतिरेक (२०)

व्यतिरेक—में उपमान को उपमेय से भेद (अलग) करनेवाले धर्म का उक्त होना रहता है।

इसके तीन भेद हैं—अधिक, सम और न्यून। उपमेय में कुछ अधिकता के कथन से अधिक होता है, साम्य से सम और कमी से न्यून।

(१) अधिक व्यतिरेक—

कहै कबि 'दूलह' निहारे चकचौधी लाग,
कुंदन-सो रूप पै सुगंध सरसानो है।
(दूलह)

उपमेय में जो विशेषता होती है, उसमें गुणाधिक्य का प्रयोजन है। रूप में सौरभ स्वर्ण से अधिक है।

दमकति दरपन दरप दरि दीप-सिखा-दुति देह ;
वह दृढ़ इक दिसि दिपत, यह मृदु दस दिसनि सनेह।
(दुलारेलाल)

(२) सम व्यतिरेक—

घनस्याम ही मैं बसै जगर-मगर होति
दामिनी औ' कामिनी कहेई भेद जान्यो है।
(दूलह)

यहाँ दामिनी और कामिनी हैं तो पृथक्, किंतु दोनो समभाव से जगमगा रही हैं। भेद केवल इतना है कि दो शब्द अलग-अलग हैं।

चंचल हैं वे ये भट्ट चपलाई के ऐन ;
भेद नाम सों जानिए वै खंजन ये नैन।
(रामसिंह)

पंडितराज तथा अप्पय्य दीक्षित में मतभेद—पंडितराज ने ऐसे उदाहरणों में गम्योपमा मानी है, परंतु कुवलयानंद ने अलग

करनेवाले नाम रूपी धर्म के उक्त होने से व्यतिरेक ही कहा है, जो उचित भी मालूम पड़ता है।

(३) न्यून व्यतिरेक—

रस भीजे हम तुम जलज रहियत रोग समोय ;
पै तुमको नित मित्र सुख, सपनेहु हमहि न होय।
(बैरीशाल)

कमल को मित्र (सूर्य) का सुख है, किंतु हमे मित्र (दोस्त) का सुख नही है। विरही नायक का वर्णन है। कुवलयानद में यह उदाहरण है—

नव पल्लव सों तुम रक्त जु हौ, हम रक्त प्रसंस प्रिया गुन को धरि ;
तन रावरे आनि बसै जु सिलीमुख, हौ स्मर-चाप सिलीमुख सों भरि।
नव सुंदरि के पद पर्सहु से दुहु होत प्रफुल्लित आनँद रों तरि;
सब तुल्यता मे बिधि तोहि असोकरु मोहिं ससोक कियो बिधिनै बरि।
(मुरारिदान)

शिलीमुख का अर्थ भ्रमर और बाण है। दूसरे रक्त का अर्थ अनुरक्त है। तीनो पहले पदो मे अशोक से समता है, किंतु चौथे मे वह अशोक और नायक सशोक है, जिससे छद विप्रलभ शृंगार का पोषक हो गया है।

न्यून व्यतिरेक का भेद मानना चाहिए या नहीं ?—कुवलयानंदकार यहाँ व्यतिरेक मानते हैं, किंतु पंडितराज नहीं मानते, क्योंकि वह यहाँ वियोग शृंगार की मुख्यता समझते हैं। देखने मे तो ऐसा दीखता है कि विप्रलंभ और अलंकार दोनो हो सकते हैं। मुख्य भाव वियोग का है, जिसका पोषण अलंकार से भी होता है। अलग करनेवाले धर्म शोक की भिन्नता भी प्रस्तुत है। एक ही वाक्य का अलंकार तथा भाव दोनो मे गणना होना वर्ज्य भी नहीं।

पंडितराज का मत है कि यहाँ चौथे चरण से उपमा दोष निवारण को हटाई गई है, क्योंकि विना ऐसा किए विप्रलंभ शृंगार नहीं आता था, किंतु यहाँ भेद करनेवाला धर्म है ही ; प्राय: अलंकार वाच्यार्थ में होते हैं, और यहाँ भेद करनेवाला धर्म वाच्यार्थ मे प्रस्तुत होने से अलंकार माना जाने में बाधा नही पड़ती। यहाँ भी उपमेय में कोई वास्तविक हीनता नही है, क्योंकि उसका शोक एक दशा-मात्र का फल है।

सहोक्ति (२१)

सहोक्ति—में (कारण कार्य पौर्वा पर्य विपर्यय का कारण न होता हुआ) सह वाची शब्द एक ही धर्म का अनेक स्थानों पर अन्वय करता है। यथा—

> छुटत मुठिनु सँग हीं छुटी लोक-लाज, कुल-चाल ;
> लगे दुहुन इक बेर ही चल चित, नैन गुलाल।
>
> (बिहारी)

मुष्टिका और लोक लाज तथा कुल-चाल का छुटना सग शब्द के ज़ोर से हुआ, यही दशा चित्त तथा नैन की हुई।

सहोक्ति और अतिशयोक्ति मे भेद—

पहिले कारण होता है और पीछे कार्य, यह नियम है। यथा—

> तोपन सों गोला अरि देहन सो प्रान कहैं
> याही रन मंडल में साथ ही निकरि हैं।
>
> (मिश्रबंधु)

यहाँ गोलों का तोपों से निकलना कारण है, और वेरियों का मारा जाना कार्य। यहाँ कारण और कार्य का साथ होना कहा गया है ; अतः कारण कार्य पौर्वापर्य नियमों (पहले कारण, बाद में कार्य होने

का नियम) उल्लंघन होता है। यह सह वाची शब्द के बल से हुआ है, अतः यहाँ सहोक्ति वास्तव में नहीं है। क्योंकि मुख्य चमत्कार उसके आधार पर नहीं, कारण के प्रथम कार्य होने में है। साहित्य-दर्पणकार इसे भी सहोक्ति में मानते हैं। सहोक्ति का दूसरा उदाहरण यथा—

छूट्यो है हुलास, आम खास एक संग छूट्यो,
हरम सरम एक संग बिनु ढंग ही;
ननन ते नीर धीर छूट्यो एक संग, छूटी
सुख रुचि मुख रुचि त्यों हीं बिन रंग ही।
'भूषन' बखाने सिवराज मरदाने ! तेरी
धाक बिललाने न गहत बल अंग ही;
दच्छिन को सूबा पाय दिल्ली के अमीर तजैं
उत्तर की आस जीव-आस एक संग ही।
(भूषण)

इस छंद में सहोक्ति के कई उदाहरण हैं।

लख्यो न मंदिर केलि मैं पिय रुचि बिजित अनग;
नैन करन तै जल बलय गिरे एक ही संग।
(मतिराम)

यहाँ गिरे शब्द जल और कंकण, दोनो के साथ समान प्रकार से प्रयुक्त है, दो में से किसी के साथ मुख्यता और दूसरे के साथ अमुख्यता के साथ नहीं।

सहोक्ति के लक्षण में मतभेद—सर्वस्वकार और पंडितराज का मत है कि जब तक ऐसी प्रधानता और अप्रधानता न आए, तब तक सहोक्ति न होगी। यह बात भूषण के उदाहरण में तो है, किंतु दोहे में नहीं, परंतु चमत्कार दोनो में है। एक विचार यह भी किया गया है कि जहाँ मुख्यता और अमुख्यता का भाव न आता हो, वहाँ उदाहरण सहोक्ति का न होकर तुल्ययोगिता या

दीपक का माना जायगा। तुल्ययोगिता (नं० १४) का हमारे यहाँ जो लक्षण दिया गया है, उसमे भी यद्यपि उपयुक्त दोहेवाला उदाहरण आता है, तथापि संग शब्द के योग से जो चमत्कार दोहे में व्यक्त होता है, उसके आधार पर इसका अतर्भाव तुल्ययोगिता में वस्तुत. नहीं होता। दीपक (नं० १५) में उपमान-उपमेय भाव होता है। जल और वलय, दोनो उपमेय होने से यह बात भी उपर्युक्त दोहे में नहीं है। अतएव सहोक्ति में मुख्यता तथा अमुख्यता का भाव जोड़ना आवश्यक नहीं समझ पडता। उपर्युक्त भूषणवाले उदाहरण में मुख्यता पहले चरण मे हरम की है, दूसरे में धैर्य की तथा चौथे में जीवन की आशा छूटने की। जीने की आशा छूटी, उसी से उत्तर जाने की आशा भी छूट गई। अतः जीव के साथ प्रधानता तथा उत्तर के साथ अप्रधानता से अन्वय मानना चाहिए। इसी प्रकार औरों में भी समझ लीजिए।

तुल्ययोगिता, दीपक और सहोक्ति मे भेद—(नं० १४) तुल्ययोगिता तथा दीपक में भी धर्म का अनेक स्थानों पर अन्वय होता है, किंतु ऐसा 'सह वाची शब्द के आधार पर नहीं होता। दूसरे तुल्ययोगिता में यदा-कदा धर्म का साथ होनेवालों का एक धर्म से सबंध होता है। दीपक में वर्ण्य और अवर्ण्य का एक ही धर्म कहा जाता है, सहोक्ति में उपमान उपमेय-भाव भी नहीं होता।

विनोक्ति (२२)

विनोक्ति—मे वर्ण्य किसी वस्तु के विना शोभन या अशोभन होता है। यथा—

जो कछु पुन्य अरन्य जल-स्थल तीरथ* खेत निकेत कहावै ;
पूजन जाजन औ' जप दान अन्हान परिक्रम गान गनावै

और किते ब्रत नेम उपास अरंभु कै 'देव' को दंभु दिखावै,
हैं सिगरे परपंच के नाच, जुपै मन मै सुचि साँच न आवै।
(देव)

झूमत द्वार अनेक मतंग जँजीर-जरे, मद-अंबु चुचाते;
तीखे तुरंग मनोगति चंचल पौन के गौनहु ते बढ़ि जाते।
भीतर चंदमुखी अवलोकत बाहरे भूप खड़े न समाते;
ऐसे भए, तौ कहा 'तुलसी' जुपै जानकीनाथ के रंग न राते।
(तुलसीदास)

करिए जीवन सुफल चलि, देखहु आजु निसंक;
सरस मनोहर मंजु वह मुख मयंक बिन अंक।
(वैरीशाल)

देखत दीपति दीप की देत प्रान अरु देह;
राजत एक पतंग मै बिना कपट को नेह।
(मतिराम)

ऊपर के उदाहरणो मे शोभन और अशोभन, दोनो के कथन हैं।

सिंह उदैभान बिन अमर सुजान बिन
मान बिन कीन्हीं साहिबी त्यों दिलीसुर की,
साहि सुव महाबाहु सिवाजी सलाह बिन
कौन पातसाह की न पातसाही मुरकी।
(भूषण)

लाल मन रंजन के मिलिबे को मंजन कै
चौकी बैठि बार सुखवति बर नारी है;
अंजन, तमोर, मनि, कचन, सिगार बिनु
सोहत अकेली देह सोभा को सिगारी है।

'सेनापति' सहज की तनकी निकाई ताकी
देखिकै दृगनि जिय उपमा बिचारी है ;
ताल गीत बिन, एक रूप कै हरत मन
परबीन गायन की ज्यों अलापचारी है ।
(सेनापति)

समासोक्ति (२३)

समासोक्ति—में प्रस्तुत के कथन में लिंग, कार्य या विशेषणों की समानता के कारण अनुक्त अप्रस्तुत वृत्तांत का भान होता है।

लिंगसाम्येन—

नहिं पराग, नहिं मधुर मधु, नहिं बिकास यहि काल ;
अली कली हा सों बिंध्यो, आगे कौन हवाल ।
(बिहारी)

यहाँ अलि और कली पुंलिंग तथा स्त्रीलिंग वाची होने से नायक-नायिका-वृत्तांत निकला ।

कार्यसाम्येन—

बड़ो डील लखि पील को सबन तज्यो बन थान ,
धनि सरजा तू जगत में, ताको हर्यो गुमान ।
(भूषण)

उतर पहाड़ बिधनोल खँडहर झार-
खंड हू प्रचार चारु केली है बिरद की ;
गोर गुजरात अरु पूरब पछाँह ठौर
जतु जंगलीन की बसति मारि रद की ।

'भूषन' जो करत न जानै बिन घोर सोर,
भूलि गयो आपनी उँचाई लखे कद की ;
खोइयो प्रबल मदगल गजराज एक,
सरजा सों बैर कै बढाई निज मद की।
(भूषण)

मदगल = मदमस्त । सरजा = सिंह ।

हारे बटवारे जे बिचारे मैजलनि मारे,
दुखित महा रे तिनको न सुख तैं दियो ;
बन के जे पंछी, तिनहूँ के काम को न कछू,
साँझ समै आय बिसराम उन ना लियो ।
आपने हू तन की न छाँह करि सक्यो मूढ,
'दयानिधि' कहै जग जनम बृथा कियो ;
घाम को न आड़ भयो, फूल को न लाभ कछू,
एरे ताड़ - बृक्ष ! एतो बढिकै कहा जियो ।
(दयानिधि)

इसमें सम्मुख सबोधन से ताड़ का वृत्तात प्रस्तुत हुआ । कार्य की समानता के कारण ऐसे पुरुष का भी वृत्तात निकलना है, जो समृद्धिशाली होने पर भी न अपना लाभ करता है न दूसरे का । समृद्धिशाली का वृत्तात अप्रस्तुत है । ताड मे मनुष्य का आरोप नही, केवल उसके प्रस्तुत व्यवहार में मनुष्य के अप्रस्तुत व्यवहार का आरोप होता है ।

समासोक्ति से रूपक तथा श्लेष की पृथक्ता—रसगंगाधरकार का मत है कि रूपक में धर्म और धर्मी, दोनो का आरोप होता है, किंतु यहाँ केवल व्यवहार का । जहाँ श्लिष्ट विशेषण होते हैं, वहाँ केवल विशेषण श्लिष्ट होता है, विशेष्य नहीं । उधर श्लेष (नं० २६) में दोनो श्लिष्ट होते हैं । उभय आश्रित श्लेष में विशेष्य पद तो श्लिष्ट नहीं होता, किंतु उपमेय और उपमान, दोनो

का भिन्न शब्दों द्वारा कथन होता है। समासोक्ति मे केवल प्रस्तुत का कथन रहता है, अप्रस्तुत का नही। इसमे विशेषणों की समानता दो प्रकार से होती है, अर्थात् साधारण और श्लिष्ट विशेषण। ये सब मुख्य भेद न होकर उदाहरणांतर-मात्र हैं।

श्लिष्टविशेषणा समासोक्ति—

विकसित मुख ऐंद्री निरखि रवि कर-सँग अनुरक्त ;
प्राचेतस दिसि-जात ससि ह्वै दुति मलिन बिरक्त।
(रसाल)

यह साहित्यदर्पण के उदाहरण का अनुवाद है। प्रातःकालीन सूर्य जब उदय तथा शशि अस्त हो रहा है, उस समय का वर्णन है।

ऐंद्री = इंद्र-सबंधी = पूर्व दिशा।

विकसित मुख (प्रकाशितोन्मुखी या प्रफुल्लित मुखवाली) पूर्व दिशा को रवि-कर सौं (रवि की किरणों से या सूर्य के हाथो के स्पर्श होने से) अनुरक्त (लाल या अनुराग-युक्त) देखकर प्राचेतस दिशा (पश्चिम दिशा या मृत्यु) की ओर मलिन और विरक्त (श्वेत या वैराग्य-युक्त) होकर चला। परंतु कोष्ठक में दिए हुए मुख, कर, अनुरक्त, प्राचेतस दिशि और विरक्त विशेषण श्लिष्ट होने से ऐसी नायिका तथा नायक के वृत्तांत का भी भान होता है, जो अपनी प्रिया को दूसरे से अनुरक्त देख मरने चला हो। यहाँ केवल विशेषण श्लिष्ट हैं, विशेष्य ऐंद्री, रवि, शशि, अश्लिष्ट हैं।

नोट—यहाँ पूर्व दिशा स्त्रीलिंग है, तथा चंद्रमा और सूर्य पुंलिंग हैं।

साधारणविशेषण—

सहज सुगंध मदांध अलि करत चहूँ दिसि गान,
देखि उदित रबि कमलिनी लगी मुदित मुसकान।
(रसाल)

यह भी साहित्यदर्पण का अनुवाद है। सहज सुगंध आदि विशेषण साधारण (अर्थात् कमलिनी और पद्मिनी नायिका से समानरूपेण संबंधित होने से) हैं। यहाँ नायिका दोहे के प्रथम चरण में समान विशेषणों के बल से कमलिनी से पद्मिनी निकलती है, परंतु व्यवहार की प्रतीति मुख्यतया दूसरे चरण में आए मुसकान-रूपी धर्म के कारण होती है, क्योंकि मुसकान धर्म केवल उसी का है, कमल में उसका आरोप-मात्र हो सकता है।

रूपक और समासोक्ति के उदाहरणों में भेद—

जस्स रणन्ते उरए करे कुणन्तस्स मडलग्गलअम्।
रस संमुहीति सहसा परम्मुही होइ रिपुसेणा॥
तेरे कर लखि असिलता शोभित रन-रनिवास;
रस उन्मुखहू रिपु-अनी, झट ह्वै विमुख हतास।
(रसाल)

यहाँ रन और रनिवास का रूपक है, तथा असि और अनी में स्त्रीलिंगता भी विद्यमान है, अत प्रश्न उठता है कि यहाँ लिंग के कारण निकलने-वाली समासोक्ति मानें या एक देश विवर्ति रूपक? समासोक्ति में यह अर्थ निकालना पड़ेगा कि रण रूपी रनिवास में तेरे बाहुपाश में (तेरी प्रिय नायिका को) उसकी सपत्नियों ने देखकर रसोन्मुखी होने पर भी वे चलती बनती हैं।

परंतु समासोक्ति उस स्थान पर कही जाती है, जहाँ कहनेवाला संबोधित व्यक्ति से बतला देना चाहता है, और स्वयं भयादि के कारण तटस्थ भी रहना चाहता है। इसीलिये व्यंग्य-विषय अप्रस्तुत

माना जाता है। अब यदि वह अस्फुट (अप्रकट) हो, तो यहाँ ऐसा हो नहीं सकता, क्योंकि सुननेवाला समझेगा नहीं। अतः यहाँ समासोक्ति नही, रूपक है।

साहित्य-दर्पणकार तथा पंडितराज ने इसको इस प्रकार समझाया है कि यहाँ रण और रनिवास मे सादृश्य अस्फुट (अप्रकट) होने से असिलता का नायिका और अनी को अन्य सपत्नियाँ स्थापित किए विना कार्य नहीं चलता, अतः यहाँ उसका रण का और रनिवास का आरोप संगत करने के लिये रूपक ही अलंकार मानना पड़ेगा। किंच—

उपोढेरागेण विलोलतारकं तथागृहीतं शशिननिशामुखम्।
यथासमस्तं तिमिरांशुकं तयापुरोपि रागाद्गलित नलक्षितम्॥

तरल तारिका निशि मुखहि रागाकुत शशि आय ;
गहत मुदित मृदु करन सों तिमिरांशुक बिलगाय।
(रसाल)

कर = किरण या हाथ। राग = सबेरे की लालिमा और अनुराग। मुख = अग्रभाग या मुख। तरल = चचल और विरल। तारिका = नेत्र या तारे। तिमिरांशुक = अधकार-समूह-रूपी काला वस्त्र।

साहित्य-दर्पणकार का कहना है कि जहाँ सादृश्य अत्यत स्फुट हो, वहाँ अन्य रूपक से उसका समर्थन होना आवश्यक नहीं, अत यहाँ तिमिरांशुक के होने पर भी समासोक्ति है, रूपक नहीं।

हमारी बुद्धि से भी यहाँ शशि को संबोधित करके कहने से लाई हुई तटस्थता तिमिरांशुक (अंधकार-रूपी काला वस्त्र) मे रूपक आ जाने से भंग नही हुई, वरन् संबोधित व्यक्ति के लिये वचन कुछ सुबोध अवश्य हो गया है। अतः समासोक्ति मानना युक्ति-संगत प्रतीत

होता है, क्योंकि कहनेवाले का कहना प्रत्यक्ष भास जाता है, तथा वक्ता तटस्थ भी बना रहता है।

जहाँ समासोक्ति और रूपक के निर्णय का प्रसग उपस्थित हो – और सादृश्य अत्यत स्फुट (प्रकट) हो, वहाँ समासोक्ति और यदि वह अस्फुट (अप्रकट) हो, तो रूपक समझना चाहिए।

परिकर (२४)

परिकर—मे विशेषण का व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ का पोषक होकर उपस्कार करता है।

उपस्कार शोभा वृद्धि को कहते हैं। मोटे प्रकार से यहाँ साभिप्राय विशेषण होता है। यथा—

> क्यों न फिरै सब जगत को करत बिजै नित मार ;
> जाके दग सामंत हैं कुवलय जीतनहार।
>
> (मतिराम)

यहाँ कुवलय श्लिष्ट शब्द है। इसका एक अर्थ है कमल और दूसरा भूमडल (कु = भूमि , वलय = मंडल)। विजय का पोषण कुवलय जीतनहार से हुआ।

परिकर का हेतु अलंकार से पृथक्करण—यह पोषण हेतु अलंकार (नं० १००) में कारण का कार्य के सहित वर्णन करके होता है, यही भेद है। परिकर यथा—

> अधम-उधारन की धारी है सुबानि कत,
> अधम-उधारन सों जो पै सकुचात हौ ;
> दीनबंधु कहे ते कहावत जहान मैं, जो
> दीन दुख-टारन मैं भरे ढील गात हौ।

करुनानिधान की उपाधि तजि देहु, जो पै
साफ इनसाफ करिबे को ललचात हौ;
पतित-सुपावन को छोड़ौ नाम, जो पै ऐसे
पतित पुनीत करिबे को न सिहात हौ।
(मिश्रबंधु)

असरन-सरन कहावत हौ, जो पै तौ न
सरन दिवैया दूजो मोकहँ दिखात है;
दीनबंधु ! दीन की न सुनत पुकार काहे,
मो-सम न छीन-हीन दूसरो लखात है।
करुनानिधान ! अब करुना करौगे कब?
करुना के हेत बूढ़ो चित ललचात है;
भारत पुकारत है बार-बार नाथ ! अब
बिरद सँभारे बिन लाज सब जात है।
(मिश्रबंधु)

ग्राह गहत गजराज की गरज गहत ब्रजराज;
भजे गरीब-नेवाज को बिरद बचावन काज।
(दुलारेलाल)

परिकर में मम्मट तथा पंडितराज का मतभेद—मम्मट का मत है कि विना भावार्थ पुष्ट करनेवाले विशेषण में अपुष्टार्थ दोष है, जिससे जब तक ऐसे एकाधिक अच्छे विशेषण न हों, तब तक परिकरालंकार नहीं होता।

उधर पंडितराज का विचार है कि एक भी अच्छे पोषक विशेषण से न केवल दोष का निराकरण, वरन् शोभा की भी वृद्धि होने से परिकरालंकार सिद्ध हो जायगा।

सूचना—काव्यलिंग से परिकर का पृथक्करण, काव्यलिंग (नं० ५६) के प्रकरण में देखिए।

परिकरांकुर (२५)

परिकरांकुर—में साभिप्राय विशेष्य का कथन रहता है। इसमें विशेष्य का व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ का पोषक होकर उपस्कार करता है। यथा—

'भूषन' भनि सब ही तबहि जीत्यो हो जुरि जंग ;
क्यों जीतै सिवराज सों अब अंधक - अवरंग।
(भूषण)

औरों को अंधक-रूपी औरंग जीत चुका था किंतु शिव से कैसे जीतता ? अंधक दैत्य को शिव ने जीता था। शिवजी विशेष्य हैं, जिससे यह आभास निकलता है कि अंधक-रूपी दैत्य उनसे नहीं जीत सकता। 'क्यों जीतै' के वाच्यार्थ का यहाँ अंधक का व्यंग्यार्थ समर्थन करता है।

बामा भामा कामिनी कहि बोलौ प्रानेस,
प्यारी कहत लजात नहि पावस चलत बिदेस।
(बिहारी)

प्रयोजन यह है कि यदि प्यारी होती, तो पावस मे विदेश कैसे चलते, इससे इतर नामों से पुकारिए, न कि प्यारी नाम से।

तन की रही सम्हार नहिं, गई प्रेम-रस भोय ;
मोहन ! लखि तेरी दसा क्यों न भट्ट असि होय।
(रामसिंह)

यहाँ मोहन शब्द की मुख्यता है।

श्लेष (२६)

श्लेष—में एकार्थ या—अनेकार्थवाची शब्दों द्वारा अनेक वाच्यार्थों का भान होता है ।

प्राचीन मतानुसार श्लेष के 'अर्थश्लेष' तथा 'शब्दश्लेष'-नामक दो भेद हैं । शब्दश्लेष के अभग और सभंग-नामक दो उपभेद हैं, जिन दोनो में निम्नानुसार तीन-तीन भेदांतर हैं, अर्थात् अनेकप्रकृत, अनेक-अप्रकृत तथा प्रकृताप्रकृत श्लेष ।
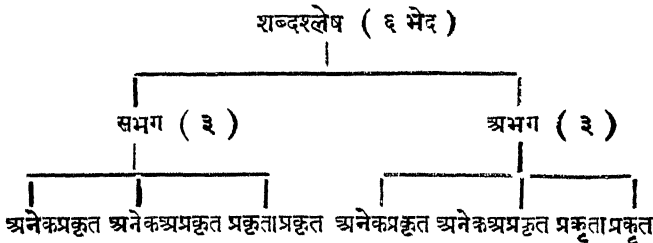
विशेष—श्लेष में विशेषणों का श्लिष्ट होना तो आवश्यक ही है । प्रकृति तथा अप्रकृत श्लेष में कहीं पर विशेष्य श्लिष्ट और कहीं अश्लिष्ट होते हैं । परंतु प्रकृताप्रकृत श्लेष में उपमान उपमेय को पृथक्-पृथक् शब्दों द्वारा कथित होना ही चाहिए ।

प्राचीनों का मत है कि जहाँ शब्द बदल देने से चमत्कार न रहे, वहाँ शब्दश्लेष है, अथच शब्द बदलने की दशा में भी चमत्कार न हटने से अर्थश्लेष होगा ।

(१) शब्द श्लेष—

१—अनेक प्रकृत शब्दश्लेष—

ललित राग रागत हिये नायक जोति बिसाल ;
बाल ! तिहारे हृदय पर लसत अमोलिक लाल ।
(मतिराम)

लाकेट मे नायक का चित्र पहने हुए नायिका से सखी का परिहास है। नायक-पक्ष में—जिसकी ज्योति विशाल है (अर्थात् जो बहुत सुंदर है), जिसके लिये तेरे हृदय मे सुंदर प्रेम का अनुराग है। हे बाले ! वह अनमोल नायक (लाल) तेरे हृदय पर बसता है। चुन्नी (लाल रंग का बहुमूल्य रत्न) के पक्ष मे—लाल (चुन्नी) जो अनमोल है, वह तेरे हृदय पर बसती है। उसका ललित राग (रंग) हृदय पर शोभा पाता है, तथा जिससे अनेक (नायक=न एक=कई) ज्योतियाँ निकलती हैं। दूसरे अर्थ से नायक-शब्द तोड़ना पड़ा है, जिससे सभंग श्लेष आया। पहले मे अभग से अर्थ निकला है। लाल और नायक, दोनो के वर्ण्य होने से अनेक वर्ण्य श्लेष है। प्रकृत वर्ण्य को कहते हैं।

२—अनेक अप्रकृत शब्दश्लेष—

कहा भयो जग मैं बिदित भए उदित छबि लाल ,
तो ओंठन की रुचिर रुचि लहि नहिं सकत प्रबाल ।
(मतिराम)

यहाँ प्रवाल का अर्थ मूँगा या नवीन कोपल है। ये दोनो अप्रस्तुत (अप्रकृत) होने से छद मे अप्रकृत श्लेष है। जिसके कथन की मुख्य इच्छा हो, उसे प्रस्तुत कहते हैं, और जो इतर वर्णन अमुख्य होता है, उसे अप्रस्तुत कहते है। इस छंद में मुख्य वर्णन नायिका का है। इसमे अभंग श्लेष है।

३—प्रकृताप्रकृत शब्दश्लेष—

सीता संग सोभित सुलच्छन सहाय जाके,
भू पर भरत नाम भाई नीति चारु है ;

'भूषन' भनत कुल - सूर - कुल भूषन हैं,
दासरथी सब जाके भुज भुव भारु है।
अरि लंक तोर जोर जाके सग बानर हैं,
सिंधुर हैं बाँधे, जाके दल को न पारु है ;
तेगहि कै भेटै, जौन राकस मरद जानै,
सरजा सिवाजी राम ही को अवतारु है।

(भूषण)

राम के पक्ष में—सीताजी के साथ शोभित हैं, लक्ष्मण जिसके सहाय में हैं, जिसके भू पर भरत नाम का भाई है, जिसकी नीति अच्छी है, सारे सूर्य-कुल का भूषण है, जिसकी भुजाओं पर पृथ्वी के सब दशरथ-वंशियों का बोझ है, शत्रु लंका के तोड़नेवाले जिसके साथ वानर हैं, सिंधु (समुद्र) को जिसने बाँध रक्खा है, जिसकी सेना का पार नहीं है, वह जिस राक्षस को मर्द (बहादुर) जानता है, उसे पकड़-कर भेटता है।

शिवाजी के पक्ष में—सी = श्री (लक्ष्मी) ता (उस) के साथ शोभित हैं, अच्छे लक्षण जिसके सहायक हैं, जो पृथ्वी पर नाम भरता है, जिसे सुंदर नीति पसंद है, जो कुल सूर (बहादुर)-कुल का भूषण है, जिसके सब रथी दास हैं, जिसकी भुजाओं पर पृथ्वी का भार है, दुश्मन की कमर तोड़नेवाले जिसके साथ बाण रहते हैं, जिसके यहाँ हाथी बँधे हैं, जिसकी सेना असंख्य है, जिस नर को अकस (दुश्मन) मर्द जानता है, उसे तलवार के साथ भेटता है। इन दोनों अर्थों में कई अभंग सभंग शब्द दिखलाए जा चुके हैं। वर्णन शिवाजी का (प्रस्तुत) प्रकृत एवं राम का अप्रकृत है। इसी से प्रकृताप्रकृत श्लेष है। ऊपर के तीनों उदाहरणों में शब्दश्लेष है, अर्थश्लेष नहीं।

सूचना—यद्यपि यहाँ अभंग और सभंग भेद पृथक्-पृथक् नहीं

दिए गए हैं, तथापि जैसा कि चक्र मे दिया गया है, प्रथम शब्दश्लेष के दो भेद (१) सभंग तथा (२) अभंग होते हैं, फिर इन दोनो में ही उपर्युक्त तीन तीन भेद पुन. किए जाते है। इस प्रकार शब्द-श्लेष के छ भेद माने जाते हैं।

(२) आर्थ श्लेष—

नर की औ' नल नीर की गति एकै करि जोय ;
जेतो नीचो ह्वै चलै, तेतो ऊँचो होय।
(बिहारी)

यहाँ नीचे चलने से ऊँचे होने का भाव मनुष्य और फौवारे के पानी, दोनो पर घटित है, तथा यह बात किसी शब्द विशेष पर आधारित न होने से यहाँ अर्थश्लेष है। यथावा—

तुला कोटि अरु खलन की सम बृत्ती बिख्यात ,
थोरे सों उन्नति लहत, थोरे सों अध जात।
(मुरारिदान)

यहाँ उन्नति शब्द के स्थान पर उँचाई और अध के स्थान पर निचाई कर दें, तो भी श्लेष रहता है, अतः अर्थश्लेष है।

देखत सरूप को सिहात न मिलन काज,
जग जीतिबे की जामैं रीति छल-बल की ;
जाके पास आवै, ताहि निधन करति बेगि,
'भूषन' भनत जाको संगति न फल की।
कीरति कामिनि राची सरजा सिवा की एक,
बस कै सकै न बस करनी सकल की ;
चंचल सरस एक काहू पै न रहै दारी,
गनिका - समान सूबेदारी दिल्ली - दल की।
(भूषण)

दारी = बुंदेलखंडी भाषा का अपशब्द ।

यहाँ पूरे छंद का अर्थ गणिका और सूबेदारी - पक्षों पर घटता है, जो बात शब्दो पर आधारित न होकर अर्थ पर है । अत. यहाँ अर्थ-श्लेष है । इसी प्रकार जहाँ शब्द बदल देने पर भी श्लेष रह जाय, वहाँ आर्थ श्लेष समझ लीजिए ।

श्लेष तथा ध्वनि का पृथक्करण—श्लेष मे श्लिष्ट विशेष्य या तो वर्ण्य विषय ही होते हैं या अवर्ण्य ही, जैसे ऊपर के पहले दोहे में लाल विशेष्य पद है, जिससे रत्न और नायक, दोनो का बोध होता है । ये दोनो वर्ण्य विषय और वाच्य हैं । दूसरे दोहे में विशेष्य शब्द प्रवाल श्लिष्ट है, जिसके अर्थवाले मूँगा और कोपल, दोनो अप्रस्तुत तथा वाच्य हैं ।

ध्वनि में एक वाच्यार्थ तथा दूसरा व्यंग्यार्थ होता है, और श्लेष में दोनो अर्थ वाच्यार्थ ही होना चाहिए । यह भेद है । यथा—

भयो अपत कै कोप - युत, कै बौर्‌यो यहि काल ;
मालिनि ! आजु कहै न क्यों वा रसाल को हाल ।
(दास)

यहाँ मालिनि श्रोत्री होने के कारण अपत शब्द का पत्ते-रहित, कोप-युत का कोपल-युक्त, बौर्‌यो का बौर युक्त और रसाल का आम्र अर्थ आया । उसके बाद मुख्य कारणों से दूसरा अर्थ नायक-पक्ष में लगता है । वहाँ अपत = लापता ; कोप - युत = क्रुद्ध ; बौर्‌यो = बावला , रसाल = नायक (रस का घर = नायक) है । पहला अर्थ वाच्यार्थ है और दूसरा व्यंग्यार्थ । इसी कारण श्लेष के लक्षण में वाच्यार्थ जोड़ दिया गया है । तात्पर्य यह कि इस दोहे में व्यंग्यार्थ भी आ जाने से यह श्लेष में न रहकर ध्वनि-भेद में चला गया है।

वर्ण्यावर्ण्य श्लेष में भी दोनो के पृथक् शब्दों द्वारा उक्त होने के

कारण दोनो ही वाच्यार्थ हो जाते है , जैसी दशा भूषणवाले छंदों मे है । वर्ण्यावर्ण्य श्लेष में विशेषण तो श्लिष्ट होते हैं, परंतु विशेष्य नहीं। उधर ध्वनि मे विशेष्य और विशेषण, दोनो ही श्लिष्ट होते हैं ।

समासोक्ति और श्लेष में भेद—समासोक्ति में वर्ण्य प्रस्तुत होकर अवर्ण्य का भान कराता है, अर्थात् अवर्ण्य विषय व्यंग्य से निकलता है, और केवल वर्ण्य विषय वाच्य होता है। परंतु वर्ण्या-वर्ण्य श्लेष मे दोनो ही वाच्य होते हैं, यही भेद है ।

अति अनुरागी मधुप यह तजि बंधन को छोभ ;
देखौ पद्मिनि पै चल्यो मधुर गंध के लोभ ।
(वैरीशाल)

इसमें भौंरा एव पद्मिनी - वृत्तात प्रस्तुत है । इसमें परकीया नायिका तथा उपपति वृत्तात जो निकलता है, वह अप्रस्तुत है । प्रथम वृत्तांत वाच्य से है, और दूसरा व्यंग्य से । अत समासोक्ति है ।

रँग राते राचे न ये लखत हरत चित चैन ;
निपट लजाने अधर हैं, सौहैं करत बनै न ।
(वैरीशाल)

यहाँ 'अधर हैं' कहने से ओठों का कथन है, तथा 'अध रहैं' कहने से अधखुले नैनों का प्रयोजन निकलता है । यहाँ नेत्र और ओंठ दोनो का वर्णन प्रस्तुत होने से श्लेष है, तथा पहले में व्यंग्य आ जाने से समासोक्ति थी ।

श्लेष के विषय में मतभेद—उद्भट का मत है कि अभंग और सभंग, दोनो ही अर्थालंकार हैं । उनका विचार है कि जहाँ शब्द-मात्र सुनने से (न कि अर्थ विचारने पर) चमत्कार का बोध हो, वहाँ शब्दालंकार होता है, और इन दोनो (अभंग-सभंग) में

अर्थ विचारने में ही चमत्कार है। इस कारण श्लेष-मात्र को अर्था-लंकार ही मानना चाहिए।

सर्वस्वकार—का कहना इस प्रकार से है कि सभंग श्लेष में दो शब्दों की मिलावट होने से शब्दालंकार मानना पड़ेगा, तथा अभंग पद में एक ही शब्द में दो अर्थ होने से अर्थालंकार मानना चाहिए।

'तेगहि कै भेंटै' वाक्य उपर्युक्त भूषणवाले छंद में आया है, जिसके अर्थ 'पकड़कर' या 'तलवार लेकर के भेंटने' के होते हैं (ते गहि कै या तेगहि कै)। सभंग श्लेष में आप लाक्षाकाष्ठ-न्याय से दो शब्दों की मिलावट होने के कारण शब्दालंकार मानते हैं ; जैसे तेगहि = ते गहि। उनके मत से यहाँ दो शब्द इस प्रकार मिलते हैं, जैसे दो लकड़ी के टुकड़े लाख से जोड़ दिए जायँ, जिसे लाक्षाकाष्ठ-न्याय कहते हैं।

दूसरे शब्दों में उनका कहना है कि यहाँ दो शब्द एक में मिले हैं, किंतु अलग भी किए जा सकते हैं, जिससे एक शब्द दो का काम देता है। अतएव इसे शब्दालंकार मानना चाहिए।

आगे अब अभंग श्लेष को लीजिए। सर्वस्वकार इसे एक वृंत (टेंभुए) से निकले हुए अथवा एक ही में जुड़े हुए दो (सौतिया) फलों के न्याय से अर्थालंकार मानते हैं। यहाँ शब्द को वृंत समझना चाहिए, और दो अर्थ जोरिहा फलों के समान हैं। जैसे वास्तव में दो होकर भी वे फल एक ही के समान हैं, वैसे ही अर्थ दो होने पर भी शब्द एक ही है। जैसे भूषण के उपर्युक्त छंद में 'अरि लंक तोर' में लंक शब्द के लंका तथा कमरवाले दो अर्थ हैं। यहाँ एक वृंतवत् शब्द तो एक ही है, तथा अर्थ फलवत् दो हैं।

मम्मटादि—उधर मम्मट, विश्वनाथ आदि कई आचार्यों का मत है कि अभंग और सभंग, दोनो ही शब्दालंकार हैं। उनका कहना है कि शब्दालंकार में जहाँ शब्द का परिवर्तन सह्य हो सके,

वहाँ अर्थालंकार है, और जहाँ वह असह्य हो, वहाँ शब्दालंकार होगा।

जैसे 'तेगहि के भेंटै' वाक्य शब्द-परिवर्तन नहीं उठा सकता, क्योंकि ऐसा करने से श्लेष निकल जायगा। अतएव यहाँ शब्दालंकार है।

हमने उद्भट के मत को ग्राह्य समझकर ही श्लेष को अर्थालंकारों में लिखा है। वह श्लेष को अर्थालंकार मानते हुए भी उसके अभंग और सभंग भेदों को क्रमश अर्थालंकार तथा शब्दालंकार लिखते हैं। इसका कारण उनकी तर्कावली देखते हुए समझ में नहीं आता है। शायद उन्होंने ऐसा कथन इतरों के मतानुसार (अपने विचारों के प्रतिकूल) कर दिया हो।

मुरारिदान—का कथन है कि जहाँ शब्द मे रहकर अलंकार शोभा बढ़ावे, वहाँ शब्दालंकार है, और जहाँ वह अर्थ में आकर चमत्कार दिखलावे, वहाँ अर्थालंकार। यथा—

हरत जु रम्या भोज श्री कुवलय को श्री देत;
रबि-बंसी जसवत को यह व्यतिक्रम किहि हेत।

(मुरारिदान)

यहाँ रम्या भोज-श्री का एक अर्थ है कमल की सुंदर शोभा, तथा दूसरा है राजा भोज की रम्य सपदा। कुवलय का एक अर्थ है भू-मंडल (कु = भूमि, वलय = कंकण, मंडल), और दूसरा नील कमल। यहाँ रम्या भोज-श्री और कुवलय में वह शब्दश्लेष मानते है, क्योंकि वह इन्हें दो शब्दों के बराबर कहते हैं। सभंग श्लेष में वह शब्दालंकार मानते हैं। वास्तव में इनका और सर्वस्वकार का एक ही मत है।

उदयारूढ़रु कांति - युत मंडल रक्त बखान;
मृदु कर लोगन हिय हरत राजा यह बुधवान।

(मुरारिदान)

उन्होंने इसका अर्थ यह किया है—राजा-पक्ष—उदयारूढ (वृद्धि को पाया हुआ), कांति-युत (तेजवाला), मंडल रक्त (जिसमें देश अनुराग-युक्त है), मृदु कर लोगन हिय हरत (मृदु, सूक्ष्म कर—टैक्स से लोगों का मन हरता है), राजा (नृपति), बुधवान (बुद्धिमान्) ।

चंद्रमा-पक्ष में—उदयारूढ़ (उदयाचल पर चढ़ा हुआ), कांति-युत (प्रकाश - युक्त), मंडल रक्त (लाल बिंबवाला), मृदु कर (कोमल किरणों से), राजा (चंद्र), बुधवान (बुधवाला । बुध चंद्र-पुत्र थे) ।

इन शब्दों के जो अनेकार्थ किए गए हैं, वे कोषस्थ अर्थों के आधार पर हैं । अतएव मुरारिदान यहाँ अर्थश्लेष मानते हैं, क्योंकि कोष के बल से कहे हुए शब्दों के अनेकार्थों का साथ ही भान हो जाता है ।

इस ग्रंथ के प्रणेताओं का मत—कर्मकुशल=कर्म+कुशल । यह शब्द दो शब्दों के बराबर है, अतः कुछ इतरों के अनुसार इसको भी शब्दालंकार माना जाना चाहिए, हमारे मत में ठीक नहीं। मुखचंद्र=मुख के रूपवाला चंद्र । यहाँ भी एक शब्द के अनेक शब्दों के बराबर होने से उनके अनुसार आपको शब्दालंकार मानना चाहिए ।

अब शब्द-परिवर्तन कर देने से अलंकार के न रहनेवाले सिद्धांत को लेते हैं । चंद्रमुख=चंद्र के रूपवाला मुख । यहाँ रूपक बना है । अब इसी को इस प्रकार परिवर्तन कीजिए—'शशि के समान सुंदरता में सादृश्यवाला मुख' । अब यहाँ रूपक रहता नहीं ; अत. प्रश्न यह होता है कि रूपक को शब्दालंकार कहें या अर्थालंकार ? उत्तर स्पष्ट ही होगा कि अर्थालंकार ।

इस कारण जहाँ शब्द परिवर्तन से अलंकार न रहे, वहाँ शब्दालंकारवाला सिद्धांत नहीं टिकता । इस हेतु यहाँ सिद्धांत मानना

चाहिए कि जहाँ सुनने में सुंदर लगे, वहाँ शब्दालंकार हो, और जहाँ अर्थ विचारने मे सौंदर्य ज्ञात हो, वहाँ अर्थालंकार ।

यदि आप कहें कि एक के स्थान पर केवल एक ही पर्यायवाची शब्द परिवर्तन करना चाहिए, तो हमारा कहना है कि शब्दों का अर्थ उनके प्रयोग पर निर्भर होने से वे शब्द पर्यायवाची माने जाने के अयोग्य होने से यह हमको मान्य नहीं दीखता ।

श्लेष की प्रधानता तथा अप्रधानता—अब इस विषय पर भी विचार प्रकट किए जाते हैं कि श्लेषालंकार कहाँ मान्य है, और इतर अलंकार कहाँ ?

प्रथम उद्भट का मत है—विना किसी अन्य अलंकार की सहायता के स्वतंत्र रूप से श्लेष नहीं आ सकता । अत. व्याकरण के नियम (निरवकाशो विधिरपवाद) से जहाँ श्लेष के साथ कोई दूसरा अलकार हो, वहाँ श्लेष ही की मुख्यता मान्य है, क्योंकि श्लेष अन्य अलकार-रहित हो नहीं सकता ।

द्वितीय मम्मटादि का मत है—श्लेष दूसरे अलकारों के साथ होता है और स्वतंत्र भी । जहाँ वह दूसरे अलंकार के साथ रहता है, वहाँ कहीं उसकी मुख्यता रहती है, और कहीं इतर की ।

तृतीय मत—यदि श्लेष किसी इतर अलंकार के साथ हो, तो उसी इतर की मुख्यता होगी ।

> अजौ तरथोना ही रह्यो स्रुति सेवत इकरंग ,
> नाक-बास बेसरि लह्यो बसि मुकुतन के संग ।
>
> (बिहारी)

उद्भट यहाँ तुल्ययोगिता नहीं मानते । उनका कहना है, ऐसा मानने से श्लेष को अवकाश ही न रह जायगा, क्योकि वह उनके अनुसार इतर अलकारों से स्वतत्र रहकर आता ही नहीं ।

तुल्ययोगिता (नं० १४) में तीन बातों की मुख्यता रहती है। यथा—

ती के उर बाढ़त उरज, पी के उर अनुराग।
(ब्रह्मदत्त)

(१) यहाँ अनुराग और उरज, दोनो पृथक् शब्दो द्वारा कहे गए हैं। (२) उनका बढ़ना एक ही धर्म एक ही शब्द द्वारा कथित है। (३) धर्म दोनो का एक ही होने से सादृश्य आ गया है।

आज तक यह 'तरयोना' (अधोवती या कर्णभूषण) ही रहा, यद्यपि एक ही रीति से श्रुति (वेद या कान) का सेवन करता रहा है। (१) इसमे भूषण अथच अधोवर्तीपन, दोनो के कथन पृथक् शब्दो द्वारा पृथक्-पृथक् नही हैं, वरन् केवल तरयोना शब्द (या शब्दो) से उनका बोध हुआ है। (२) दोनो का धर्म 'श्रुति-सेवा' है, (३) परतु अर्थ कान के पास रहने या वेद पढ़ने के अलग-अलग हैं। जब इनके धर्म एक ही शब्द द्वारा व्यक्त होकर भी वास्तव में पृथक् हैं, तब इनमें सादृश्य भी गम्य नही कहा जा सकता। इस कारण उपर्युक्त दोहे में तुल्ययोगिता का मेल न होकर केवल श्लेषालकार है। इसलिये, हमारी समझ मे, यह कहना ठीक नहीं कि श्लेष इतर अलंकारो से पृथक् होकर स्वतंत्र रूप से नही आ सकता। यही मत मम्मटादि का है।

कान्ह हरि उदौ करयो, जगत को तम हरयो ,
अरि बिचलाय मेट्यो चलन कुपथ को।
(दूलह)

ऐसे स्थान पर उद्भट दीपकालंकार (नं० १५) मूलक श्लेष मानते है। दीपक और तुल्ययोगिता मे इतना ही भेद है कि पहले में वर्ण्यों और अवर्ण्यों का एक धर्म होता है, तथा दूसरे में जो धर्म की

एकता होती है, वह या तो वर्ण्यों ही की या अवर्ण्यों ही की रहती है। शेष बातें दोनो में समान हैं। अत. उपर्युक्त कारणों से यहाँ भी दीपक न होकर केवल श्लेष है।

श्लेष अन्य अलंकारों के साथ कई प्रकार से आता है—

श्लेष अंगभूत अलंकार की अप्रधानता तथा अंगी की प्रधानता—

मरु मारग इव अधर तुव बिद्रुम छाया नारि!
अतिहि पिपासा आकुलित केहि नहिं करत 'मुरारि'?
(मुरारिदान)

हे नारी! मरुस्थलवाले मार्ग के समान विद्रुम छाया (मूँगा के रंग-वाला या पत्ते-युक्त वृक्षवाला) युक्त अधर किसको पिपासाकुल नहीं करता? यहाँ विद्रुम छाया के दो अर्थ होने से श्लेष है, तथा इव शब्द से उपमा अलंकार। अब प्रश्न यह है कि मुख्यता किसकी है? 'मरु मारग छाया इव अधर तुव' में उपमा सिद्ध हो जाती है, तथा 'विद्रुम' में आया हुआ श्लेष उसका पोषक-मात्र है। अत. श्लेष उपमा का अंग-मात्र हो जाता है, तथा उपमा अंगी। इससे अंगभूत श्लेष अमुख्य हो जाता है, तथा अंगी उपमा मुख्य रहती है।

पूर्णोपमा में श्लेष का होना या न होना—किसी-किसी का कहना है कि जहाँ पूर्णोपमा होती है, वहाँ श्लेष आ ही जाता है। अत· श्लेष के होते हुए भी पूर्णोपमा ही को मुख्य मानना चाहिए। यह बात सदैव घटित नहीं होती। जैसे, 'कान्ह काम के समान सुंदर हैं' में पूर्णोपमा है, किंतु श्लेष का मिश्रण नहीं।

श्लेष की छाया —'चंद्र-सो प्रकाशकारी आनन बिहारी को' में

'प्रकाशकारी' धर्म में श्लेष की छाया कही जा सकती है, क्योंकि उसका चद्र के साथ तो अभिधामूलक अर्थ लगता है, किंतु मुख के लिये तादृशदीप्ति के अभाव मे साधारणी ज्योति को बहुत बढ़ाकर प्रकाश का विचार केवल कवि-कल्पना से लाना पड़ेगा।

सुभग सुधाधर-तुल्य मुख, मधुर सुधा-से बैन।
(मतिराम)

सुधा स्वाद में मीठी है, तथा बैन में कोई स्वाद नहीं, वे केवल सुहावने होने के कारण मधुर कहे गए हैं। यहाँ धर्म माधुर्य मे श्लेष का स्पर्श है।

या अनुरागी चित्त की गति समुझ नहिं कोय,
ज्यों-ज्यों बूड़े स्याम-रँग, त्यों-त्यों उज्ज्वल होय।
(बिहारी)

ज्यों-ज्यों श्याम-रंग (कृष्ण की प्रीति या काले रंग) में डूबता है, त्यों-त्यों उजला होता जाता है। यहाँ श्याम तथा उज्ज्वल के दो-दो अर्थ होने से श्लेष है, तथा विरोध के आभास से विरोधाभास अलंकार (नं० ३२) भी मिलता है। फिर भी श्लेष का स्पर्श-मात्र है, और विरोध की मुख्यता। श्लेष का केवल आभास इसलिये कहा जाता है कि श्याम से मुख्य अर्थ कृष्ण ही है। यही बात उज्ज्वल में समझिए। मुख्य अर्थ शुद्ध है, और अमुख्य सफेद। क्योंकि यहाँ मुख्य अर्थ होता है, जैसे-जैसे कृष्ण की प्रीति में डूबता है, वैसे-वैसे स्वच्छ होता जाता है।

दूसरे अलंकार का श्लेष मे आभास-मात्र—

गजराज राजै, बर बाहन की छबि छाजै,
समरथ बैस, सहसनि मन मानी है;

आयसु को जोहै, आगे लीन्हें गुरुजन गन,
बस में करत जो सुदेस रजधानी है।
महा महाजन धन लै-लै मिलैं स्रम बिन,
पदुमन लेखै 'दास' बास यों बखानी है;
दरप न देखै सुबरन रूप भरी बार-
बनिता बखानी है कि सेना सुलतानी है।

(दास)

अर्थ सेना-पक्ष में —समरथ बैस=जवान योद्धा-युक्त। गुरुजन गन=गदाधारी योद्धाओं के समूह। सहसनि मनमानी है=हज़ारों ने उसे मन में (महत्ता-युक्त) माना है। पदुमन लेखै=पद्मों (संख्या पद्म, शंख आदि) की संख्या में योद्धा हैं। बास=यश की सुगंध। दरप न देखै=किसी का अभिमान नहीं देख सकती। सुबरन रूप भरी=सोने के समान रूपवालों से भरी।

अर्थ वनिता-पक्ष में—गजराज राजै=उसके यहाँ श्रेष्ठ हाथी हैं। समरथ बैस=सशक्ति अवस्थावाली, सुंदरी। आयसु को जोहै=सामान्या होने से सबकी आज्ञा मे रहती है। आगे लीन्हे गुरुजन गन=वयस्क कुटुंबी आगे चलते हैं। पदुमन लेखै=वह पद्मिनी समझी गई है, या पद्मों धन उसके पास है। वारवनिता=सामान्या। यहाँ सेना तथा वार-वधू में सादृश्य न होने से संदेह का आभास-मात्र है। मुख्य अलंकार श्लेष है।

श्लेष अन्य का अनुप्राणक—

तजि रसाल अलि दूरि ते आयो तुव दल माँझ,
उचित न है मुख मूँदिबो साहब सरसिज साँझ।

(ऋषिनाथ)

यहाँ कवि कमल का संबोधन करके कहता है, सो वही प्रस्तुत है, किंतु सुनाता छंद किसी और को है, जिससे वह भी प्रस्तुत है। अतएव

प्रस्तुतांकुर (नं० २८) अलंकार है। रसाल, दल और मुख मूँदिबो शब्दों में छद श्लिष्ट है। कवि की मुख्यता संबोधन के कारण प्रस्तुतांकुर पर है, जो मुख्य है, और श्लेष साक्षात् कारण होने से अनुप्राणक।

इस प्रकार उपर्युक्त उदाहरणों से प्रकट है कि (१) श्लेष कहीं पर स्वतंत्र, (२) कहीं दूसरे का अंग, (३) कहीं आभास-मात्र, (४) कहीं अन्य का अनुप्राणक और (५) कहीं (श्लेष) मुख्य तथा दूसरा आभास-मात्र होता है।

सूचना—इसी प्रकार अन्य अलंकारों की भी मुख्यता तथा अमुख्यता का विचार करके कौन अलंकार कहाँ है, बतलाना चाहिए।

अप्रस्तुत प्रशंसा (२७)

अप्रस्तुत प्रशंसा—में अप्रस्तुत के वर्णन में प्रस्तुत का कथन किया जाता है।

इसके पाँचों भेदों के नाम हैं—(१) सारूप्य निबंधना, (२) कार्य निबंधना, (३) कारण निबंधना, (४) सामान्य निबंधना और (५) विशेष निबंधना।

(१) सारूप्य निबंधना—में अप्रस्तुत के कथन में तुल्य व्यवहारवाले प्रस्तुत का वर्णन होता है। यथा—

> बन-उपबन घन कुसुम गन देखत सकल भँभाय ;
> बड़ो सयानो मधुप है, बँधत न कंज बिहाय।
> (वैरीशाल)

यहाँ नायिका के प्रति सखी की उक्ति होने के कारण भ्रमर और

कमल-वृत्तांत अप्रस्तुत हो जाता है, और नायक का वर्णन प्रस्तुत रहता है।

ऐसी बेसिर पैर की बात सखी नायिका से कहेगी नहीं, अतः नायक का वर्णन इन्हीं शब्दों में विना माने नायिका या कोई अन्य रह नहीं सकता। इस कारण व्यंग्य विषय का वर्णन स्पष्ट भासता है (गूढ़ नहीं है), अत. ध्वनि नही, गुणी भूत व्यंग्य है। इसी प्रकार समासोक्ति, तथा प्रस्तुतांकुर मे समझ भी लीजिए। यह विषय दूसरे भाग में समझाया जायगा।

पाइ तरुनि-कुच-उच्च पद चिरम ठग्यौ सबु गाउँ,
छुटे ठौर रहिहै वहै, जुहै मोलु छबि नाउँ।
(बिहारी)

मोलु = मूल्य।

यदि यहाँ कोई व्यक्ति नायिका को सुनाकर अन्य से यह वचन कहे, तो सारूप्य निबंधना न होगी, क्योंकि यहा कहनेवाले का तात्पर्य अपने को नायिका पर आसक्त बतलाने का है, जिसमें नायिका भी जान जावे, और उसकी ओर आकर्षित हो। यदि किसी अन्य से हो कहते माना जावे, तो वाच्यार्थ न लगकर व्यंग्यार्थ ही लगाना पड़ेगा, (क्योंकि चिरमिटी के वर्णन में न कहनेवाले का और न श्रोता का कुछ लाभ प्रतीत होता है)। अत. यह अर्थ निकलता है कि यद्यपि ऊँचा पद पा गया है, तथापि तुझमें उस पर स्थित रहने की योग्यता नहीं है। इसलिये स्थान छुट जाने पर तो वही टके के तीन-तीनवाला हो जावेगा। इस कारण अधिक घमंड मत कर।

पहले अर्थ मे गूढ़ व्यजना है, तथा दूसरे में अगूढ़, क्योंकि उसमें व्यंग्यार्थ निकाले विना कार्य चल सकता है, और दूसरे में विना व्यग्यार्थ के कार्य चलता ही नहीं। अत. व्यंजना साफ़ हो जाती है, तथा पहले स्थान पर वाच्यार्थ में ही विश्रांति हो जाने से व्यग्यार्थ की ओर सहृदयो

का ही ध्यान जाता है, सब का नहीं। इस कारण से उसको गूढ़ माना गया। इस पुस्तक के दूसरे भाग में आप पढ़ेंगे कि गूढ़ व्यंग्य ही ध्वनि है। अत पहलेवाले अर्थ में अलंकार नहीं समझना।

जनमु जलधि, पानिपु बिमलु, भौ जग आघु अपार ;
रहै गुनी ह्वै गर परयौ, भलैं न मुकता-हार।
(बिहारी)

आघु = मोल। रहै...गर परयौ = गुणी होकर गले पडके (पालक के पास हठ-पूर्वक) रह रहा है।

गहै न नेकौ गुन गरबु, हँसौ सबै संसारु ;
कुच-उच पद-लालच रहै, गरैं परैं हू हारु।
(बिहारी)

रे रे चातक ! मन लगाय किन मीत सुनै मम ;
बहुत मेघ नभ बसत, सबै नहिं होत एक सम।
बर्षि-बर्षि जल करत एक पुहुमी प्रसन्न अति,
गर्जि-गर्जिकै व्यर्थ कान फोरत इक दुर्मति।
यहि हेत इती यह सीख मम चित्त माहिं निज राखिए,
जेहि-जेहि देखहु, तेहि-तेहि निकट दीन बचन जनि भाखिए।
(विशाल)

छंद भर्तृहरि के आधार पर है। किसी अपात्र से माँगनेवाले को सुनाकर कोई व्यक्ति कहता है।

बात भूलि रे फूल ! यों निज श्री भूलि न फूलि ;
काल कुटिल को कर निरखि, मिलन चहति तैं धूलि।
(दुलारेलाल)

यहाँ फूल का तथा उपर्युक्त छंद में चातक का यद्यपि संबोधन हुआ

है, फिर भी वास्तव में वह प्रस्तुत नहीं है, जिससे सारूप्य निबंधना आती है। यदि सबोधन के कारण ये भी प्रस्तुत माने जायँ, तो अलंकार प्रस्तुताकुर (न० २८) हो जायगा। यदि चातक और फूल का सम्मुख न होते भी सबोधित होना मान लिया जाय, तो वे अप्रस्तुत हो जाते हैं, अत. अप्रस्तुत प्रशसा अलकार हो जावेगा। इसी प्रकार आगे आनेवाले वैधर्म्यवाले उदाहरण में भी समझ लेना।

वैधर्म्य से सारूप्य निबधना—

पटु पाँखे, भखु काँकरी, सपर परेई संग,
सुखी परेवा ! पुहुमि मै एकै तुही बिहंग।
(बिहारी)

यहाँ विरही होने से वर्णनकर्ता कबूतर को अपने से अच्छा बतला रहा है, क्योंकि उसके साथ कबूतरी सदा रहती है। यहाँ कबूतर का वर्णन वास्तव मे अप्रस्तुत है, यद्यपि संबोधन उसी का किया गया है, और नायक का प्रस्तुत। वह सुखी है और यह दुखी, यही वैधर्म्य है। सपर = परवाली। कपड़ो का भी प्रबंध नहीं करना पड़ता, क्योंकि पख ही पट हैं।

(२) कार्य निबंधना—कारण प्रस्तुत रहते हुए भी कार्य के कहने मे होती है। यथा —

पद धोवत कछु कांति छुटि पहुँची जलनिधि जाय;
मथत सिधु सोइ सार बनि प्रगट्यो निसिकर आय।
(कस्यचित्कवे.)

यहाँ अलौकिक सौदर्य का वर्णन प्रस्तुत है, किंतु उसे न कहकर कवि ने पैर धोने से निकली हुई काति से कार्य रूप चंद्रोत्पत्ति कहकर उसे (काति को) प्रकट किया है।

हम ख़ूब तरह से जान गए, जैसा आनँद का कंद किया ;
सब रूप शील गुण तेज पुंज तेरे ही तन मे बंद किया ।
तुम हुस्न-प्रभा की बाक़ी ले फिर विधि ने यह फरफंद किया ;
चंपकदल सोनजुही नर्गिस चामीकर चपला चंद किया ।
(शीतल)

यहाँ भी वही बात है ।

(३) कारण निबंधना—मे अप्रस्तुत कारण से कार्य निकलता है । यथा—

लई सुधा सब छीनि बिधि तो मुख रचिबे काज ,
सो अब याही सोच सखि, होत छीन द्विजराज ।
(वैरीशाल)

यहाँ अपू ँ शोभा-रूप कार्य प्रस्तुत है, वह न कहकर उपर्युक्त कारण के रूप में कवि ने कहा है । द्विजराज चद्रमा को कहते हैं ।

तुव अधरन के हित सुरन मथि लिय अमृत जु सार ,
यही दुसह दुख सो अहै अब लौं सागर खार ।
(पद्माकर)

यहाँ भी वही प्रयोजन है ।

(४) सामान्य निबंधना—मे विशेष प्रस्तुत के लिये सामान्य अप्रस्तुत कहा जाता है । यथा—

आनन चंद निहारि-निहारि नहीं तन औ' धन जीवन वारैं ;
चारु चितौनि चुभी 'मतिराम' हिये, मति को गहि ताहि निवारैं ।
क्यों करि धौ मुरली मनि कुंडल मोरपखा बनमाल बिसारैं ;
ते धनि, जे ब्रजराज लखैं गृह-काज करैं, अरु लाज सँभारैं ।
मतिराम)

यहाँ वक्ता यह व्यजित करता है कि भगवान् का ऐसा सुंदर रूप देखकर भी वह अपने को सँभाले हुए है। प्रयोजन अपनी सखी की बड़ाई का है, जो प्रस्तुत है, अथच जो एक व्यक्ति के विषय में होने से विशेष है। इस विशेष प्रस्तुत के कथन के लिये सामान्य अप्रस्तुत उन अनेक युवतियों का कथन हुआ है, जो ऐसा कर सकती हैं।

(५) **विशेष निबंधना**—में सामान्य प्रस्तुत के लिये विशेष अप्रस्तुत कहा जाता है। यथा—

काटि लेत तरु बाढ़ई सूधे - सूधे जोय,
बन में टेढ़े वृक्ष को काटत है नहिं कोय।
(पद्माकर)

यहाँ कहना यह था कि टेढ़े आदमियों को कोई नहीं सताता। यह प्रस्तुत सामान्य रूप था। यह न कहकर अप्रस्तुत टेढे वृक्ष का किसी बढ़ई द्वारा न काटा जाना कहा गया है, जो वाक्य एक वचन होने के कारण विशेष रूप में है।

प्रस्तुतांकुर (२८)

प्रस्तुतांकुर—में वाच्य रूप वस्तुत अनिच्छित प्रस्तुत के द्वारा व्यंग्य रूप इच्छित प्रस्तुत का द्योतन होता है। यथा—

फूली रसरली भली मालती समीप तू
अली, कनैर-कली को कलेस देत काहे ते?
(दूलह)

इसमें भ्रमर (अनिच्छित) प्रस्तुत है, क्योंकि उसी का संबोधन हो रहा है, परंतु वास्तव में कवि की इच्छा उसके वर्णन की नहीं। इधर नायक इच्छित प्रस्तुत है, क्योंकि उसी को समझाना अभीष्ट है, तथा

उसी से बात हो रही है। प्रयोजन यह है, हे भ्रमर! तू फूली हुई रस-युक्ता मालती (प्रौढ़ा) के आगे न फूली हुई, रस हीना कनेर-कली (मुग्धा) को क्यो सताता है? सखी नवोढा मुग्धा को छोडकर प्रौढ़ा से अनुरक्ति की शिक्षा देती है।

सुबरन बरन सुबास-युत सरस दलनि सुकुमार ;
चंपकली को तजत अलि! तैं हीं होत गँवार।
(मतिराम)

यहाँ चंपे की कली से व्यंग्य द्वारा प्रयोजन नवोढा मुग्धा का है। सखी की उक्ति है। भ्रमर के प्रति संबोधन से वह विषय भी प्रस्तुत है। इससे प्रस्तुताकुर अलंकार हुआ।

प्रस्तुतांकुर का अप्रस्तुत प्रशंसा मे अतर्भाव—पंडितराज का कथन है कि ऐसे स्थानों पर वक्ता का मुख्य प्रयोजन तो व्यंग्य विषय से होता है। अत वाच्य विषय प्रस्तुत होने पर भी वास्तव में अप्रस्तुत ही हुआ। इस हेतु ऐसे वर्णनों में प्रस्तुतांकुर न मानकर अप्रस्तुत प्रशंसा माननी चाहिए। इस कथन में बहुत कुछ सार है।

समासोक्ति मे बोद्धव्य से भयादि होते हैं। जहाँ वक्ता बोद्धव्य को समझाना अपना कर्तव्य समझता हो, तथा उससे भयादि भी न करता हो, तो अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार होना चाहिए। यदि वक्ता उपदेश देना अपना कर्तव्य समझता हो, तथा कारण-वश उदासीन भाव रखना भी योग्य मानता हो, उधर शिक्षा विफल भी होने देना न चाहता हो, तो प्रस्तुतांकुर अलंकार में कथन करना चाहिए।

जैसे स्वारथ सुकृत न श्रम वृथा न मारि मे। यदि यह दोहा पक्षी को सुनाकर कहा गया हो, तो पक्षी प्रस्तुत होगा। कवि के पक्षी को संबोधन कर कहने का एक प्रबल कारण बोद्धव्य से भयादि होना ही है।

महाराज जयसिंह तथा शिवाजी महाराज का वृत्तांत अप्रस्तुत है, अथच अलंकार समासोक्ति मानना पड़ता है।

अब यदि पक्षी इतनी दूर है कि वक्ता का संबोध्य नहीं हो पा रहा है, तो यद्यपि पक्षी के प्रति संबोधन अवश्य है, तथापि पक्षी का वृत्तांत अप्रस्तुत हो जावेगा। यहाँ वस्तुत राजा को प्रस्तुत समझना पड़ेगा। वक्ता को यदि यहाँ भयादि होता, तो पक्षी को अप्रस्तुत न बनाता। अतः इन कारणों से अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार समझा जा सकता है।

एक और कल्पना कीजिए कि पक्षी और राजा दोनों ही वक्ता के समक्ष उपस्थित हैं। यहाँ भी वक्ता को भयादि नहीं है, अन्यथा वह (वास्तविक) बोद्धव्य (राजा) को प्रकट रूप से प्रस्तुत नहीं बनाता। संबोध्य पक्षी को प्रस्तुत बनाने का कारण यह है कि व्यंग्यार्थ प्रभावशाली अथच रोचक हो जावे, तथा वक्ता तटस्थ बना रहे। यहाँ व्यंग्य से कहने का एक कारण यह भी हो सकता है कि अप्रकट रूप से यह कहा जाय कि तू मूर्ख पक्षी की भाँति बिना सोचे-विचारे कार्य करता है। यहाँ प्रस्तुतांकुर अलंकार हुआ। अत. प्रस्तुतांकुर अलंकार को पृथक् मानने के प्रबल कारण भी प्राप्त हैं। इस प्रकार के अ'कारों तथा ध्वनि की विवेचनात्मक व्याख्या द्वितीय भाग में की गई है। जिज्ञासु-वृंद उसके प्रकाशित होने पर देखें।

लाल प्रबाल लसे रस-अंचित, कोकिल-चंचु चुभी अति पैनी;
हंसनि सों लरि घाइल अंग बिलोकिए कोक-सरोरुह-नैनी।
खेलति बाग की बाउरी-बीच सहेली कि बात सुनै पिक-बैनी;
पानि सों आनन, अंचल सों उर ढाँकि लियो लहि लाज की सैनी।
(कुमारमणि)

प्रवाल=नवीन पल्लव। अंचित=युक्त। बाउरी=एक प्रकार का दीर्घाकार कूप। यहाँ कोकिल की चंचु के प्रहार से चिह्नित रक्त नवीन पल्लव

तथा हंसों द्वारा क्षत कमल (जो कि वस्तुतः प्रस्तुत नहीं) के वर्णन से दंत-क्षत अधर तथा नख-क्षत-युक्त हृदय-प्रदेश (जो कि वक्ता का वस्तुतः ईप्सित वृत्तांत है) का वर्णन व्यंग्य रूप में किया गया है। अतः प्रस्तुतांकुर अलंकार हुआ।

स्वारथ, सुकृत न, स्रम बृथा, देखि बिहंग, बिचार,
बाज, पराए पानि परि तू पच्छीनु न मारि।
(बिहारी)

बाज़ और पक्षी प्रस्तुत हैं। उधर ऐसा व्यक्ति भी प्रस्तुत है, जो पराए (दूसरी जातिवाले व्यक्ति) के लिये अपनी जातिवालों को सताता है। किसी व्यक्ति को कोई सता रहा है, उसके प्रति उक्ति है। वाच्यार्थ से यहाँ कार्य नहीं चलता। व्यंग्यार्थ बल पूर्वक आक्षिप्त (खिंचकर) आ ही जाता है। अत: वह किसी के द्वारा समझ लिया जा सकता है, सो अगूढ़ हो गया—अलंकार रूप है, गूढ़ (ध्वनि रूप) नहीं रहा।

जो पदुमिनि केवल तुमहिं लखे लहत सुख पूर,
चले ताहि तजि अब अनत, भए सूर तुम क्रूर।
(वैरीशाल)

सुनिए बिटपि प्रभू ! पुहुप तिहारे हम,
राखिहौ हमैं, तौ सोभा रावरी बढ़ाय हैं,
तजिहौ हरषिकै, तौ बिलगु न मानै कछू,
जहाँ-जहाँ जैहैं, तहाँ दूनो जस छाय हैं।
सुरन चढ़ैंगे, नर - सिरन चढ़ैंगे, बर
सुकबि 'अनीस' हाट - बाट मैं बिकाय हैं;
देस मैं रहैंगे, परदेस मैं रहैंगे, काहू
मेस मैं रहैंगे, तऊ रावरे कहाय हैं।
(अनीस)

त्यागे हुए व्यक्ति द्वारा यह कथन यदि व्यंग्यार्थ न निकाला जावे, तो अनरगल बकवास-मात्र मानना पडेगा। अत. व्यंग्यार्थ स्पष्ट हो जाने से अगूढ व्यग्य-मात्र समझना, गूढ व्यंग्य रूप ध्वनि यहाँ नहीं है।

छपद छबीले ! रस पीवत सदीव, छीव
लंपट निपट प्रीति कपट ढरे परत ;
भंग भए मध्य, अग डुलत, खुलत साँस,
मृदुल चरन चारु धरन धरे परत।
'देव' मधुकर ! ढूक ढूकत मधूक धोखे,
माधवी मधुर मधु लालच लरे परत ;
दुहु पर जैसे जलरुहु परसत, इहाँ
मुहुँ पर झाईं परे पुहुप झरे परत।
(देव)

यहाँ प्रस्तुत भ्रमर पर ढालकर प्रस्तुत नायक से उपालंभ कथित है। पहले चरण में उन्मत्त (छीव) भ्रमर की कपट-भरी प्रीति का कथन है, और दूसरे में शारीरिक दशा का। मधुकर भौंरे को कहते हैं, और मधूक महुवे को। सखी कहती है, जैसे दोनो पखो से तुम कमल का स्पर्श करते हो, वैसे ही यहाँ महुवे के मुख पर तुम्हारी परछाईं पड़ते ही उसके फूल झडे पड़ते हैं। अर्थात् जो भ्रमर कमल का लोभी है, वह यदि महुवे के पास जाय, तो न उसकी शोभा है न महुवे की। सखी भ्रमर के ब्याज से नायक को केवल पद्मिनी नायिका से अनुकूलता की शिक्षा देती है। जो कि स्पष्ट प्रतीत होने से केवल अगूढ व्यग्यरूप है, और वाच्यार्थ की शोभा बढ़ाने से अलकार भी है।

केतकी के हेत कीन्हें कौतुक कितेक तुम,
पैठि परिमल में गए हौ गढ़ि गात ही ;

मिले मल्लि-बल्लिन लवंगन सों हिले, दुरि
दाड़िमन मिले पुनि पौंडर की घात ही।
कीन्हीं रसकेली, साँझ चूमत चमेली बाँझ,
'देव' सेवतीन माँझ भूले भहरात ही,
गोद लै कुमोदिनि बिनोद मान्यो चहूँ कोद,
छपद ! छिपे हौ पदुमिनि मैं प्रभात ही।
(देव)

नायक से यहाँ सखी का उपालभ बहुतों से प्रेम करने का है। परिमल=मकरंद। गए हौ गड़ि गात ही=केवल मन से न गड़कर शरीर-सहित गड़ गए हो। सेवती=जंगली गुलाब। मल्ली=बेला। दाड़िम=अनार। पौंडर=एक प्रकार की चमेली।

दाड़िम मे छिपकर जाने से यह प्रयोजन है कि उसके तोड़ने में विलंब होता, जिससे अधिक समय लगने के कारण छिपकर काम करने का मतलब था। जब इतनी युक्ति से दाड़िम फोड़ा था, तब उसमें कुछ ठहरना था, किंतु उसी समय पौंडर मे भी घात लगाए हुए थे। प्रयोजन जारपन से है। चमेली में फल नहीं लगते, इसी से वह बाँझ कही गई है।

पर्यायोक्त (२१)

सम्मिलित लक्षण—इष्ट को प्रकारांतर से कहना या करना पर्यायोक्त है ❀।

❀अर्थमिष्टमनाख्याय साक्षात्तस्यैव सिद्धये,
यत्प्रकारान्तराख्यानं पर्यायोक्तं तदिष्यते।
(दंडी)

प्रथम पर्यायोक्त—में प्रस्तुत धर्मी या धर्म को छोड़ उसे प्रस्तुत रूप में अन्य प्रकार से कहना होता है। यथा—

महाराज सिवराज, तेरे बैर देखियत
बन बन ह्वै रहे हरम हबसीन के,
'भूषन' भनत तेरे बैर रामनगर
जवारि पर बहबहे रुधिर नदीन के।
सरजा समत्थ बीर! तेरे बैर बीजापुर
बरी बैयरनि कर चीन्ह न चुरीन के;
तेरे रोस देखियत आगरे, दिल्ली मैं बिन
सिंदुर के बुंद मुख इंदु जमनीन के।
(भूषण)

पहले पद मे प्रस्तुत धर्मी हैं हबसिनें, जिनका प्रस्तुत धर्म है घर से भाग जाना। उसे न कहकर कवि ने उनके हरमों के जंगल हो जाने का प्रस्तुत रूप मे कथन अन्य प्रकार से किया है। दूसरे पद में प्रस्तुत धर्म है आफ़त में पड़ना, जिसे न कहकर कवि ने प्रस्तुत रुधिर की नदी बहनेवाले दूसरे प्रकार से कहा है। तीसरे पद में प्रस्तुत धर्म है वैरियों का मारा जाना, जिसके लिये उनकी स्त्रियों के वैधव्य का कथन किया गया है। चौथा चरण भी ऐसा ही है।

जाके लोचन करत हैं कुवलय कंज प्रकास;
सो भाऊ भुवपाल के करत हिए नित बास।
(मतिराम)

यहाँ कहने का प्रयोजन है कि विराट् रूपी विष्णु भाऊ के हृदय में बसते हैं। विष्णु यहाँ प्रस्तुत धर्मी रूप हैं। उन्हें न कहकर कवि ने उनके प्रस्तुत धर्म कुवलय-कंज-प्रकाशक लोचनो का कथन किया है, क्योंकि चंद्र-सूर्य उनके लोचन माने गए हैं। 'जाके...प्रकास' से विष्णु

भगवान् का ग्रहण किसी साधारण बुद्धिवाले के द्वारा भी किया जावेगा। अत. अगूढ व्यंग्य हा है, ध्वनि रूप गूढ व्यंग्य नहीं।

आली झुलावति झूकनि सों, झुकि जाति कटी झननाति झकोरे;
चंचल अंचल की चपला चल बेनी बड़ी सो गड़ी चित चोरे।
या बिधि झूलत देखि गयो तब ते कबि 'देव' सनेह के जोरे;
झूलत है हियरा हरि को हिय माहि तिहारे हरा के हिंडोरे।
(देव)

यहाँ प्रस्तुत प्रयोजन है मोहित होना, जिसे न कहकर हृदय का हार के हिंडोरे पर झूलना कहा गया है।

यक तौ जिनके तन माहि जड़ी, दुसरी रुचि सों तिय मूड़ चढ़ै;
जिनके बर भाल मैं ज्वाल कराल, गरो जिनको अहि-पाँति मढ़ै।
जिनकी छिपिकै हू कथा सुनतै सुक अम्मर ह्वै नित पाठ पढ़ै;
तिनके पद-पंकज मैं निसि-दौस 'बिसाल' कि पूरन प्रीति बढ़ै।
(विशाल)

यहाँ प्रयोजन महादेवजी के कथन का है, जो घुमाकर कहा गया है, सीधे नहीं।

जौ लौ रबि-कर करैं कात्हि उदयाचल चुंबन;
तासु प्रथम सब चलौ सुजस लूटन जोधागन।
(मिश्रबंधु)

यहाँ प्रयोजन बहुत सबेरे कहने का है, जो घुमाकर कहा गया है।

मम्मट-कृत काव्य-प्रकाश मे अप्रस्तुत प्रशसा का जो उदाहरण है, उसका अनुवाद यो है—

हे राजन ! नहिं बोलति रानी, राजसुता न पढ़ावति बानी;
पथिक मुक्त सुक अरिन अटारी, क्रीडा करत चित्र प्रति भारी।
(मुरारिदान)

यहाँ कवि को कहना था, हे राजन् ! तुम्हारो सेना-संधान सुनकर शत्रुओं ने महल छोड दिए। यह न कहकर कवि ने कहा है कि रानी महलो में नहीं बोलतीं, न कोई राजसुता पढ़ाती है। पथिको द्वारा छुड़ाए हुए शुक अटा पर बैठे हैं, तथा वे ही तोते राज-चित्रो को असली समझकर उनसे खेल रहे हैं। यहाँ ये कारण बहुत दूर के होने से अप्रस्तुत-से दिखाई देते हैं। शत्रुओ ने चढ़ाई होने का हाल सुनकर महल छोड दिया, और डर के कारण वे सामान भी न ले जा सके, न तोतो को उडा सके, पथिको ने जब देखा कि तोते भूखे-प्यासे हैं, तो उन्हें छोड दिया। वे चित्र देखकर यह कह रहे हैं। शत्रुओं के भागने में अनेक घटनाओ में एक यह भी घटी, अत. इसे दूरस्थ कारण कहा गया।

अलकार सर्वस्व ने इन्हे प्रस्तुत मानकर यहाँ पर्यायोक्त बतलाई है। मम्मट इन कारणो को दूरस्थ कहा, अप्रस्तुत मानकर (यहाँ) अप्रस्तुत प्रशंसा मानते हैं। यह मतभेद है। ऐसे स्थानो पर बडो के आगे अपना मत कहना अयोग्य है, किंतु यह ग्रंथ जिज्ञासुओ के समझाने को लिखा गया है, इसी से बतलाया जाता है कि मम्मट के अनुसार शुक संवाद को अप्रस्तुत मानना ठीक जॅचता है, अत यहाँ अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार है।

द्वितीय पर्यायोक्त—मे किसी कार्य को प्रकारांतर से साधा जाता है। यथा—

> आए वृषभानु-नंद, सुनो क्यों न सुख-कंद,
> राधे - ब्रजचंद, छिपौ कोठरी हमारी में।
>
> (दूलह)

यहाँ युक्ति से पराया हित किया गया है।

पूस-मास सुनि सखिन सन साईं चलत सवार,
लै कर बीन प्रबीन तिय गायो राग मलार।
(बिहारी)

गायन-वादन-शास्त्रानुसार पूस मे भी मलार गाने से वृष्टि होनी चाहिए, जिससे पति का जाना रुक जायगा, इससे मलार गाया गया। अपना हित युक्ति से किया गया है।

द्वितीय पर्यायोक्त अलंकार नहीं, ध्वनि है—द्वितीय पर्यायोक्त को संस्कृत के आचार्य दंडी तथा कुवलयानंदकार के मत से हिंदीवालों ने माना है।

मम्मट की टीका (उद्योत) के कर्ता का मत है कि यह ध्वनि है, अलंकार नहीं। यहाँ दोहे में तो ध्वनि है, किंतु कहीं-कहीं ध्वनि प्रकाशित हो जाने से गुणी भूत व्यंग्य-मात्र रह जाती है। भाषा-संबंधी कोई उत्तमता न होने से इसे अलंकार न मानने में कुछ अनुचित नहीं।

अप्रस्तुत प्रशंसा से भेद—अब प्रश्न यह उठता है कि भूषण के उदाहरणवाले पहले चरण मे स्त्रियों का भागना जब कारण है, और घर का उजाड़ होना कार्य, तब वहाँ कार्य से कारण कही जानेवाली अप्रस्तुत प्रशंसा (नं० २७) क्यों न माने ? किंतु कार्य निबंधना मे कारण प्रस्तुत होता है, और कार्य अप्रस्तुत तथा यहाँ वे दोनो प्रस्तुत होने से भेद प्रकट है।

पर्यायोक्त से ध्वनि का पृथक्करण—

निश्चल ब्यसनी पत्र पर उत बलाक यहि भाँति,
मरकत-भाजन पै मनो अमल संख सुभ काँति।
(दास)

यहाँ भी पर्याय से स्थान की शून्यता कहनी है, किंतु उत्प्रेक्षा से बलाक के स्थिर कहे जाने से सिद्ध शून्यता को विशेषज्ञ ही समझ सकते हैं। वाच्यार्थ से इस व्यंग्यार्थ के विशेष सौंदर्य से यहाँ ध्वनि, आ जाती है, और पर्यायोक्त नहीं रहती। अर्थात् यहाँ गूढ़ व्यंग्य है, और पर्यायोक्त मे वाच्यार्थ ही को दूसरे रूप में कहना चाहिए, यह भेद है।

व्याजस्तुति (३०)

व्याजस्तुति—मे दूलह कवि के अनुसार चार भेद हैं, अर्थात् निंदा मे स्तुति, स्तुति मे निंदा, एक की स्तुति में दूसरे की स्तुति तथा एक की निंदा मे दूसरे की निंदा निकलनी। यथा—

(१) कहा रीति रावरी, जो रंकौ को बिभूषौ गेह ?
(२) तुम - सो प्रबीन, गुरु - सेवा - ततपर को ?
(३) धन्य तुम चंद ! राधा-बन-सम सुधा-धरे ..
(४) याते निंदा पर को, बनाव देखौ हर को ;
जु राहु बिना धर को, तुम्हें सो देत धरको।

(दूलह)

व्याजस्तुति और व्याजनिंदा, दोनो मिलकर एक ही अलकार समझे जाते हैं।

लक्षण—प्रस्तुत व्यक्ति की निंदा से स्तुति या स्तुति से निंदा होने में व्याजस्तुति होती है।

यहाँ पहले उदाहरण में निंदा में स्तुति है, तथा दूसरे में स्तुति में निंदा। कथन दोनो में चंद्रमा से है। चद्र ने गुरु-पत्नी का अपहरण किया था, जिससे स्तुति में निंदा निकलती है।

तू तौ रातौ-दिन जग जागत रहत, वेऊ
जागत रहत रातौ-दिन बनरत है,
'भूषन' भनत तू बिराजै रज भरो, वेऊ
रज भरे देहनि दरी मै बिचरत हैं।
तू तौ सूरगन को बिदारि बिहरत, सूर-
मडले बिदारि वेऊ सुरलोक रत है,
काहे ते सिवाजी गाजी तेरोई सुजस होत,
तोसों अरिबर सरिबर-सी करत हैं।
(भूषण)

यहाँ शिवाजी के विषय में रातोदिन चैतन्य रहने तथा राज्य-श्री-युक्त होने की प्रशंसा है, और यह भी कि वह योद्धाओं को मारते हैं। उधर शत्रु-मडली परेशानी मे रात दिन जागती तथा धूल से भरी गुफाओ में फिरती अथच सूर्य-मंडल को बेधकर देव-लोक जाती है। बराबरी शिवाजी से केवल शाब्दिक है। शिवाजी की निंदा मे स्तुति है, तथा शत्रुओ की स्तुति मे निंदा। दोनो का वर्णन प्रस्तुत है, क्योंकि कवि का अभीष्ट दोनो के कथन से है। निंदा और स्तुति दोनो अगूढ़ हैं।

स्तुति से निंदा—

वृद्ध बेस मे भी पड़ोस के हो उपकारा,
जगत प्रेम सो पूरि बरै तरुनी सुकुमारी।
पर बिधवा के ब्याह हेत चरचा जब आवै,
वही बृद्ध तब गुरु उदारता को दिखरावै।
इंद्रियजित बिधवा होन की सदा प्रबल आसा धरै;
पुनि ब्रह्मचरज के बिसद गुन का सप्रेम गायन करै।
(मिश्रबंधु)

देह धरी परकाज ही को, जग माँझ है तो-सी तुही सब लायक ;
दौरि थकी, अँग स्वेद भयो, समुझी सखि ह्याँ न मिले सुखदायक।
मोहूँ सो प्यार जनायो भली बिधि, जानी जू जानी हितून की नायक,
साँच कि मूरति, सील कि सूरति, मद किए जिन काम के सायक।

(कुलपति मिश्र)

निंदा से स्तुति—

मातु-पिता को पता न लगै, नित माखनचोर ही मै मन लावत ;
जो तिय जाति अधोगति को, सुख सों रति कै तेहि मूड़ चढावत।
मान-बिहीन बसै बन मैं, गुन-हीनहु के घर संपति छावत ;
ऐसे दिगंबर सों करि नेह 'बिसाल' कहा निज नाम धरावत!

(विशाल)

धीवर को सखा है, सनेही बनचरन को,
गीध हू को बंधु, सबरी को मेहमान ह ,
पांडव को दूत, सारथी है अरजुनहू को,
छाती बिप्र-लात को धरैया तजि मान है।

ब्याध अवराधहारी, स्वान समाधानकारी,
करै छरीदारी, बलि हू को दरबान है,
ऐसो अवगुनी, ताके सेइबे को तरसत,
जानिए न कौन 'सेनापति' को समान है।

(सेनापति)

इस छंद में भी निंदा मे स्तुति है।

व्याजस्तुति के वास्तव मे दो ही भेद हैं—दूलह ने उपर्युक्ता-नुसार दो भेद और लिखे है, अर्थात् एक की स्तुति मे दूसरे की स्तुति अथच एक की निंदा मे दूसरे की निंदा। ऊपर के तृतीय

उदाहरण 'धन्य तुम चंद......धरे' में चंद्र की स्तुति से राधा की स्तुति वास्तव में निकलती है। यह उदाहरण अप्रस्तुत प्रशंसा (नं० २७) का है। प्रस्तुत होने पर भी वास्तव में यहाँ चंद्र अप्रस्तुत है, क्योंकि कवि को राधा की प्रशंसा अभीष्ट है। निंदा में निंदा-वाला चौथा उदाहरण भी इसी प्रकार अप्रस्तुत प्रशंसा है। यहाँ कवि को चांद्र निंदा अभीष्ट है, और हर की निंदा केवल चंद्र की विवशता दिखलाने को की गई है। इन में यद्यपि उपमान उपमेय भाव नहीं होता, तथापि चंद्र और हर के वर्णन अप्रस्तुत तो हैं ही। इस प्रकार व्याजस्तुति के असली भेद दो ही रह जाते हैं।

एक की निंदा से दूसरे की स्तुति निकलने में कुवलयानंद ने एक और व्याजस्तुति मानी है, तथा पराई स्तुति में पराए की निंदा के होने में एक के होने का और भी इशारा है। यथा—

को तुम ? हौं कासिद राम कौ,
कहाँ वानर हनुमान नाम कौ ?
पीट्यौ कपिन, जित्यौ इंद्रजित हू ;
या तै भाजि गयौ वह कित हू।

(मुरारिदान)

यह अप्पय्य दीक्षित द्वारा दिए हुए उदाहरण का अनुवाद है।

अंगद लंका में कहते हैं कि पूर्व-पराजय के कारण हनुमान् ऐसे भाग गए कि उनका पता ही नहीं रहा, क्योंकि इतर वानरों ने उन्हें पराजित होने के कारण लज्जित किया था। यहाँ हनुमान् की कल्पित निंदा में शेष सेना की स्तुति निकलती है। यहाँ सेना वास्तव में प्रस्तुत है, और हनुमान् का वृत्तांत अभीष्ट की तरह कहे जाने पर भी अप्रस्तुत। इसलिये अप्रस्तुत प्रशंसा (नं० २७) हो जाती है, तथा दूसरे में भी, जिसका उदाहरण नहीं दिया है, यही अलंकार हो जायगा।

आक्षेप (३१)

आक्षेप—प्रतिषेध की उक्ति होने पर होता है। इसके तीन भेद होते है ।

प्रथम आक्षेप— अपने कहे हुए का निषेध करना होता है। यथा—

जाय भिरौ, न भिरे बचिहौ भनि भूषन' भौसिला भूप सिवा सों ,
जाय दरीन दुरौ, दरियौ तजि कै दरियाव लँघौ लघुता सो ।
सीछन काज वजीरन को कहै बोल यों आदिलसाहि सभा सों ;
लूटि गयो तौ गयो परनालो, सलाह कि राह गहौ मरजा सों ।
(भूषण)

यहाँ पहले दो पदों में आक्षेप के दो उदाहरण हैं। कहने का मतलब यह कि तुम्हारे ही हित के लिये मना करता हूँ।

तव मुख बिमल प्रसन्न अति, रह्यो कमल-सो फूलि ,
नहिं-नहिं पूरन चद-सो, कमल कह्यों मैं भूलि ।
(दास)

यहाँ पहले विकास-रूपी धर्म मानकर वक्ता ने कमल कहा, और फिर निषेध के साथ उसमे उज्ज्वलता दिखलाकर सुंदरता को और भी पुष्ट किया।

दै मृदु पायन जावक को रँग नाह को चित्त रँगै रग जातैं ;
अजन दै करौ नैननि मैं सुखमा बढ़ि स्याम सरोज प्रभातैं।
सोने के भूषन अंग रचै 'मतिराम' सबै बस कीबे की घातैं ;
यों ही चलै न सिगार सुभावहिं, मैं सखि ! भूलि कही सब बातैं ।
(मतिराम)

निषेधाभास—मे वास्तविक निषेध न होकर उसका आभास-मात्र होता है। इसी को द्वितीय आक्षेप भी कहते हैं। यथा—

हौं न कहति तुम जानिहौ लाल ! बाल की बात,
अँसुवा उडुगन परत हैं, होन चहत उतपात।
(मतिराम)

मैं नहीं कहती हूँ तुम स्वय जान लोगे कि उसकी क्या दशा है। प्रयोजन कहने ही का है, किंतु निषेध के आभास से मुख्य कथन में विशेष विश्वास और उग्रता लाने का प्रयोजन है।

हारे सबै उपचार के चार बिचार सखीन हू को हरि लैहै;
ऊरध स्वास झकोरन तै लखिबे हित चौकठ सों फिरि ऐहै।
आज बिसासिनी की 'लछिराम' दसा यों परोसिनी कौ परि गैहै;
मैन - सँदेसिनो हौं घनस्याम, घरी मैं कपूर - सी बावरि जैहै।
(लछिराम)

तीसरे भेद—में प्रकट मे तो कहना होता है, किंतु युक्ति से निषेध रहता है। यथा—

कोपल ते किसलय जबै होहि कलिन ते कौल,
तब चलाइए चलन की चरचा नायक नौल।
(मतिराम)

यहाँ कहा तो जाता है कि वसंत में जाना ठीक है, किंतु तात्पर्य यह प्रकट करने का है कि ऐसा विचार ही अनुभव-शून्यता का है।

विरोधाभास (३२)

विरोधाभास—में एक देशस्थित वस्तुओं में वास्तविक विरोध न होने पर भी कार्य-कारण-रहित विरोध देख पड़ता है। यथा—

दच्छिन नायक एक तुही भुव-भामिनि को अनुकूल ह्वै भावै ;
दीन-दयाल न तोसो दुनी पर, म्लेच्छ के दीनहि मारि मिटावै ।
श्रीसिवराज कहै कवि 'भूषन' तेरे सरूप को कोउ न पावै ;
सूर सुबंस मे सूर - सिरोमनि ह्वै करि तू कुल चंद कहावै ।

(भूषण)

यहा देखने मे कई विरोध हैं, किंतु वे वास्तविक नहीं हैं । अनुकूल नायक एक स्त्री-व्रत होता है, और दक्षिण कई से समान प्रीति करने-वाला । सूर्य-वंश में सूर (वीर) होकर वह कुल-चद है । इनमें वास्त-विक विरोध नहीं है, यद्यपि कहने-भर को सूर्य और चंद्र का साथ कथन एक ही में है ।

ज्यों-ज्यो पावक-लपट-सी तिय हिय सों लपटाति ,
त्यों-त्यों छुही गुलाब सैं छतिया अति सियराति ।

(बिहारी)

पावक-लपट-सी=अग्नि की ज्वाला-सी कांतिवाली । त्यों-त्यों छुही गुलाब सैं=वैसे-वैसे गुलाब से सींची हुई-सी ।

सब गुन - हीन, सब करम - बिहीन, पुन्य-
पापन सो छीन, रूप-रंग हू सों न्यारो है ,
सबसो बिरक्त, सब ही सों अनुरक्त, बास-
नानि को न भक्त, बासनानि को सहारो है ।
अंक अरु आनँद सो रहत उदास, तऊ
सत चित आनँद, जगत रखवारो है ;
सबसो पृथक, पुनि सबके समीप, जग-
रूप जगदीस एक ईश्वर हमारो है ।

(मिश्रबंधु)

इच्छन धरै न, त्यों नवीनता करै न,
बदलै न नेकु, तऊ सब जग रचि डारो है ;
नभ-सम ब्यापि रह्यो सकल पदारथन,
काहू सों तऊ न मिलि औरन बिसारो है।
सबसों मिलोई रहै, ध्यान मैं न आवै तऊ,
ऐसो कछू जाल जग-मोहक पसारो है ;
सबसों पृथक, पुनि सबके समीप, जग-
रूप जगदीस एक ईश्वर हमारो है।

(मिश्रबंधु)

इन दोनो छंदो मे देखने-भर को कई विरोध हैं, किंतु ईश्वर-संबंधी कथन होने से दार्शनिक तथा धार्मिक विचारों से शांत हो जाते हैं। दक्षिण नायक अनुकूलता का बाधक है, अथच अनुकूलता बाध्य। विरोध, विभावना और विशेषोक्ति, इन तीनो में विरोध केवल ऊपरी दृष्टि से होता है, वास्तविक नही। कुछ आचार्यों ने विरोधाभास के कई भेद माने हैं, जो वास्तव में दूसरे प्रकारो के उदाहरण मात्र हैं।

विभावना (३३)

विभावना—के छ भेद हैं। सबमे न्यूनाधिक हेतु-हीन कार्य का कथन होता है।

प्रथम विभावना—मे कारण के अनस्तित्व मे कार्य होता है। यथा—

साहितनै सिवराज की सहज टेव यह ऐन,
अनरीझे दारिद हरै, अनखीझे रिपु-सैन।

(भूषण)

दरिद्र-हरण कर लेने के कारण यहाँ (कार्य का पूरा होना) बाधक होकर तथा हेतु को बाध्य बनाकर उसका रूप थोड़ा रीझने पर भी, कर देता है। इसी प्रकार अरि-सेन का विनाश हो गया ही, अत' उसका कारण नीति का वचन—"शत्रुनाश योग्य है"—मानना पड़ेगा।

जहाँ-जहाँ ठाढ़ो लख्यो स्याम सुभग सिरमौर,
उनहूँ बिनु छिन गहि रहत दगन अजौं वह ठौर।
(बिहारी)

लाज-भरी अँखियाँ बिहँसी, बलि बोल कहे बिन उत्तर दीन्हों।
(मतिराम)

उत्तर देने का मुख्य हेतु है बोलना। यहाँ बिना बोले ही उत्तर मिल जाने से कार्य मुख्य हेतु (बोलने) का बाधक हो जाता है, और समझ पड़ता है कि किसी और प्रकार—इशारे आदि से—उत्तर दिया गया होगा।

स्रौन-बिहीन सदा सुनिबो करै, नेन बिना निरखै बर बेस को;
नासिका के बिन सूँघै सुगंध, बिना रसना लहै स्वाद बिसेस को।
हाथ नही, पर काम करै नित, बेपग धाय सकै सब देस को;
रूप नही, पै तऊ दरसै जग ब्रह्म सरूप 'बिसाल' महेस को।
(विशाल)

द्वितीय विभावना—में अपर्याप्त हेतु से कार्य होता है। यथा—

तिय ! कित कमनैती पढ़ी, बिनु जिह भौंहँ कमान,
चल चित बेधत चुकत नहिं बंक बिलोकनि बान।
(बिहारी)

यहाँ चित्त का बेधना पूर्ण होकर कथित हेतु का बाधक हुआ। जब

पत्यचा-विहीन धनुष बेध नही सकता, तब कोई दूसरा कारण होगा। इस प्रकार के धनुष से लक्ष्य का बेधन नही हो सकता, अत वह अकारण रूप ही है। इस प्रकार के प्रत्येक उदाहरण में कथित हेतु अपूर्ण होने से उस कार्य के लिये अहेतु रूप ही है। इस कारण इसमें भी हेतु-विहीन ही कार्य का होना पाया जाता है। अत उसका दूसरा हेतु निकालना पड़ता है।

आक-धतूरे के फूल चढाए ते रीझत हैं तिहुँ लोक के साईं।
(मतिराम)

यहाँ थोड़ी बात से कार्य हो जाने से मुख्य कारण श्रद्धा माननी पड़ती है।

सुमिरौं वा बिघनेस को तेज-सदन, सुख-सोम,
जासु रदन-दुति-किरन इक हरति बिघन-तम-तोम।
(दुलारेलाल)

नीचे के उदाहरणों मे स्पष्ट कथन है—

बाने फहराने, घहराने घंटा गजन के,
नाहीं ठहराने राव-राने देस-देस के,
नग भहराने, ग्राम-नगर पराने सुनि
बाजन निसाने सिवराजजू नरेस के।
हाथिन के हौदा उकसाने कुंभ कुंजर के,
भौन को भजाने अलि छूटे लटकेस के,
दल के दरारे हुते, कमठ करारे फूटे,
केरा कैसे पात बिहराने फन सेस के।
(भूषण)

केवल बाने का फहराना पर्याप्त कारण नहीं।

बाजि गजराज सिवराज सेन साजतहि

दिल्ली दिलगीर दसा दीरघ दुखन की ;
तनिया न तिलक सुथनिया पगनिया न,
घामै घुमरात छोड़ि सेजियाँ सुखन की।
'भूषन' भनत पति बाहँ बहियाँ न तेऊ
छहियाँ छबीली ताकि रहियाँ रुखन की ;
बालियाँ बिथुरि जिमि आलियाँ नलिन पर
लालियाँ मलिन मुगलानियाँ मुखन की।

(भूषण)

सैन को सजाना-मात्र अपर्याप्त हेतु है।

रावरी कृपा की कोर लहिके कछूक गहि
गरब गँभीर पाप-पुंजन कमायों मैं ;
देसन को चूर करि, सतगुन दूर करि,
कूर बनि केवल कुगुन अपनायो मैं।
सबको समान सतकार कै उदार ह्वैकै
जग-उपकार मै कबौ न मन लायो मैं,
आरत ह्वै भारत पुकारत है नाथ! अब
पाहि-पाहि रावरी सरन तकि आयों मैं।

(मिश्रबंधु)

यहाँ कृपा थोड़ी ही हुई, किंतु गर्व बहुत हो गया।

तृतीय विभावना—में प्रतिबंधक के होते हुए भी कार्य हो जाता है। यथा—

मानत लाज-लगाम नहि, नेकु न गहत मरोर,
होत तोहि लखि बाल के दग-तुरग मुँहजोर।

(मतिराम)

लाज-लगाम न मानहीं, नैना मो बस नाहिं ;
ये मुँहजोर तुरंग लौं ऐंचत हू चलि जाहिं।
(बिहारी)

यहाँ लज्जा प्रतिबंधक होते हुए भी कार्य हो रहा है, जिससे किसी अन्य भारी कारण (प्रेम) का होना सिद्ध है। प्रतिबंधक की अपर्याप्तता का बाधक है कार्य का हो जाना।

पोषन-भरन है करत सब ही को जब,
क्यों न तब ईस कबिता को प्रतिपालैगो,
बल को बिचार जब करत न पोषन मैं,
सिथिल कबिन तब कैसे वह घालैगो।
सोचिकै बिसभर को भाव यह आसप्रद
कौन कबिता सों मतिमद कबि हालैगो,
अनुभव-छीन, रीति-पथ हू मैं दीन, तैसे
सकति-बिहीन कबि ग्रंथ रचि डालैगो।
(मिश्रबंधु)

यहाँ अनुभव आदि की कमी प्रतिबंधक है।

बीर बडे-बडे मीर पठान, खरो रजपूतन को दल भारो ;
'भूषन' जाय तहाँ सिवराज लियो हरि औरँगजेब को गारो।
दीन्हो कुज्वाब दिली-पति को, अरु कीन्हो उजीरन को मुँह कारो ;
नायो न माथहि दक्खिन-नाथ, न साथ मैं सैन, न हाथ हथ्यारो।
(भूषण)

घोर तरुनीजन बिपिन तरु नीजन ह्वै
निकसीं निसंक निसि आतुर अतक मैं,
गनैं न कलंक मृदु लकनि मयंकमुखी,
पंकज-पगन धाईं भागि निसि-पक मैं।

भूषननि भूलि पैन्है उलटे दुकूल 'देव'
खुले भुज-मूल प्रतिकूल बिधि बक मै ;
चूल्हे चढे छाडे उफनात दूध-भाँडे, उन
पूत छाँडे अंक, पति छाँडे परजंक मै ।
(देव)

भूषण के छंद में प्रतिबंधक पहले तथा चौथे पदों में है और देव-वाले में तीसरे पद को छोडकर शेष तीनो में । नीज्न=निर्जन ।

जदपि चवाइनु चीकनी चलत चहूँ दिसि सैन,
तऊ न छाँडत दुहुन के हँसी रसीले नैन ।
(बिहारी)

चवाइनु-चीकनी=चवावों से चुपड़ी हुई, भरी हुई । चलत चहूँ दिसि सैन=चारो ओर इशारेबाज़ी चल रही है ।

चतुर्थ विभावना—में अकारण से कार्योत्पत्ति है । यथा—

ता दिन अखिल खलभलै खल खलक मै,
जा दिन सिवाजी गाज़ी नेकु करषत है,
सुनत नगारनि अगार तजि अरिन की
दारगन भागति न बार परखत है ।
छूटे बार-बार, छूटे बारन ते लाल देखि
'भूषन' सुकबि बरनत हरषत है,
क्यों न उतपात होहिं बैरिन के झुंडन मै,
कारे घन उमडि अँगारे बरसत हैं ।
(भूषण)

भूषण न यहाँ बालों के लिये काले मेघ और लालों के लिये अंगारों

को कहा है। बादल से अंगारों का बरसना अकारण से कार्य की प्राप्ति है।

हँसत बाल के बदन मैं यो छबि कछू अतूल,
फूली चंपक बेलि ते झरत चमेली फूल।
(मतिराम)

पंचम विभावना—मे विरुद्ध हेतु से कार्योत्पत्ति होती है। यथा—

मोर-पखा 'मतिराम' किरीट मै, कंठ बनी बनमाल सोहाई ;
मोहन की मुसुकानि मनोहर कुंडल डोलनि मै छबि छाई।
लोचन लोल, बिसाल बिलोकनि, को न बिलोकि भयो बस माई !
वा मुख की मधुराई कहा कहौं, मीठी लगै अँखियानि लोनाई।
(मतिराम)

लाल ! रावरे रूप की निपट अनोखी बानि ;
अधिक सलोनो है, तऊ लगत मधुर अँखियानि।
(रामसिंह)

इन दोनो छंदो मे लोनाई मिठाई के लिये विरुद्ध हेतु है।

भूले भए भट भारे भाँति-भाँति भूरि भाँडे
नेकु नाम सुमिरत ही ते डारे भुजि ते ;
दीरघ दरिद्र दुख गरुवे सुमेरु - सम
एक रेनु-कन ही ते कीन्हे लघु लुंज ते।
'लेखराज' तेरे गंगे ! गुन किमि हेरे जात,
सीत जल ही ते मेरे जारे पाप-पुंज ते ;
जौन दृढ़ विषय सुदरसन ते न कटे,
तौन नेक दरसन ही ते कीन्हे लुंज ते।
(लेखराज)

यहाँ चारों पदों में विरुद्ध हेतु से कार्योत्पत्ति है।

नैन सों छार अनंग कियो, रति के उर चढ मों आगि बगारत,
कंठ के दीह हलाहल सों निसि-द्यौस जमी पै श्रमी बिसतारत।
देखे न क्यो परताप 'बिसाल' कहा इत बैठि बनावत भारत;
संकरजू निज दर्सन दै नित गंग कि धार मों पातक जारत।
(विशाल)

इस छंद मे विभावना के कई उदाहरण हैं, जिनमे से सबमे विरुद्ध हेतु से पंचम विभावना है।

उड़िला उड़िलत क्यान जल बिसद दूध की धार,
दोष दरै, आतप गरै, पाप होयँ जरि छार।
(मिश्रबंधु)

उड़िला-छत्रपुर का एक जल-प्रपात।

षष्ठ विभावना—मे कार्य से हेतु की उत्पत्ति कथित रहती है। यथा—

बाँके नैन सरोज ते सरिता कढ़ी अपार,
बूड़त ताहि उबारिए ए हो नदकुमार!
(वैरीशाल)

भयो सिधु ते बिधु सुकबि बरनत बिना बिचार,
उपज्यो तो मुख - इंदु ते प्रेम - पयोधि अपार।
(मतिराम)

विभावना और विरोध का विषय - विभाजन—विरोध (नं० ३२) में एक ही स्थान में न रह सकनेवालों के एक ही

स्थान में वर्णन मे विरोध होता है, तथा विभावना मे कारण न होते कार्य के होने में विरोध है।

निम्नांकित दो पद्यों मे समस्त विभावनाओ के लक्षण और उदाहरण आ जाते हैं—

'हेतु विना कारज की उपज विभावना है'
अंजन विना ही नैन ऐन - कजरारे हैं;
'कारण अपूरो पूरे कारज सु दूसरी है'
नेकु पग मग धारे जगमग धारे हैं।
'होय प्रतिबंधक भए हू पर काज देखो'
तीसरी विभावना के चरित निहारे हैं,
राधिका पै चौकी राखी, चौकिन पै हरकारे
तऊ केलि करत निहारे कान्ह कारे हैं॥

'चौथी है अकारन ते कारज जनम,' रूप-
लता पर सोभामान श्रीफल सुढार भो;
'पचई बिरुद्ध काज प्रापति,' प्रवीन मंजु-
बदन ते बैन कढ़ि सौति उर पार भो।
'होय जहाँ कारज ते कारण उपज देखो
छठई विभावना' को ऐसो उपचार भो,
कहै नट नागर सकल गुन आगर, तो-
अधर सुधा सों सुधा सागर अपार भो।

(दूलह)

विशेषोक्ति (३४)

विशेषोक्ति—मे हेतु के पूर्ण होने पर भी कार्य नही होता।

यथा—

पुनि हैहयाधिप-बंस को गुनि करम निंदित क्रोध कै;
करि बंक भृकुटी महठ माहिष्मती को अवरोध कै।
करि तौन बंस बिधंस घोर प्रसंस सगर मै महा,
श्रीराम अपने क्रोध-सागर को न पार तबौ लहा।

(मिश्रबंधु)

बरसत रहत अछेह वै नैन बारि की धार,
नेकहु मिटति न है तऊ तो बियोग की झार।

(वैरीशाल)

यहाँ प्रबल हेतु वारि-धार है, जो बाधक बनकर वियोग की झार के न बुझने के भाव को बाध्य बना देती है, और यहाँ रूपकालंकार का होना बतलाता है।

नारि जु बारिज-सी बिकसी रहै, नेह-कमी, पिक-सी कल कूजै,
जा बड भाग के भौन बसी, तेहि पीतम के चलिकै पग पूजै।
और कहा कहिए तेहि द्वार कि दासी ह्वै 'देव' उदास न हूजै,
आँखिन को सुख, सुंदरि को मुख देखत हू दिखसाध न पूजै।

(देव)

पियत रहत पिय नैन यह निसि-दिन मृदु मुसुकानि,
तऊ न होति मयंकमुखि! तनिक प्यास की हानि।

(मतिराम)

तीनि कोस सूरज भुव लिन्निय,
घेरि पठान सबै इक किन्निय।
चारिहु ओर धूम करि दिन्निय,
तऊ पठान रोस नहिं मिन्निय।

(सूदन)

आवत हैं परभात इतै, चलि जात हैं रात उतै निज गोहैं;
मो ढिग जो पै रहैं कबहूँ, तबहूँ उत ही की लिए रहैं टोहैं।

सौहैं 'बिसाल' करैं इत लाखन, पै अभिलाखि उतै मन मोहै,
होति अरी हित-हानि खरी, तऊ लालची लोचन लाल को जोहैं।
(विशाल)

बही-बही फिरै लागी बही चित्रगुपित की,
मचै लगो जम के सदन हाहाकार है,
पापिन को गंग मैं पछारै लगे खलगन,
पापिन की भई अति गरम बजार है।
जगत के काज सब उलटे चलन लागे,
पुन्यवान रोए करि-करि डिडकार है,
ऐसो मत पर्‌यो है पसंद सब पापिन को,
नहीं पुन्यवानन हू कियो इनकार है।
(मिश्रबंधु)

विशेषोक्ति मे अलंकारता—विशेषोक्ति में हेतु की पूर्णता कही-भर जाती है (या प्रतिबंधक छिपा लिया जाता है), क्योंकि यदि वह हेतु वास्तव में उस कार्य के लिये पूर्ण हो, तो कार्य हो ही जाय। फिर भी कवि द्वारा पूर्णता के रूप मे हेतु के कहे जाने-मात्र से विशेषोक्ति मान ली जाती है। वियोगानल शमन करने को रुदन-पूर्ण कारण है ही नहीं, क्योंकि घटने के स्थान पर इससे वह कभी-कभी और भी बढ़ता है। फिर भी कवि-कथन के कारण भाषा-संबंधी चमत्कार के विचार से यह अलंकार माना जाता है।

असंभव (३५)

असंभव—में "कौन जानता था" के अर्थवाले शब्दों को वाचक बनाकर अर्थ-सिद्धि की असंभवनीयता कही जाने पर भी उस का सिद्ध होना कहा जाता है। यथा—

कालिंदी मै कूदि, पैठि जायकै पताल आली !
कौन जानै बनमाली काली नाथि लायहै ।
(दूलह)

छोटो जसुमति - छोहरो को जानत हो आजु ;
करि बिधंस नृप कंस को देहै उग्रहि राजु ।
(ऋषिनाथ)

हरि-इच्छा सब तैं प्रबल, विक्रम सकल अकाथ ,
किन जान्यो लुटि जाइहै गोपी अर्जुन साथ ।
(दास)

यौ दुख दै ब्रजबासिन कौ ब्रज कौ तजि कै मथुरा सुख पैहैं ;
वै रसकेलि बिलासिनि कौ बन-कुंजनि की बतियाँ बिसरैहैं ।
जोग सिखावन कौ हम कौ बहुरयौ तुमसे उठि धावनि ऐहैं ;
ऊधौ नही हम जानत ही मनमोहन कूबरी हाथ बिकैहै ।
(मतिराम)

'नहीं हम जानत ही' वाचक लाकर कूबरी से प्रीति करने में असभव वस्त का होना कहा गया है ।

विरोध और असंभव मे पृथक् अलंकारता—विरोध में दोनो बाधक और बाध्य होते हैं, किंतु असंभव में कोई बाधक-बाध्य नहीं, केवल वक्ता कार्य को असंभव रूप मे कहता हे, अथच असंभवपन निवारण की पाठक को भी आवश्यकता नहीं पड़ती । विरोध में अर्थ समझने के लिये विरोध हटाना पडता है, और विना ऐसा किए काम नही चलता । अतः दोनो की पृथक् अलंकारता सिद्ध है ।

असंगति (३६)

असंगति—नियमवाले सबंध के छोड़ने मे होता है । इसके तीन भेद हैं ।

प्रथम असंगति—नियम-विरुद्ध भिन्न प्रदेशों मे कार्य-कारण-भूत धर्मों की स्थिति होने में होती है।

इसका मोटा लक्षण है—"अंते हेतु अते काज जानौ असंगति रैनि जागे तुम आलस हमारे तन छायो है" यथा—

छिरके नाह नवोढ दग कर पिचकी जल-जोर ,
रोचन-रँग-लाली भई बिय तिय लोचन-कोर ।
(बिहारी)

विभावना और असंगति में भेद—

यहाँ प्रश्न यह उठता है कि ऐसे उदाहरणों मे अकारण से कार्योत्पत्तिवाली चतुर्थ विभावना क्यो न मानें ? विभावना मे चमत्कार हेतु-विहीन कार्य होने का दिखलाया जाता है। परतु असंगति में हेतु और उसका कार्य का अन्य प्रदेश में होने का। चौथी विभावना यथा—

चंपक की लतिका तैं सुबास सुमालती की पसरै सुखदेनी ;
कौल के कोस ते गध गुलाब की आवत है लहि दायक चैन री ।
'गोकुलनाथ' कुहू निसि मैं यह राका की राति की दाह बढ़ै न री ;
देखु कपोत के कंठ ते आली कढै कल कोकिल कोवर बैन री ।
(गोकुलनाथ)

यहाँ "देखु . बैन री" कहने मे कवि का तात्पर्य हेतु के विना कार्य उत्पत्ति दिखलाने में है, क्योंकि अकारण (अहेतु) के अनुरूप होता है। जहाँ कोई वस्तु लगती है, वहीं लाली आ जाती है, ऐसा नियम है। परतु दोहे मे पानी लगा अन्य के और उसके लगने की लालिमा अन्य के (अर्थात् अन्य स्थान पर) आते कहा गया है। अत यहाँ चमत्कार भिन्न प्रदेशों मे कार्य और हेतु के होने में है, यही भेद है।

कहने का तात्पर्य यह है कि यद्यपि है दोहे मे भी हेतु (अन्य नायिका के दृगों मे लाली उत्पन्न करने के लिये) अहेतु ही और उससे कार्य भी होते कहा गया है। परंतु चमत्कार इसमे न होकर अन्य विषय (हेतु अन्य स्थान तथा उसका कार्य अन्य स्थान स्थित होने) मे है।

पानी एक के दृग में लगा (हेतु), पर लाली दूसरे के आई (कार्य)। अतः कार्य और कारण का भिन्न प्रदेश हुआ। अन्यच्च—

राधा के दृग खेल मे मूँदे नदकुमार,
करनि लगी दृग-कोर सो भई छेदि उर पार।
(मतिराम)

दृग-कोर लगी तो हाथों में, किंतु छिदा हृदय। कारण हाथ में हुआ तथा कार्य भिन्न देश (हृदय) मे। पुनवि—

दृग उरझत, टूटत कुटुम, जुरति चतुर चित प्रीति,
परति गाँठि दुरजन हिये दई ! नई यह रीति।
(बिहारी)

उर मे बिजली-सी चमकी, नेनों मे जल भर आया,
क्या जानें आज अचानक किस स्मृति का घन घिर आया।
(उमेश)

जब बिजली बादल में चमकती है, तब वहाँ पानी बन जाता है। ऐसा वैज्ञानिक नियम है। यहाँ हृदय में बिजली चमकी, तथा पानी भिन्न प्रदेश नेत्रो मे बन गया।

महाराज सिवराज चढत तुरग पर
ग्रीवा जाति नै करि गनीम अतिबल की,
'भूषन' चलति सरजा की फौज भूमि पर,
छाती दरकति है खरी अखिल खल की।

दियो दौरि घाव उमरावन-अमीरन पै,
गई कटि नाक सिगरेई दिल्ली-दल की;
सूरति जराई, कियो दाहु पातसाहु उर,
स्याही जाय सब पातसाही मुख झलकी।
(भूषण)

जब मनुष्य घोड़े पर चढ़ने लगता है, तब उस(मनुष्य)की गर्दन कुछ आगे झुक जाती है, किंतु यहाँ शत्रु की झुकती है ।

विरोध-असंगति भेद-प्रदर्शन—विरोध में एक देशस्थित वस्तुओं का विरोध रहता है, किंतु यहाँ भिन्न देशस्थित में कार्य-कारण के रहने का।

दगनु लगत, बेधत हियहिं, बिकल करत अँग आन,
ए तेरे सबतैं बिषम ईछन - तीछन बान।
(बिहारी)

ईछन=आँख , दृष्टि-ज्ञान ।

लरैं नैन, पलकैं गिरैं, चित तरपैं दिन - रैन ;
उठैं सूल उर, नेह - पुर नव नय-मय नृप मैन ।
(दुलारेलाल)

कोई परलोक सोक भीत अति बीतराग,
तीरथ के तीर बसि पी रहत नीर ही ,
कोई तप-काज बाल ही तैं तजि गेह-नेह,
आगि कर आस-पास जारत सरीर ही।
कोई छाँडि भोग-जोग धारना सों मन जीति,
प्रीति सुख-दुखन मैं साधत समीर ही ;
'सेनापति' सोवै सीतापति के प्रताप सुख,
जाकी सब लागैं पीर ताही रघुबीर ही।
(सेनापति)

वीतराग=राग-रहित ।

सागर के मथतै-मथतै पहिले गुनआगर माल गयो लुटि ;
फेरि तही मदिरा निमरी, तब दैतन को दल आनि गयो जुटि।
देखि हलाहल ब्याकुल ह्वै कुल ख्याल 'बिसाल कि ओर गयो छुटि ;
सकरजू बिस-पान कियो, सब दासन को जल-पान गयो छुटि।

(विशाल)

द्वितीय असंगति—अलग करने की बात अलग करने में होती है। यथा—

मै देख्यो बन जात रामचंद्र तुव अरि तियन ,
कटि-तट पहिरे पात, दृग कंगन, कर मै तिलक।

(दास)

कान मे पहनने का आभूषण तथा पत्ते पात कहलाते हैं। आँसू पोछने से आँख के निकट कंकण तथा हाथ में तिलक लग गया था।।

लाहु कहा खए बेदी दिए औ' कहा है तरयौना के बाहु गडाए ;
कंकन पीठि हिये रुसि रेख की बात बनै बलि मोहि बताए।
'दास' कहा गुन ओठ मै अंजन, भाल मै जावक लीक लगाए ;
कान्ह सुभाय ही बूझति हौ, है कहा फल नैननि पान खवाए ?

(दास)

भूप-सिरमौर राम दौरत 'कुमार' कहि,
उज्जरत दुज्जन के दुग्ग हैं पलक मैं ,
बैरि-तरुनीनि के नवीन लखे भूषन है,
भूषन बिहीन लखी जीरन ललक मैं।
चुरी हिय माह बन-बीच दुख दाह डरी,
जावक को रंग जग लोचन फलक मैं ,
पानि मे बसन दसननि रसना है, गति-
नथ की पगनि, पत्र-रचना अलक मै।

(कुमारमणि)

छाती कूटती हैं, अतः हृदय पर चूड़ी पहुँच गई। जावक के समान लाल नेत्र हो गए हैं। थकान के मारे ओढ़ने का वस्त्र हाथ में ले लेती है; दाँतों-तले जिह्वा दबाए हैं। पहले नथ सदा हिला करती थी, अब पग चला करते हैं, पत्र (जन्मकुंडली) में जो लिखा था, वैधव्य आ जाने से (अलकै खुली रहने से) बालों में भी लिख गया।

तृतीय असंगति—में कर्ता के कुछ करने के प्रयत्न में विरुद्ध बात हो जाती है। यथा—

> ललक सों आए लघु मान मेटिबे को पीक
> पलक दिखाय गुरु मान झलकायो है।
> (दूलह)
>
> उदित भयो है जलद ! तू जग को जीवन-दानि ;
> मेरो जीवन लेत है कौन बैर मन आनि ?
> (मतिराम)

तृतीय भेद में असंगति नहीं—तृतीय असंगति में भिन्न स्थान है ही नहीं, जिससे यह भेद असंगति में आना अनुचित है। यह मत पंडितराज का है।

द्वितीय भेद असंगति में मतभेद—पंडितराज द्वितीय असंगति को भी पृथक् स्थान न होने के कारण विरोधाभास मानते हैं, किंतु वहाँ कंकण और कर के भिन्न-भिन्न स्थानों में भासित होने के कारण स्थान-भेद प्रस्तुत है। जहाँ विरोध सा जान पड़े, वहाँ असंगति होगी, किंतु भूल से और का और कर जाने में न होगी, क्योंकि अलंकार योग्य चमत्काराभाव है। यथा—

> 'सोमनाथ' मोहन सुजान दरसाने, त्यों ही
> रीझि अलबेली उरझानी और हाल मैं ;

मोरवारी बेसरि लै स्रवन सुजान चारु
साजे पुनि भूलिकै करनफूल भाल मै।
(सोमनाथ)

यहाँ नायक को देखकर नायिका का चित्त दूसरी ओर चला गया, सो भूल हो गई, जिसमें अलंकार-संबंधी कोई चमत्कार नहीं देख पड़ता। मुख्य चमत्कार केवल भाव का है, भाषा का नहीं।

विषम (३७)

विषम—में तीन भेद होते है। 'अननुरूपसंसर्गं विषमम्' अर्थात् असमान संसर्ग में विषम होता है। (पंडितराज)

प्रथम विषम—में विरुद्ध वस्तुओं का अयोग्य संबध चमत्कार-पूर्वक कथित रहता है। यथा—

वे नक्षत्रों पर सोते किरणों की चादर ताने,
मैं धूल-कणों पर बठा जग-जगकर रात बिताऊँ।
(उमेश)

जावलि बार सिंगार पुरी औ' जवारि को राम कै नैरि को गाजी;
'भूषन' भौंसिला भूपति ते सब दूरि किए करि कीरति ताजी।
बर कियो सरजा सों खवासखाँ, डौडियै सैन बिजैपुर बाजी;
बापुरो आदिलसाहि कहाँ, कहाँ दिल्लि को दामनगीर सिवाजी।
(भूषण)

मानहु पायो है राज कहूँ, चढि बैठत ऐसे पलास कै खोढ़े;
गुंज गरे, सिर मोर-पखा 'मतिराम' यों गाय चरावत चोढ़े।
मोतिन को मम तोर्यो हरा, धरि हाथन सों रही चूनरी पोढ़े,
ऐसे ही डोलत छैल बने, तुम्हें लाज न आवत कामरी ओढे।
(मतिराम)

चोढे = गोचर की ऊँची-नीची भूमि। यह बनाव और हमसे प्रेम चाहना।

बूझै बडे बबा नंद को बस, जसोमत माय को मायको बूझत,
बोलत बातैं बडी बन मै, मन मैं बृषभानु बबा सों अरूझत।
'देव' दबीं हम नेह के नाते, न तौ पुरिखा इन बातन जूझत;
जीभि सँभारि न कादत गारि हौ, ग्वारि गँवारि हमैं हरि बूझत।
(देव)

हौं भई दूलह वे दुलही, उलही रुचि सों चित प्रीति घनेरी;
हौं पहिरो उनको पियरो, पहिरी उनरी चुनरी चुनि मेरी।
'देव'जू कासों कहौ, को सुनै, औ' कहा कहे होत कथा बहुतेरी;
जे हरि मेरी धरैं नित जेहरि, ते हरि चेरी के रग रचे री।
(देव)

जेहरि=पायज़ेब। जे हरि=जो हरि।

सबन के ऊपर ही ठाढ़ो रहिबे के जोग,
ताहि खरो कियो जाय जारन के नियरे;
जानि गैर मिसिल गुसीले गुसा धरि उर
कीन्हीं ना सलाम, न बचन बोले सियरे।
'भूषन' भनत महाबीर बलकन लाग्यो,
सारी पातसाही के उडाय गए जियरे,
तमक ते लाल मुख सिवा को निरखि भए
स्याह मुख औरँग, सिपाह-मुख पियरे।
(भूषण)

इस कवित्त के प्रथम चरण में यह अलंकार है।

ब्याह समैं मैं हिमंचल के घर भो सबके मन आनँद गाढ़ो;
श्रीबर के अवलोकन को अबलागन आनि भयो जुरि ठाढो।
देखि अपूरब रूप कराल दुखी मयना मुख सों बच काढ़ो;
कौल-कली-सी कहाँ गिरजा औ' कहाँ सिव संकर-सो बर राढो।
(विशाल)

कोल=कमल ।

इन सब छंदो मे अयोग्य सबध के कथन हैं ।

द्वितीय विषम—मे हेतु से कार्य मे विरूपता होती है ।

कुलपति मिश्र इसका लक्षण यो कहते हैं—जब कारण के कार्य में गुण से गुण की या क्रिया मे क्रिया की विरूपता हो, तब दूसरा विषम है ।

क्रिया से क्रिया की विरूपता—

मोतन ताप सिरै सदा तो तन सीतल संग,
तेही ते उपज्यो बिरह जारत मेरो अग ।

(चिंतामणि)

यहाँ नायिका पहले तापहारिणी थी, किंतु उसी संग से दाहक विरह उपजा । अतएव हेतु की पहली क्रिया से दूसरी क्रिया की विरूपता है । उपर्युक्त दोनो लक्षणो मे प्रतिकूलता नहीं है । (नं० ४४ द्वितीय व्याघात देखिए) ।

गुण से गुण की विरूपता—

गोरो, सोभा को सदन तेरो बदन ललाम,
कियो लाल रँग लाल को सौतिहु को रँग स्याम ।

(रामसिंह)

पान के भग हरे रँग की रँग लाल बिलोचन मैं दरसायो,
सेत सुदेव नदी जलधार सो त्यो जम के मुख मैं मसि लायो ।
देखै न क्यों मन लाय 'बिसाल' कहा भ्रमजाल मैं चित्त लगायो ;
संकर स्याम हलाहल सों छिति - मंडल पै सित कीरति छायो ।

(विशाल)

दोहे मे हेतु का रंग श्वेत है, किंतु कार्य का लाल और काला ।

या अनुरागी चित्त की गति समुझै नहिं कोय,
ज्यों-ज्यों बूड़ै स्याम रँग, त्यों-त्यो उज्ज्वल होय ।

(बिहारी)

पंचम विभावना और विषम का विषय पृथक्करण—

वारने सकल एक रोरिही कि आड पर
हाहा न पहिरि आभरन और अंग मै ;
कवि 'मतिराम' जैसे तीच्छन कटाच्छ तेरे,
तैसे कहाँ सर हैं अनग के निषंग मैं।
सहज सरूप सुघराई रीझो मेरो मन,
डोलत है तेरे रूप सिंधु के तरंग मैं,
सेत-सारिही सों सब सौतैं रँगी स्याम रँग,
सेत सारिही सों स्याम रँगे लाल रग मै।

(मतिराम)

यहाँ पंचम विभावना से भेद दिखलाना योग्य है। श्वेत सारी से मिलकर तन-द्युति के बढने से सौतें श्याम रंग की हो गईं, अर्थात् श्वेत सारी भी कारण के साथ आई। अतः विषम है। उधर पंचम विभावना 'वा मुख की सुघराई कहा कहौ, मीठी लगै अधरान लोनाई' मे हेतु मिठास न रहकर सौंदर्य हो जाता है।

विरोध, असगति तथा द्वितीय विषम मे भेद—उद्योतकार का कहना है कि विरोध में विरोधियों के एक स्थान पर रखने में चमत्कार है, असंगति मे एक स्थानवाले हेतु और कार्य के पृथक् स्थानों के वर्णन मे, तथा द्वितीय विषम मे कार्य की कार्य से अथच गुण की गुण से विरूपता दर्शाने मे। यही बात कुलपति मिश्र के लक्षण मे है।

तृतीय विषम—मे कर्ता को इष्टार्थ क्रिया करने पर केवल उसकी अप्राप्ति ही नहीं होती, वरन् अनिष्ट भी हो जाता है। यथा—

तो कटाच्छ-डर मन दुरयो तिमिर केस मे जाय,
तहँ बेनी ब्यालिनि डस्यो कीजै कहा उपाय ?

(दास)

कटाक्ष के डर से बचने का प्रयत्न किया गया, परंतु उससे बचना तो दूर रहा, उलटे बेनी रूपी व्यालिनी ने ग्रस ही लिया।

जेहि मोहिबे काज सिंगार सज्यो, तेहि देखत मोह मे आय गई;
न चितौनि चलाय सकी, उनही की चितौनि के घाय अघाय गई।
बृषभानु-लली की दसा सुनौ 'दासजू' देत ठगोरी ठगाय गई;
बरसाने गई दधि बेचन को, तहाँ आपु ही जाय बिकाय गई।

(दास)

लोने मुख दीठि न लगैं यों कहि दीन्ही ईठि,
दूनी ह्वै लागन लगी दिए दिठौना दीठि।

(बिहारी)

दृष्टि न लगने के हेतु का यत्न किया गया, तथापि बचना तो दूर रहा, वह दूनी होकर लगने लगी।

कन दीबो सौंप्यो ससुर बहू थोरहथी जानि;
रूप रहचटे लगि गयो सब जग माँगत आनि।

(बिहारी)

मदन-सिलीमुख के डरनि सोयों बन घन कुंज;
भयो महादुखदानि उत दुगुन सिलीमुख-पुंज।

(चिंतामणि)

शिलीमुख=बाण, भ्रमर।

काम जो हजामति बनायबे को जानते, तौ
रुपया द्वै-एक लावतेई दिन-भर में;
सोफर जो होते, तौ बराबरी करत कौन,
बायु-बेग मोटर उडावते सहर में।
जूती गाँठि लेते, तऊ तूती बोलती ही सदा,
धेली-सूका पीटि लेते एक ही पहर मे,

पास कीन्हों बी ए, घास खोदत सरम लागै,
टके को पुछैया नहीं, सरौ परे घर में।
(मिश्रबंधु)

दरसनीय सुनि देस वह, जहँ दुति-ही-दुति होय ;
हौं बौरो हेरन गयो, बैठो निज दुति खोय।
(दुलारेलाल)

आई हौ पायँ देवाय महाउर कुंजन ते करिकै सुख-सेनी ;
साँवरे आजु सँवारो है अंजन, नैनन को लखि लाजत एनी।
बात के बूझत ही 'मतिराम' कहा करती भट्ट ! भौहँ तनेनी,
मूँदी न राखति प्रीति अली ! यह गूँदी गोपाल के हाथ कि बेनी।
(मतिराम)

सखी के कहने पर नायिका नेत्र तनेनकर यह प्रयत्न करती है कि वह न कहे, परंतु सखी यह सोचकर कि वह दब जायगी, और साफ़ साफ़ कहने लगी। यहाँ तक कह दिया कि तुझसे श्रीकृष्णचंद्र से प्रेम है, अत. तृतीय विषम है।

महावर सात्त्विक में पसीना निकला होने पर दिए जाने के कारण फैल गया। स्पर्श से रोमांच तथा उससे प्रेम के कारण स्वेद का होना कहा जाता है। प्यार की तीव्रता के कारण उँगली गड़ जाने के भय से पोलेपन से अंजन लगाया गया, जिससे फैल जाने से मृगछौनी को उसके नेत्र देखकर लज्जित होना कहा गया है, प्रीति ही के वश कसकर बाल भी नहीं बाँधे बँधे, इससे ये क्रियाएँ प्रेमी के हाथ से संपादित विदित हुईं।

लाए हौ मोहि मया करिकै, तौ हरी-हरी घास खरी-भुस खैहौं,
ब्यान पचीसक ब्याय चुकी, अब भूलि नहीं सपने हू बियैहौं।
हौं महिषासुर तैं बड़ी बैस मै, तो घर जाय कलंक न लहौं,
दूध को नाम न लेहु कबीसुर, मूतन के नदी-नार बहैहौं।
(कस्यचित् कवेः)

कलंक न लैहौं = यह बदनामी बच्चा पैदा करके न लूँगी कि इस वृद्धावस्था में भी भैंसे की इच्छा की।

ब्यास बादरायन त्यों सकरहु रामानुज
तुलसी कबीर आदि सिच्छक जिते भए,
करिकै बिसाल ख्याल स्वमत पै सबहिन
उपदेस एक ईस - मूलक निते दए।
देकै एक पाई लाभ लाखन के पायबे की
झूठी लालसा को किंतु जनता फिरै लए,
धरम - धरम की पुकार बीच नीचन के
स्वारथ के साधक हमारे तीथ ह्वै गए।

(मिश्रबंधु)

माना, विधवा ब्याह शास्त्र में है कुछ दूषित,
पै व्यभिचार कराल शास्त्र मे है कब भूषित ?
होता है आचरण शास्त्र-प्रतिकूल अवश जब,
तजकर निंदित गैल गहैं क्यों नहि सुखदा तब ?
फिर शास्त्र-शास्त्र चिल्लात हैं, जे अधे सुत क्षुद्र मम,
है नहीं पापकर्मा कही उनके सम जग मे अधम।

(मिश्रबंधु)

यहाँ शास्त्र के माननेवाले करने तो पुराय निकले, किंतु कर बैठे पाप।

सम (३८)

सम—के तीन भेद है, जिन सबमें अनुरूप का संसर्ग होता है।

प्रथम सम—में अनेक अनुरूपों का संबंध रहता है। यथा—

चिरजीवौ जोरी, जुरै क्यो न सनेह गँभीर,
को घटि, वै बृषभानुजा, यै हलधर के बीर।

(बिहारी)

वह वृषभ की अनुजा (बहन) और यह हलधर (बैल) के भाई हैं।

मोहन को मुख - चंद अली ! नित नैन-चकोरन को दरसावै ;
लोचन भौंर गोपाल के आपने आनन बारिज बीच बसावै।
तौ तैं लहे 'मतिराम' महाछबि प्रानपिआरे ते तू छबि पावै ;
तौ सजनी सबके मन भावै, जु सोने से अंगनि लाल मिलावै।

(मतिराम)

चंद चकोर का, भ्रमर वारिज का, स्वर्ण और लाल का साथ अनुरूप है।

ऊधो तहाँई चलौ ले हमै, जहँ कूबरी - कान्ह बसैं यकठोरी ;
देखिए 'दास' अघाय-अघाय तिहारे प्रसाद मनोहर जोरी।
कूबरी सों कछु पाइए मंत्र, ढ़ाइए कान्ह सों प्रेम कि डोरी ;
कूबर भक्ति बढाइए बंदि, चढ़ाइए चंदन बदन रोरी।

(दास)

बंदन=ईंगुर। यहाँ टेढ़ी कुब्जा की त्रिभंगी कृष्ण से अनुरूप प्रीति कथित है।

जैसो मातु गंग सरसावति महान बेग,
तैसोई जटा को जूट बाढत उताल है,
जैसे चारु चंद्रमा ललाट पै प्रकासमान,
धधकत तैसे नैन तीजो अति लाल है।
भनत 'बिसाल' जैसे कंठ मैं हलाहल है,
तैसे अंग-अगन भुजंगन को जाल है,
जैसे जग जाहिर पिनाक पर भावे बेस,
तैसो एक आँक सिव सूल बिकराल है।

(विशाल)

यहाँ जैसे-तैसे से अनुरूपता सिद्ध है।

छहरैं सिर पै छबि मोर-पखा, उनके नथ के मुकुता थहरैं ;
फहरै पियरे पट बेनी उतै, उनकी चुनरी के झबा झहरैं।
रस-रग भिरे अभिरे है तमाल, दोऊ रस ख्याल चहै लहरै,
नित ऐसे सनेह सो राधिका-स्याम हमारे हिए मै सदा ठहरैं।
(बेनी)

द्वितीय सम—मे कारण के साथ कार्य की समानरूपता रहती है। यथा—

करत लाख मनुहारि, पै तू न लखति यहि ओर,
ऐसो उर जु कठोर, तौ न्यायहि उरज कठोर।
(मतिराम)

उर (हेतु) कठोर हुए, तो उमसे उपजे उरज का कठोर होना अनुरूप ही है।

भई कीरति सों कीरत करति छबि छाय कै।
(दूलह)

बास लह्यो बडवानल पास, हलाहल को सहजात कहावै,
सकर भाल के लोचन पै बसि पावक-ज्वाल कराल मँझावै।
राहु गिल्यो उगिल्यो, पुनि सूरज संग मिल्यो जु कलक सुभावै,
सो गुरु-साप डरयो नहिं पाप, निसापति क्यो नहि ताप बढावै।
(कुमारमणि)

सहजात=भाई। सूर्य क साथ मिला हुआ होकर भी उसमे स्वाभाविक कलक है। गुरु-पत्नी हरने मे गुरु-शाप के पाप से न डरा।

तृतीय सम—मे जिसके लिये यत्न किया जाय, उसकी सिद्धि विना बाधा के चमत्कार-पूर्वक होती है। यथा—

क्यों नहिं देहि प्रबीन वै ऊधव बाछित साज,
कब की चाहै जोग सो दियो जोग ब्रजराज।
(वैरीशाल)

इस छंद में समता शाब्दिक-मात्र है, और जोग के दो अर्थोंवाले श्लेष से पोषित है।

कोऊ नही बरजै 'मतिराम', रहौ तित ही, जित ही मन भायो,
काहे को सौहैं हजार करौ, तुम तौ कबहूँ अपराध न ठायो।
सोवन दीजै, न दीजै हमै दुख, यो ही कहा रसबाद बढायो,
मान रह्योई नहीं मनमोहन, मानिनी होय, सो मानै मनायो।
(मतिराम)

इस छंद में भी मान (रूठना, प्रतिष्ठा) के दो अर्थों से सम अलंकार श्लेष द्वारा पोषित है।

तृतीय सम में चमत्कार—सम के इस भेद में सम का या तो आभास-मात्र होता है (वास्तव में कार्य-सिद्धि नहीं), या किसी अन्य अलकार का चमत्कार विचित्रता लाने को रक्खा जाता है।

दोष सो मलीन, गुन-हीन कविताई है, तौ
कीन्हें अरबी न परबीन कोई सुनि है,
बिनुही सिखाए सब सीखिहै सुमति, जो पै
सरस अनूप रस रूप यामैं धुनि है।
दूषन का करि को कबित्त बिन भूषन को
जो करै प्रसिद्ध, ऐसो कौन सुर-मुनि है?
राम अरचत, 'सेनापति' चरचत, दोऊ
कबित रचत याते पद चुनि-चुनि है।
(सेनापति)

तृतीय सम तथा प्रहर्षण में भेद-प्रदर्शन—प्रहर्षण (नं० ६४) मे विना यत्न के फल मिलता है, और तृतीय सम मे यत्न करने से, यही भेद है।

विशेष—तृतीय सम केवल वाच्यार्थ मे होता है, और अर्थ लगाने में प्रायः लुप्त हो जाता है।

अंतिम उदाहरण में अच्छे छंद के पसंद होने से भी कथन में चमत्कार-शून्यता से अलंकार नहीं आया है।

विचित्र (३९)

विचित्र—में किसी कार्य के सिद्ध करने को विपरीत यत्न-मात्र वर्णित होता है (किंतु कार्य सिद्ध होना नहीं कहा जाता)। यथा—

बेदर कल्यान दै परेंडा आदि कोट साहि-
एदिल गँवायहै नवाय निज सीस को ;
'भूषन' भनत भाग नगरी कुतुब साहि
दै करि गँवायो रामगिरि - से गिरीस को।
भौंसिला भुवाल साहितनै गढपाल दिन
दोय ना लगाए गढ देत पंच तीस को ;
सरजा सिवाजी जयसाह मिरजा को लीबे
सौगुनी बड़ाई गढ़ दीने हैं दिलीस को।
(भूषण)

जनता से बड़ाई पाने के लिये किसी शत्रु को किसी वीर द्वारा गढ सौंप देना विपरीत यत्न है। इसी प्रकार और छंदो में भी समझ लीजिए।

छोरिकै जगत - हित जगत-पिता सों नित
जोरिकै सुचित बित प्रेमहि बिचारो तुम ,
बासनानि पूरन करन के उपाय तजि
बासना हनन की सुरीतिन प्रचारो तुम।
लालच सों धावत, जकंदत फिरत जग,
जो कछु लहन, ताहि नीच निरधारो तुम ;
जौन सोचि हाल जग बिकल बिलाप करै,
सोई लखि आनँद को हेत गुनि धारो तुम।
(मिश्रबंधु)

हरि ऊँचे हेत बामन भे बलि के सदन मैं।

(दूलह)

जीवन हित प्रानहिं तजैं, नवहि उँचाई हेत ;
सुख कारन दुख संग्रहैं बहुधा पुरुष सुचेत।

(दास)

विषम और विचित्र की पृथकृता—उद्योतकार ने विचित्र को विषम (नं० ३७) मे माना है। उसमें हित का यत्न करते हुए अहित विपरीत यत्न से हो जाता है।

रसगंगाधर और विमर्षिणी ने कहा है कि विषम मे अहित स्वतः (विना प्रयत्न के) होता है, किंतु विचित्र में विरुद्ध क्रिया द्वारा यत्न-मात्र किया जाता है, तथा सिद्धि का वर्णन नहीं होता।

अधिक (४०)

प्रथम अधिक—मे आधार से भी आधेय का आधिक्य प्रकट होता है।

कटोरा आधार है, और उसका पानी आधेय।

जिनके अतुल बिलोकियत पानिप पारावार,
उमडि चलत तिन दगन भरि तो मुख रूप अपार।

(मतिराम)

बाढो चरन समानो नाहि चौदहो भुवन मै।

(दूलह)

सहज सलील सील, जलद-से नील डील,
पब्बय-से पील देत नाहि अकुलात है,
'भूषन' भनत महाराज सिवराज देत
कंचन को ढेर, जो सुमेर-सो लखात है।

सरजा सवाई कासों करि कविताई तव
हाथ की बड़ाई को बखान करि जात है ;
जाको-जस टंक सात दीप नव खंड महि-
मंडल की कहा बरम्हंड ना समात है।

(भूषण)

यहाँ आधार है ब्रह्मांड, और आधेय यश हुआ। यश से ब्रह्मांड छोटा कहा गया है।

पब्बय = पर्वत। जस-टंक = यश कोश।

द्वितीय अधिक—मे आधेय से (चमत्कार-पूर्वक) आधार का आधिक्य कहा जाता है। यथा —

तीनौ लोक तन मैं, समान्यो ना गगन मै,
बसै सो संत मन मैं, कितेक कहौं मन मै।

(दूलह)

तुम पूछति कहि मुद्रिके, मौन होति यहि नाम,
कंकन की पदवी दई तुम बिन या कहँ राम।

(केशवदास)

सखि केतो तव रूप को पारावार अपार ;
जाहि चपल अति ललन मन पैरि न पावत पार।

(वैरीशाल)

यहाँ न कोई आधार है न आधेय, परतु किसी वस्तु की अधिकता सुंदर भाषित होने के कारण यदि अधिक अलंकार का यहाँ पर होना स्वीकार किया जावे, तो अनुचित नहीं। अत. अधिक के लक्षण में (यदि आप इसको उसका उदाहरण मानें, तो) इस प्रकार का परिवर्तन कर लीजिए—जहाँ किसी वस्तु की अधिकता का चमत्कार-पूर्वक वर्णन हो, वहाँ अधिक अलंकार समझना।

अधिक और विषम में पृथकता—आश्रय से आश्रयी की अधिकता यहाँ वास्तविक न होकर कवि-कल्पित मात्र होती है। विषम में आश्रय आश्रयी का भेद नहीं होता, यह भेद है।

अल्प (४१)

अल्प—में अति छोटे आधार से भी आधेय छोटा करके कहा जाता है। यथा—

राजै बिनु जोर छला छिगुनी के छोर,
ता छला मैं मापि लीजै भई छाम कटि बाम की।
(दूलह)

मन जद्यपि अनुरूप है, तऊ न छूटति संक;
टूटि परै मति भार सों निपट पातरी लंक।
(मतिराम)

अधिक और अल्प का अन्य में अंतर्भाव—अल्प और प्रथम अधिक एकसाँ हैं, एक मे छोटाई का वर्णन है और दूसरे में बड़ाई का। उदाहरण में मन कमर में लगा रहने से आधेय है। अधिक और अल्प वास्तव में पृथक् अलंकार न होकर संबंधातिशयोक्ति (नं० १३) के अंतर्गत आ जाते हैं। फिर भी बहुतेरे आचार्यों ने इन्हें पृथक् अलकार माना है।

अन्योन्य (४२)

अन्योन्य—में अनेकों को परस्पर एक ही क्रिया के करने की कारणता मिलती है। यथा—

सहज सिँगार साजि, साथ लै सहेलिन को
सुंदरि मिलन चली आनँद के कंद को;
कवि 'मतिराम' मन करत मनोरथनि
देख्यो वहि ठौर पै न प्यारे नँदनंद को।

नेह ते लगी है देह दाहन, दहन गेह
बाग मै बिलोकि द्रुम-बेलिन के बृंद को ,
चद को हँसत तब आयो मुख-चद, अब
चंद लाग्यो हँसन तिया के मुख चद को ।
(मतिराम)

पहले मुख अधिक प्रसन्न तथा सुंदर होने के कारण शशि को हँसता-सा दिखाई देता था, परंतु सकेत-स्थान मे नायक के न मिलने से नैराश्य के कारण दु.ख होने से मुख में फीकापन आ गया, जिसको चद्र हास करने लगा, कहकर व्यंजित किया गया है । चद्र और मुख द्वारा एक दूसरे के साथ हँसने-रूप एक ही क्रिया संपादित होने से अन्योन्य अलंकार हुआ ।

तो कर सो छिति छाजत दान है, दान हू सों अति तो कर छाजै ,
तैं ही गुनी की बड़ाई सजै अरु तेरी बडाई गुनी जन साजै ।
'भूषन' तोहि सो राज बिराजत, राज सों तू सिवराज बिराजै ,
तो बल सों गढ़-कोट गजैं अरु तू गढ कोटन के बल गाजै ।
(भूषण)

हुते पराजित पूरबहिं कोकिल, कज, मयंक ,
ते अब पछिलो बैर धरि जारत खरे निसंक ।
(वैरीशाल)

मिलन समय में कोकिल, कंज और मयंक हार गए थे, अब वियोगावस्था में बात बदल गई ।

निज निवास को छोडिकै लागी पलकन पीक ,
वाही अकस लगी लला अधरा अंजन-लीक ।
(वैरीशाल)

हरि, मोसो वाकी दसा कछु कहि आवत नाहिं,
बिरह-दाव तन मैं बसी, तन बिरहानल माहिं।
(वैरीशाल)

दाव = दावाग्नि।

कब की हौं देखति चरित निज आँखिन सौं—
राधिका रसीली स्याम रसिक रसाल के,
'मतिराम' बरनै दुहूँनि के मुदित अति
मन भए मीन-से अमृतमय लाल के।
इकटक देखै लिऍ ब्रत-से निमेखनि के,
नेम किए मानौं पूरे प्रेम प्रतिपाल के;
लाल मुख इंदु, नैन बाल के चकोर भए,
मुख अरबिंद, चंचरीक नैन लाल के।
(मतिराम)

विशेष (४३)

प्रथम विशेष—मे विना प्रसिद्ध आधार के आधेय का कथन होता है—

सिवाजी खुमान सलहेरि मै दिलीस-दल
कियो कतलाम करबाल गहि कर मैं;
सुभट सराहे चंदावत कछवाहे
मुगलौ पठान ढाहे फरकत परे फर मैं।
'भूषन' भनत भौंसिला के भट उद्‌भट
जीति घर आए, धाक फैली घर-घर मैं;
मारु के करैया अरि अमरपुरै गे जऊ,
तऊ मारु-मारु धुनि होति है समर मैं।
(भूषण)

यद्यपि यहाँ चौथे चरण में भाविक (नं० ६४) का भी रूप आ गया है, तथापि मुख्यता आधार-रहित आधेय का वर्णन करने में होने से प्रथम विशेष की है। शोर करने के आधार युद्धकर्ता हैं, जिनके वहाँ न रहने पर भी विना आधार के आधेय का कथन है।

प्रथम विभावना (न० ३३) भी कही जा सकती है, क्योंकि शोर-कर्ता हेतु के अभाव में कार्य (शोर) का कथन है, किंतु कवि का मुख्य तात्पर्य जिन वीरों में शोर स्थित था, उन आधारो के न रहने पर भी उस (शोर) की स्थिति मे है।

चलौ लाल, वाकी दसा लखो, कही नहिं जाय ;
हियरे है सुधि रावरी, हियरो गयो हेराय।

(मतिराम)

तन तौ तिया को बर भाँवरै भरत, मन
साँवरे बदन पर भौंवरै भरत है,

(मतिराम)

यहाँ विना आधार (तन) के मन नायक पर भाँवरे भरता है।

गई छबीली झाँकि इत, घन-छबि सी छन छाइ ;
छाजि रही अबहूँ वहै छजनि माहि छबि-छाइ।

(कुमारमणि)

नायिका के चले जाने पर भी छवि छज्जों पर छा रही है, यहाँ नायिका आधार है, और उसकी छवि आधेय। आधार के हट जाने पर भी आधेय के वर्णन से प्रथम विशेष है।

द्वितीय विशेष—मे एक ही काल मे एक ही रूप से अनेक स्थानो मे एक ही की स्थिति का कथन होता है। यथा—

घर मै, बगर मैं, डगर मैं, नगर मैं, री,
जहाँ देखौं, तहाँ पेखौं प्यारो नँदनंद मै ;

(दूलह)

नायक हर स्थान में वास्तव में न था, किंतु प्रेमाधिक्य से उसे देख पड़ता था।

सूचना—द्वितीय विशेष का पर्याय (नं० ५०) से भेद उसी अलंकार में लिखा जायगा। 'एक ही काल' पर ध्यान रखना चाहिए।

कुंजन मै, कूलन-कछारन मै, केलिन मै,
क्यारिन मै कलित कलीन किलकंत है,
कहै 'पदुमाकर' पराग हू मैं, पौन हू मैं,
पातन मै पिकन पलासन पगंत है।
द्वार मैं, दिसान मै, दुनी मै, देस-देसन मै
देखौ दीप दीपन मै दीपति दिगंत है,
बीथिन मैं, ब्रज मैं, नबेलिन मैं, बेलिन मैं,
बनन मैं, बागन मै बगरो बसंत है।
(पद्माकर)

बिज्ञपूर बिदनूर सूर सर धनुष न सधहिं,
मगल बिनु मल्लारि नारि धम्मिल नहिं बधहिं।
गिरत गब्भ कोटै गरब्भ चिंजी-चिंजा-डर;
चालकुंड दलकुंड गोलकुंडा संकावर।
'भूषन' प्रताप सिवराज तव इमि दच्छिन दिसि संचरइ;
मधुरा-धरेस धकधकत सो द्रबिड़ निबिड डर दबि डरइ।
(भूषण)

"दच्छिन दिसि संचरइ" 'दक्षिण दिशा के हर स्थान तथा मथुरादि में शिवाजी के प्रताप की स्थिति है' से अलंकार सिद्ध हुआ।

धम्मिल=फूल, मोती आदि से गुथे हुए बाल। कोट गरब्भ=कोट-गर्भ में; किले के अंदर। चिंजी=लड़की।

नैननि हियरै सदनहूँ, बनहूँ वहै लखाइ,
जित देखौ, तित साँवरो रूप रह्यो सखि छाइ।
(ऋषिनाथ)

तृतीय विशेष—मे किसी शक्य कार्य के करने मे उससे अशक्य कार्य भी हो जाता है। यथा—

मिटी दुसह चिंता सकल, सफल भयो सब काम,
तोहि लखे देखो भटू चितामनि अभिराम।
(बैरीशाल)

शक्य=हो सकने योग्य। अशक्य=न हो सकने योग्य।

पाय चुके फल चारिहू करत गंग-जल-पान।
(पद्माकर)

बन कवने मन हरत हौ, प्रगट करत चित चोज,
लाल, तिहारो रूप लखि निरख्यौ सही मनोज।
(ऋषिनाथ)

तुमहिं लखत सब बखतमय कामद रघुकुल-राज!
काम काम-तरुवर लख्यो, सुर-गुरु, सुर-पुर-राज।
(रसिक रसाल)

साँची कहियतु आजु अलि, थोरे जतन रसाल,
सब कछु पायो औचका, भुज भरि भेटे लाल।
(सोमनाथ)

व्याघात (४४)

प्रथम व्याघात—में जिस साधन से किसी ने कुछ किया हो, उसी साधन से दूसरा उसे अन्यथा कर देता है। यथा—

तुम कहती निसिनाथ के लखत नसत संताप,
याही ते दूनो बढत लखि बिरहानल पाप।
(वैरीशाल)

सखी ने चद्र से संताप-हानि के विचार का पोषण किया, उधर नायिका ने उसी से सताप-वृद्धि का कथन कर दिया।

जु पै सखी ब्रजगाँव मै घर-घर चलत चबाव,
तौ हरि-मुख लखि देत किन नैन-चकोरन चाव।
(मतिराम)

नायिका निंदा का कारण देकर जाने को नहीं करती है। उधर दूती उसी निंदा के कारण जाने का समर्थन करती है, इस विचार से कि जब निंदा होती ही है, तब नैनो को दर्शन का सुख क्यो न दिया जाय ?

अब का समुझावती, को समुझै, बदनामी के बीज तौ ब्वै चुकी री,
तब तो इतना न बिचार कियो, अब हाँसी भए कहौ क्वै चुकी री।
कबि 'ठाकुर' या रस - रीति - रँगे, परतीति पतिब्रत ख्वै चुकी री;
अरी, नेकी-बदी जो बदी हुती भाल मैं, होनी हुती, सु तो ह्वै चुकी री।
(ठाकुर)

तुम चाहौ, सो कोऊ कहौ हमको, नँदद्वारे सो प्रीति ठई सो ठई;
तुमही कुलबोनी प्रबीनी सबे, हमही कुल छाँड़ि गई सो गई।
'रसखानि' यो प्रीति की रीति नई, जु कलंक की सौंहैं लई सो लई;
जब गाँव के बासी हँसै ही हँसै, हम स्याम की दासी भई सो भई।
(रसखानि)

इन नैनन मे वह साँवरी मूरति देखत आनि अरी सो अरी;
अब तौ है निबाहिबो याको भलो 'हरिचदजू' प्रीति करी सो करी।
उन खंजन के मदगजन सों अँखियाँ यै हमारी लरीं सो लरीं,
जब लोग चवाव करैं ही करै, हम प्रेम के फंद परीं सो परीं।
(भारतेंदु हरिश्चंद्र)

अंतिम तीनो छदो में भी यही भाव आ जाता है। सखी के समझाने पर नायिका हँसी के कारण ही प्रीति नही छोडनी चाहती।

तृतीय विषम, विशेषोक्ति तथा व्याघात मे भेद—मतिराम-वाले दोहे मे नायिका ने चवाव के कारण न जाने का प्रस्ताव किया था, किंतु वही कारण जाने के समर्थन मे कहा गया। अत तृतीय विषम (नं० ३७) क्यों न मानें ?

इसका उत्तर यह है कि नायिका ने जो विचार प्रकट किया था, उसका तो समर्थन हो ही गया, अतएव विषम न आया। यदि विशेषोक्ति (न० ३४) मानने को कहा जाय, सो भी नही है, क्योंकि समर्थन मौजूद ही है, और विशेषोक्ति मे हेतु के होते कार्य नही होता।

द्वितीय व्याघात—मे स्वभावत जो जैसा करनेवाला कहा गया हो, उससे उलटा कार्य होता है। यथा—

कसत मैं बार-बार वैसोई बुलद होत,
वैसोई सरस रूप समर भरत है ;
'भूषन' भनत महाराज सिवराजमनि
सघन सदाई जस फूलन धरत हे।
बरछी, कृपान, गोली, तीर के-ते मान
जोरावर गोलाबान तिनहू को निदरत हे ,
तेरो करबाल भयो जगत को ढाल, अब
सोई हाल म्लेच्छन के काल को करत है।
(भूषण)

जा लखि लोचन पावहि नित प्रति जोति नबीन,
ता मुख बिहँसनि सों भटू चदहि करत मलीन।
(वैरीशाल)

सुनतहि बचन-पियूष जो पिय-हिय-ताप बुझाय,
सोई सौतिन के हिये देत लाय-सी लाय।

(वैरीशाल)

द्वितीय विषम से इसकी पृथक्ता—विषम मे विरूपता है, परंतु यहाँ प्रतिकूलता, यही भेद है।

कारणमाला (४५)

कारणमाला—मे प्रत्येक पूर्व-कथित वस्तु पीछेवाली वस्तुओं की (एक शृंखला बनाते हुए) क्रम से हेतु होती जाती है। यह क्रम उलटा होने पर भी यही अलकार होता है। यथा—

संकर की किरपा सरजा पर जोर बढी कवि 'भूषण' गाई ;
ता किरपा सो सुबुद्धि बढी भुव भौसिला साहितनै की सवाई।
राज सुबुद्धि सों दान बढ्यो, अरु दान सों पुन्य-समूह सदाई ;
पुन्य सों बाढ्यो सिवाजी खुमान, खुमान सो बाढी जहान भलाई।

(भूषण)

सुजस दान अरु दान धन, धन उपजै किरवान ,
सो जग मै जाहिर करी सरजा सिवा खुमान।

(भूषण)

यहाँ पहले उदाहरण में कृपा से बुद्धि, उससे दान, उससे पुण्य, उससे शिवाजी की वृद्धि और उससे भलाई बढ़ी। भलाई का कारण है वृद्धि, वृद्धि का पुण्य आदि होता हुआ कृपा तक जाता है। प्रत्येक पीछे-वाली वस्तु का कारण क्रम से प्रत्येक पहलेवाली है, और एक शृंखला-सी बनती चली गई है।

दूसरे उदाहरण में क्रम उलटा हुआ है, अर्थात् प्रत्येक पीछेवाला पहलेवाले का कारण होता गया है। यश का कारण दान है, दान का धन और धन की तलवार।

नैनन सों नेह होत, नेह सों मिलाप होत,
रावरो मिलाप सब सुजस समाजै री।
(दूलह)

यह उदाहरण पहले ढग का है।

बिद्या के बिन बिनय नहिं, ता बिन नर न सुपात्र,
बिन सुपात्रता धन नही, ता बिन धर्म न श्रात्र।
(रसाल)

यहाँ अपोह से है।

एकावली (४६)

एकावली—मे उत्तर-उत्तरवाली वस्तु प्रत्येक पूर्ववाली वस्तु के विषय में विशेषण भाव से कथित होती है। यह क्रम उलट जाने पर भी यही अलंकार रहता है। यथा—

कूरम पै कोल, कोल हू पै सेस-कुंडली है,
कुंडली पै फैली फैल सुफन हजार की;
कहै 'पदुमाकर' त्यों फन पै फबी है भूमि,
भूमि पै फबी है थिति रजत-पहार की।
रजत - पहार पर संभु सुरनायक है,
संभु पर फैल जटाजूट है अपार की;
संभु-जटाजूटन पै चद की छुटी है छुटा,
चद की छुटान पै छुटा है गंगधार की।
(पद्माकर)

सो न सभा, जहँ बृद्ध न राजत, बृद्ध न ते, जु पढ़े कछु नाहीं;
ते न पढ़े, जिन साधुन साधित, दीह दया न दिखै जिन माहीं।

सो न दया, जु न धर्म धरै, धर धर्म न सो, जहँ दान बृथाहीं ;
दान न सो, जहँ साँच न 'केसव', साँच न सो, जु बसै छल माहीं।
(केशव)

यहाँ 'अपोह' (निषेध) से एकावली आई है। नकार की मुख्यता है।

मालादीपक (४७)

मालादीपक—सादृश्य भाव रहित दीपक और एकावली के मिलने से होता है। यथा—

कनक-बेलि मैं कोकनद, तामैं स्याम सरोज,
तिनमैं मृदु मुसुकानि है, तामै थित सु मनोज।
(मतिराम)

यहाँ स्थित धर्म का अन्वय कई जगह होने से दीपक (नं० १९) आता है, और एकावली (नं० ४६) है ही, क्योंकि स्वर्ण-बेलि (नायिका) में लाल कमल (मुख) है, जिसमें नील कमल (नेत्र) हैं, जो मुस्कराते (प्रफुल्लित) हैं। उस मुस्कानि में कामदेव रहता है। अतः मालादीपक हुआ।

नाक मैं नथूनी, नथुनी मैं लटकन, लट-
कन माहिं मोती, मोती अधर पै राजै री।
(दूलह)

यहाँ विराजने का अन्वय कई जगह होता है, और एकावली है ही।

दीपक और एकावली के संकर से मालादीपक में भिन्नता—वर्ण्यावर्ण्य भाव न होने से सादृश्य पर लक्ष्य नहीं होता है, जिससे दीपक नहीं है।

एकावली से यह पार्थक्य है कि वही धर्म कई स्थानों पर उसमे नहीं लगता। अत. मालादीपक को दीपक और एकावली का संकर नहीं कह सकते, पृथक् ही अलङ्कारता है।

सार (४८)

सार—वह है, जहा पूर्व-पूर्ववाली वस्तु से उत्तर उत्तरवाली वस्तु का गुण बढता जाय। गुण मे सुगुण और दुर्गुण, दोनो का ग्रहण हो जाता है। यथा—

सब ते मधुर ऊख, ऊख ते पियूख औ'
पियूखहू ते मधुर अधर प्रानप्यारी को।
(दूलह)

आदि बडी रचना है बिरचि की, जामै रह्यो रचि जीव जडो है,
ता रचना महँ जीव बडो अति, काहे ते, ता उर ज्ञान गड़ो है।
जीवन मै नर लोग बडे, अति 'भूषन' भाषत पैज अड़ो है,
है नर लोग मै राजा बडो, सब राजन मै सिवराज बडो है।
(भूषण)

सीतल चदन लोक मै, ताते सीतल चद,
ताहू ते सीतल महा सतसगति सुखकद।
(ऋषिनाथ)

यथासंख्य (४९)

यथासंख्य (यथाक्रम)—मे जिस क्रम से कुछ प्रथम कहा हो, उसी क्रम से तत्सबंधी अन्य वस्तुओं का कथन होता है। यथा—

अमिय, हलाहल, मद-भरे, स्वेत, स्याम, रतनार—
जियत, मरत, झुकि-झुकि परत, जेहि चितवत यक बार।
(रसलीन)

नेत्रों का वर्णन है—

अमिय	हलाहल	मद-भरे
स्वेत	स्याम	रतनार
जियत	मरत	झुकि-झुकि परत

जेहि (किसी की ओर जिन नेत्रों के) चितवत (देखने से) एक बार (भी)

ये (नेत्र) जिन्हें एक बार भी देख लेते हैं, उनकी उक्त दशाएँ हो जाती हैं।

महाबीर सत्रुसाल नंद राव भावसिंह,
तेरी धाक अरिपुर जात भय भोय से,
कहै 'मतिराम' तेरे तेज-पुंज लिए गुन
मारुत औ' मारतंड-मंडल बिलोय से।
उडत नवत टूटि फूटि मिटि फाटि जात,
बिकल सुखात बैरी दुखनि समोय से;
तूल-से, तिनूका-से, तरोवर-से, तोयद-से,
तारा-से, तिमिर-से, तमीपति से, तोय-से।
(मतिराम)

तूल-से उडत, तिनूका-से नवत, तरोवर-से टूटि जात, तोयद (बादल)-से फूटि जात, तारा-से मिटि जात, तिमिर-से फाटि जात, तमीपति (चद्रमा)-से बिकल (कला-हीन) होत, तोय (पानी)-से सुखात।

पर्याय (५०)

प्रथम पर्याय—में एक वस्तु का समय के फेर से अनेक स्थानों में कहा जाना होता है। यथा—

तजि इनको हिय मै बसी पिय-मूरति बिहरै न,
निपट समीपी क्यों रहैं, याते तरफत नैन।
(वैरीशाल)

पहले पिय की मूर्ति नेत्रो के सामने रहती थी, परंतु अब (समय के फेर से) वही मूर्ति हृदय में रहने लगी।

प्रयोजन यह है कि पहले संयोग था, अत. पिय नेत्रों के सामने ही निवास करते थे, परंतु अब वियोगावस्था में उनका निवास हृदय-मात्र में रह गया। इसी से नेत्र तड़फड़ाते हैं।

सखी, तिहारे दृगन की सुधा-मधुर मुसुकानि—
बसी रहति निसि-द्यौसहू अब उनकी अँखियानि।

(मतिराम)

पहले नायिका की आँखो में मधुर मुस्कान थी, अब (समय के फेर से) वह नायक की आँखो में बसती है। प्रयोजन नायिका तथा नायक दोनो की आशक्ति का है, क्योंकि नायिका के नेत्रो मे अब मुस्कानि नहीं, और वही नायक के नेत्रों में अब है।

जीति रही अवरंग मैं सबै छत्रपति छंडि,
तजि ताहू को अब रही सिव सरजा कर मंडि।

(भूषण)

कबहूँ प्रगटि जुद्ध मैं हाँकै,
मुगलनि मारि पुहुमि - तल ढाँकै।
बानन बरषि गयंदन फौरै,
तुरकन तमकि तेग तर तोरै।
कबहूँ जुरै फौज सों आछे;
लेइ लगाइ चालु दै पाछे।
बाँके ठौर - ठौर रन मंडे;
हाहा करे दंड लै छंडे।
कबहूँ उमड़ि अचानक आवै,
घन-से घुमड़ि लोह बरसावै।

कबहूँ हाँकि हरौलन कूटै;
कबहूँ चापि चँदालनि लूटै।
कबहूँ देस दौरिकै लावै,
रसदि कहूँ की कढन न पावै।
चौकी कहैं कहाँ ह्वै जेहो,
जित देखौ, तित चंपति है हो।
(लाल कवि)

'जित . है हो' कह देने से उसी समय मे अनेक स्थानो पर श्री-चंपति की स्थिति हो जाने से पर्याय नहीं रह गया, विशेष हो गया। परंतु 'कबहूँ' शब्द से ऊपरवाली पंक्तियो में समय का फेर भासित होता है। वस्तुतः कहूँ शब्द से नीचेवाली पंक्तियों का यह अर्थ लगाना चाहिए कि इतनी शीघ्रता से चंपतराय सब ओर धावा करते हैं कि मनुष्य ज्ञान-विहीन होकर यह नहीं सोच सकता कि किधर से निकल जावें। अतः सब स्थानों पर समय के फेर से उनका वर्णन है। अतः पर्याय ही है।

द्वितीय पर्याय—मे समय के फेर से एक वस्तु में अनेक का बसना होता है। यथा—

अगर के धूप धूम उठत जहाँई, तहाँ
उठत बबूरे अब अति ही अमाप हैं,
जहाँई कलावंत अलापैं मधुर स्वर,
तहाँई भूत प्रेत अब करत बिलाप है।
'भूषन' सिवाजी सरजा के बैर बैरिन के
डेरन मै परे मानो काहू के सराप हैं;
बाजत है जिन महलन में मृदंग तहाँ
गाजत मतग, सिंह, बाघ दीह दाप है।
(भूषण)

यहाँ समय के फेर से अनेक का निवास है।

बढत राग जेहि अधर लखि नागबेलि को राग,
तहँ अब अंजन-रेख लखि होत हिये मे दाग।
(बैरीशाल)

पहले अधर मे पान की लालिमा थी, अब वहा अंजन की रेखा है, अतः एक वस्तु मे क्रम से अनेक का वर्णन है।

अर्थ यह है कि जिस अधर में पान की रक्तिमा अवलोकन कर मेरा अनुराग बढता था, उस अधर में अंजन-रेखा देखकर मेरा हृदय म्लान होता है।

मृदु बोलनि कुंडल डोलनि कानन कानन कुंजनि ते निकस्यो;
बनमाल बनी 'मतिराम हिये पियरो पट त्यों कटि मैं बिलस्यो।
जब ते सिर मोर-पखानि धरे चित चोरि चितै इत ओर हँस्यो;
तब ते दुरि भाजिकै लाज गई, अब लालच नैननि आनि बस्यो।
(मतिराम)

यहाँ पहले नेत्रो में लज्जा थी, अब समय के फेर से लालच बसा।

कोटि मारतड चंड मडित मुकुट-क्रीट
कुंडल कलित अलकावली भुजै गई,
'पजन' प्रतच्छ मुकताहल त्रिभग रग
रंजित जरी के पीत पटल नजै गई।
झलक झलामली सी झाँकी सो झपा के चित्त
चित्त ते निकरि मेरे दगन हितै गई;
दगन ते दौरि मन मन ते तमाम तन
तन ते ततच्छ रोम - रोम छबि छै गई।
(पजनेश)

पर्याय, विशेष और परिवृत्ति का भेद - प्रदर्शन—पर्याय, विशेष (नं० ४३) और प्ररिवृत्ति (न० ५१) अलंकारों का भेद साहित्य-दर्पण में यह लिखा है। दूसरे पर्याय मे एक ही वस्तु

समय के फेर से अनेक स्थानों मे रहती है, और विशेष में एक ही समय मे। आपस मे विनिमय के न होने से परिवृत्ति से भेद है।

परिवृत्ति (५१)

परिवृत्ति—मे अनेक व्यक्तियों मे आदान-प्रदान का चमत्कार-पूर्ण कथन होता है।

इसके उदाहरण चार प्रकार से आते हैं, अर्थात् उत्तमेन न्यूनस्य विनिमय, न्यूनेनोत्तमस्य विनिमयः, उत्तमेनोत्तमस्य विनिमय. तथा न्यूनेन न्यूनस्य विनिमय।

इनमें से मम्मट तथा पंडितराज केवल पहले दो भेदो को स्वीकार करते हैं, तथा साहित्य-दर्पण तीन को।

परिवृत्ति मे मतभेद—सर्वस्वकार और वामन का मत है कि इसके लिये दो व्यक्तियो का होना भी आवश्यक नहीं, क्योंकि एक ही व्यक्ति द्वारा कुछ देकर कोई वस्तु लेने से अलंकार सध जाता है। पर्याय (नं० ५०) मे समय के फेर से एक मे अनेक वस्तुएँ रहती हैं, सो सर्वस्वकार को मानने से परिवृत्ति पर्याय से मिल जाता है, क्योकि इन दोनो में भेद बहुत कम रह जाता है।

साहित्य-दर्पणकार के तीन भेदो में उपर्युक्त चारो भेद आ जाते हैं (परिवृत्तिर्विनिमय: समन्यूनाधिकैर्भवेत्)। वास्तव में ये तीनो भेद भी उदाहरणांतर-मात्र-समझे जा सकते हैं। इसमें एकाधिक व्यक्तियों में कोई आदान-प्रदान आवश्यक है। यथा—

दच्छिन धरन धीर धरनखुमान गढ
लेत गढ धरन सों धरम दुवारु दै;
साहि नरनाह को सपूत महाबाहु लेत
मुलुक महान छीनि साहिन को मारु दै।

संगर मै सरजा सिवाजी अरि-सेनन को
सारु हरि लेत हिंदुवान सिर सारु दै ;
'भूषन' भुसिल जय जस को पहारु लेत
हरजू को हारु हरगन को अहारु दै ।
(भूषण)

यहाँ पहला पद उस कथा का हवाला देता है, जिसमें शिवाजी ने तीन झगड़ालू भाइयों का बटवारा करने में धर्मद्वार मे उन्हें जागीरें लगाकर गढ़ लिया था ।

बनक बन्यो, बन ते कढ़यो, रह्यो सुरस मै भीनि ;
नेकु दरस दै साँवरे लीन्हीं सुधि-बुधि छीनि ।
(ऋषिनाथ)

जोर दल जोरि साहिजादो साहिजहाँ, जग
जुरि, मुरि गयो रही राव मै सरम-सी ;
कहै 'मतिराम' देव - मंदिर बचाए जाके,
बल बसुधा मैं बेद स्रुति बिधियौं बसी ।
जैसो रजपूत भयो भोज को सपूत हाडा,
तैसो और दूसरो भयो न जग मैं जसी ;
गाइन को बकसी कसाइन की आयु और
गाइन की आयु सो कसाइन को बकसी ।
(मतिराम)

आजु करी नँदनंद नै हित की बात नवीन ;
चारु दगन की सैन दै सरबसु मन हरि लीन ।
(सोमनाथ)

इसमें सुंदर सैन और मन का वाच्य में आदान-प्रदान है ।

मो मन, मेरी बुद्धि लै करि हरि को अनुकूल ;
लै त्रिलोक की साहिबी दै धतूर के फूल।

(मतिराम)

यहाँ कवि स्वयं अपने को शिक्षा दे रहा है। कुछ लेना-देना न होकर सोचना-भर है। तो भी परिवृत्ति है ही।

रावन को बीर 'सेनापति' रघुबीरजू की
आयो है सरन छाँडि ताही मतिअंध को ;
मिलत ही ताको राम कोप कै करी है ओप,
नामन को दुज्जन दलन दीनबंधु को।
देखौ दानबीरता निदान एक दान ही मैं
कीन्हें दोय दान सु बखाने सत्यसंध को ;
लंका दसकंधर की दीन्ही है बिभीषन को,
संकाऊ बिभीषन की दीन्ही दसकंध को।

(सेनापति)

सत्य-सध=सत्य प्रतिज्ञावाले।

बीर=भाई। दूसरा पद=दुष्टों के मारनेवाले दीन-बधु राम के नामों की जो प्रभा थी, उसका प्रगटीकरण राम ने (रावण पर) क्रोध करके विभीषण के मिलते ही ऐसा किया।

काह 'बिसाल' भ्रमै-भटकै तव बुद्धि बिसुद्धि कहाँ को गई है ;
देखि ले भूप भगीरथ को, जिन सागर लौं जस-बेलि बई है।
दानि-सिरोमनि संकर की यह लोकन मैं मरजाद भई है ;
नेक-सो बारि चढ़ायो जहीं, तहीं पूरन गंग की धार दई है।

(विशाल)

परिसंख्या (५२)

परिसंख्या—मे किसी स्थान पर इस प्रकार स्थापन होता है कि वहॉ उस रूप मे न स्थापित होते हुए भी कही से वह हटाया गया हो। यथा —

मूलन ही को जहाँ अधोगति केसव गाइय,
होम हुतासन धूम नगर एकै मलिनाइय।
दुरगति दुरगन ही जु कुटिल गति सरितन ही मैं,
श्रीफल को अभिलाष प्रकट कवि कुल के जी मै।

(केशवदास)

अति मतवारे जहॉ दुरदे निहारियत,
तुरगन ही मैं चंचलाई परकोति है,
'भूषन' भनत जहॉ पर लगे बान ही मैं,
कोक पच्छिनहि माहिं बिछुरन रीति है।
गुनिगन चोर जहाँ एक चित्त ही क लोक
बँधे जहॉ एक सरजा की गुन प्रीति है,
कंप कदली मै, बारि-बुंद बदली मै सिव-
राज अदली के राज मैं यो राजनीति है।

(भूषण)

मतवालापन हाथियों में गुण-रूप से रक्खा जाकर मनुष्यो से दोष रूप में हटाया गया है। यही दशा अन्य उदाहरणो में भी है। कोक पक्षी का रात में बिछुड़ना स्वभाव-रूप से है। उससे अन्यो का दोष-रूपवाला वियोग हटाया गया है।

दंड यतिन कर भेद जहँ नरतक नृत्य समाज;
जीतै मनसिज सुनिय अस रामचंद्र के राज।

(कस्यचित्कवेः)

यहाँ श्लेष से परिसंख्या है। दंड=सजा, फकीरों का डंडा। भेद= भेद-नीति; रागादि का भेद।

> आज कुटिलता कौन मैं ? राजपुरुषगन माहिं;
> देख्यो बूझि बिचारि है ब्याल-बंस मैं नाहिं।
>
> (दास)

यहाँ प्रश्न-मूलक वर्णन है। कुटिलता बाँस तथा साँप में न होकर केवल राजन्य-वर्ग में कही गई है।

पर्यस्तापह्नति और परिसंख्या का भेद-प्रदर्शन—पर्यस्तापह्नुति (नं० ११) से यहाँ यह भेद है कि उसमें स्थापना पहले ही रूप में होती है, तथा यहाँ कहने को तो वही रूप होता है, किंतु वास्तविक प्रयोजन बदल जाता है। जैसे कदली में कंप स्वभावज है, परंतु मनुष्यों में दोष-रूप भयादि के कारण से।

विकल्प (५३)

विकल्प—में तुल्य बलवाले अनेक पक्षों का एक ही काल में अवलंब हो सकने का विरोध दिखलाया जाता है।

विरोध तथा विकल्प में भेद—विरोध (न० ३२) में वस्तुओं या गुणों का एक ही काल, एक ही स्थान में स्थित होने में विरोध होता है, परंतु यहाँ पक्षों का विरोध होता है, यह भेद है। यथा—

> देसन-देसन नारि नरेसन 'भूषन' यों सिख देहिं दया सों;
> मंगन ह्वैकरि दंत गहौ तिन, कंत तुम्हैं है अनंत महा सों।
> कोट गहौ कि गहौ बन-ओट कि फौज कि जोट सजौ प्रभुता सों,
> और करौ किन कोटिक राह, सलाह बिना बचिहौ न सिवा सों।
>
> (भूषण)

यहाँ केवल तीसरे पद में विकल्प है। (१) कोट के भीतर बैठकर युद्ध करना या (२) जंगल में भाग जाना, या (३) सेन संधान करके लड़ना, ये तीन पक्ष हैं। इनके एक ही समय में न हो सकने का विरोध दिखाया है।

दिसि-दिसि कूजत कैलिया, फूलो रुचिर रसाल ;
दूरि करैगो बिरह-दुख कै गोपाल, कै काल।

(कस्यचित्कवेः)

यहाँ जीवन-मरण के दो पक्षों में विरोध है, क्योंकि दोनो साथ ही नहीं हो सकते।

तो बिरहानल सों भई अति ही बाल बिहाल ;
दीजै चलि जीवन उतै कितौ तिलांजुलि लाल !

(वैरीशाल)

आए रघुपति सैन सजि सुनु दससीस निदान ;
चरन गहौ, कै बन गहौ, पत राखौ, कै प्रान।

(ऋषिनाथ)

पत=इज़्ज़त।

कि वह बसंत-बहार कै प्रफुलित नूत कतार,
कै निरखत हरषै हियो यह धुरवन की धार।

(सोमनाथ)

चित्त वसन्त-बहार या फूले हुए नवीन पुष्पो की क़तार या धुरवों को देखकर प्रसन्न होता है। यहाँ किसी वस्तु में विरोध न होने से विकल्प नहीं है।

चलन चहत बन जीवन-नाथा ;
कौन सुकृत सन होइहि साथा।
की तनु-प्रान कि केवल प्राना ;
बिधि-करतब कछु जात न जाना।

(गो० तुलसीदास)

मोल्हन बात न सो बदलै, अब जो प्रथमै मुख सों हम काढ़ी ;
मैं अपने बज्र बैर किया, किन मीचु रहै सिर ऊपर ठाढ़ी।
खीन सबै खल-मंडल को कै मलीन करौं मुख की रुचि बाढ़ी ;
कै सुलतान की सान रहै कै हमीर हठी की रहै हठ गाढ़ी।

(चंद्रशेखर वाजपेयी)

रुचि पायँ झमाय दई मेंहदी तेहिको रँगु होत मनो नगु है ;
अब ऐसे मे स्याम बोलावैं भटू, किमि जाइए पंकमयो मगु है।
अधराति अँधेरी न सूझै गली, भनि 'जोयसी' दूतिन को सँगु है ;
अब जाहुँ, तौ जात धुयो रँगु री रँगु राखौं, तौ जात सबै रँगु है।

(जोयसी)

गरहित बिबिध कुपाप जनताऊ करै,
एकन के लूटिबे को दूसरी है ततपर ;
देस चिर काल सों बनाए बहु दास गए,
देखिए उदाहरन मुसलीनी, हिटलर।
यदि सब ही के राजसेवक नरक जैहैं,
मचिहै करोरिन को उतै जमघट बर ;
उनही के साथ जम-जातनाएँ भोगिहैं, तौ
न तौ नाक जैहैं बैठि बिसद बिमान पर।

(मिश्रबंधु)

समुच्चय (५४)

समुच्चय—में अनेक एकत्र इकट्ठे होते हैं।

प्रथम समुच्चय—में एक ही भाववाली बहुत-सी क्रियाओं या गुणों का साथ कथन रहता है। यथा—

हरसतीं सबै, सोभा करसती सदन मै,
बरसती फूल, पैंडो परखती लाल को।
(दूलह)

हौ न सकौ इक बदन सों जदुपति तोहि सराहि,
रूकत-झुकत सूखत लखत सौतिन के मन जाहि।
(वैरीशाल)

बतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाय,
सौहँ करै, भौहँनि हँसै, देन कहे, नटि जाय।
(बिहारी)

माँगि पठायो सिवा कछु देस, उजीर अजाननि बोल गहे ना;
दौरि लियो सरजे परनालो यो 'भूषण' जो दिन दोय लगे ना;
धाक सों खाक बिजैपुर भो, मुख आयगो खान खवास के फेना;
मै भरकी, करकी, धरकी, दरकी दिल एदिलसाहि कि सेना।
(भूषण)

जब ते कुँवर कान रावरी कलानिधान
कान परी वाके कहूँ सुजस-कहानी-सी,
तब ही सो 'देव' दखी देवता-सी हँसति सी,
रीझति-सी, खीझति-सी, रूसति रिसानी सी।
छोही-सी, छली-सी छीनि लीनी-सी छकी-सी, छीन,
जकी-सी, टकी-सी, लागी थकी थहरानी-सी,
बीधी-सी, बँधी-सी, बिस-बूडी-सी, बिमोहित-सी
बैठी बाल बकति, बिलोकति बिकानी-सी।
(देव)

कुंजन के कोरे मन केलि-रस बोरे लाल,
तालन के खोरे बाल आवति है नित को,

अमिय निचोरै कल बोलति निहोरै नेक ,
सखिन के डोरे 'देव' डोलै जित-तित को ,
थोरे-थोरे जोबन बिथोरे देति रूप-रासि ,
गोरे मुख भोरे हँसि जोरे लेति हित को ;
तोरे लेति रति-दुति, मोरे लेति मति-गति,
छोरे लेति लोक-लाज, चोरे लेति चित को ।
(देव)

ऊपर सब क्रियाओं के उदाहरण हैं । अब गुणों का दिया जाता है—
सुंदरता, गुरुता, प्रभुता भनि 'भूषन' होत है आदर जामैं ;
सज्जनता औ' दयालुता, दीनता, कोमलता झलकै परजा मैं ।
दान कृपानहु को करिबो, करिबो अभै दीनन को बर जामैं ;
साहन सों रन-टेक-बिबेक, इते गुन एक सिवा सरजा मैं ।
(भूषण)

द्वितीय समुच्चय—में अनेक प्रधान कारण एक कार्य को सिद्ध करते हैं । यथा—

रूप, गुन, जोबन, जलूस प्यार पी को तव
जोमही को जुरी सब जोम की जमाति है ।
(दूलह)

यहाँ गर्व के लिये सब कारण मुख्य हैं, और यह नहीं कहा जा सकता कि इनमें से वास्तव में प्रधान कारण कौन है ?

मल्लिकान मंजुल मलिंद मतवारे मिले,
मंद - मंद मारुत मुहीम मनसा की है ;
कहै 'पदुमाकर' त्यों नादत नदीन नित,
नागरि नबेलिन की नजरि निसा की है ।
दौरत दरेरे देत दादुर सुदूदै दीह,
दामिनी दमंकनि दिसान मैं दसा की है ;

बद्दलनि बुंदनि बिलोके बगुलान बाग,
बंगलिन बेलिन बहार बरसा की है।
(पद्माकर)

दूदै = दुंद मचाते हैं।
निसा की = हुब्ब हुलासवाली।

समुच्चय और संदेहवान् का भेद-प्रदर्शन—यहाँ सभी कारणों से वर्षा की बहार है। कोई संदेह नहीं कि अमुक कारण से बहार है या अमुक से। जहाँ ऐसा संदेह हो, वहाँ समुच्चय न होकर संदेह-वान् (नं० १०) होगा। यथा—

मलयाचल मारुत, किधौं चंद, किधौं पिक-गान—
हरै हमारो प्रान सखि, याको कैरो निदान।
(मुरारिदान)

उपर्युक्त उदाहरण में सदेह है कि कार्य किम हेतु द्वारा संपादित हुआ, जिससे संदेहवान् अलकार हुआ न कि समुच्चय।

चंद, कंज, कोकिल चढ़े करि आगे अरि काम,
अब लौं अवधि अधार-गढ बची बिचारी बाम।
(वैरीशाल)

यहाँ काम की प्रधानता होने से समुच्चय न होकर समाधि अलकार (नं० ५६) हो आता है।

संदेहवान् (नं० १०) के नीचे लिखा हुआ सलावतखाँ का छंद इसके उदाहरण में आता है।

दारनि सितारनि के तारनि की तोरैं मजु,
तैसियै मृदगन की धुनि धुधकारतीं,
चमकैं कनक-नग, भूषन बनक बने,
तैसी घुँघुरून की झनक झनकारतीं।

'दास' गरबीली पंगु मंक बंक भ्रुव नैनि,
तैसियै चितौनि सहँसनि मोहि मारतीं;
बाँके मृग-नैन की अचूक गति लेती मृदु,
हीरा सों हिये को टूक टूक करि डारतीं।
(दास)

दारा= एक बजाने का यत्र। तारनि=तारों की। पंगु मंक=चलने में पंगु।

नैन, कान, कर, अधर मिलि बेचत मनहिं बचाय;
नेकु न लाजत अधम ये, इनते कहा बसाय।
(वैरीशाल)

बचाय=बचाइए।

समाधि और द्वितीय समुच्चय का पृथक्करण—द्वितीय समुच्चय से यह नहीं मालूम होता कि किस कारण ने कार्य किया, अर्थात् सभी प्रधान होते हैं। परंतु समाधि (न०५६) मे एक ही कारण कार्यकर्ता होता है, तथा दूसरा उसकी सहायता-मात्र कर देता है।

प्रथम समुच्चय तथा पर्याय मे भेद—प्रथम समुच्चय मे कई गुण साथ रहते तो हैं, परंतु समय के फेर से नहीं। उधर पर्याय में वे समय के फेर से रहते हैं।

दामिनी-दमक, सुर-चाप की चमक, स्याम
घटा की घमक अति घोर घन घोर ते;
कोकिला-कलापी कल कूजत हैं जित-तित,
सीतल है ही-तल समीर - झकझोर ते।
'सेनापति' आवन कह्यो है मनभावन,
लगो है तरसावन बिरह-जुर जोर ते,

आयो सखि, सावन बिरह सरसावन,
लगो है बरसावन सलिल चहुँ ओर ते।
(सेनापति)

कैलिया कूकन लागी 'बिसाल', पलास कि आँचन देह दहै लगी,
बौरन लागे रसाल सबै, कल कंजन को अलि-भीर चहै लगी।
प्रान को लेन लगे पपिहा, कत मान कि बात री मोसो कहै लगी,
आजु इकंत मिलै किन कंत सों बीर बसत बयारि बहै लगी।
(विशाल)

कूकै लगी कैलिया कसाइनैं कंदबन पै,
बौरै लगे अब भरे सुषमा अपार सो,
त्रिविध समीरन कि लूकैं तन फूकै लगी,
हूकै लगी बावरी बियोगिनी बिकार सों।
सूलै लगो किंसुक, अनार प्रतिकूलै लगो,
हूलै लगो मदन 'बिसाल' सर-झार सो;
छपद छबीलेन को झुड झुकि झूमै लगो,
अरबिद भू मै लगो मकरद भार सों।
(विशाल)

कारक दीपक (५५)

कारक दीपक—मे बहुत-सी क्रियाओं का एक ही कारक होता है।

कर्ता, कर्म, करण, संप्रदान, अपादान, सबंध और अधिकरण-नामक कारक होते है। इनके विषय व्याकरण मे हैं। यथा—

आवति है, जाति है, लजाति, मुसुकाति;
अँठिलाति या गली मै मडराति दिन-राति है।
(दूलह)

कहत, नटत, रीझत, खिझत, हिलत-मिलत, लजियात,
भरे भौन मैं करत है नैनन ही सों बात।
(बिहारी)

यहाँ कहन, नटन, रीझत, खिझत, हिलत-मिलन और लजियात का एक ही कारक है।

बैठी सीस-मंदिर मैं सुंदरि सवारही की,
मूँदिकै केवार 'देव' छबि सों छकति है;
पीत पट, लकुट, मुकुट, बन माल धरि
बेष करि पी को प्रतिबिंब मैं तकति है।
होति न निसक उर अंक भरि भेटिबे को,
भुजनि पसारति, समेटति जकति है;
चौंकति, चकति, उचकति, चितवति चहुँ
झूमि ललचानि, मुख चूमि न सकति है।
(देव)

यहाँ भी भुजनि पसारति, समेटति, जकति, चौंकति आदि का कारक एक नायिका है।

ताही भाँति धाऊँ, 'सेनापति' जैसे पाऊँ, तन
कंथा पहिराऊँ, करौं साधन जतीन के,
भसम चढ़ाइ जटा सीस पै बढाऊँ, नाम
वाही को पढाऊँ दुखहरन दुखीन के।
सबै बिसराऊँ, उर तासों उरझाऊँ, कुंज
बन-बन धाऊँ तीर भूधर-नदीन के,
मन बहिराऊँ, मन मनहि रिझाऊँ, बीन
लैकै कर गाऊँ गुन वाही परबीन के।
(सेनापति)

कुंडलित सुंड गंड झुंडत मलिंद बृंद
बंदन बिराजै मुड अदभुत गति को ;
बाल ससि भाल, तीनि लोचन बिसाल, राजै
फनिगन-माल सुभ सदन सुमति को।
ध्यावत बिना ही स्रम लावत न बार नर,
पावत अपार भार मोद धनपति को ,
पाप-तरु-कंदन को, बिघन-निकंदन को
आठो जाम बंदन करत गनपति को।

(जानकीप्रसाद)

पाप तरु-कंदन और बिघन-निकंदन पद गणपति के विशेषण हो गए हैं। अन. यहाँ दीपक का समन्वय नहीं होता।

जारत, बोरत, देत पुनि गाढ़ी चोट बिछोह ,
कियो समर मो जीव को आयसकर को लोह।

(वैरीशाल)

समर=स्मर, कामदेव। आयस = इस्पात। जारत, तोरत आदि का एक ही कारक है।

बिछवाए पौरि लौ बिछौना जरबाफन के,
बरवाए दीपक सुगंध सब आरी मे ;
जरवाए अबर कलस धरवाए, रस
भरवाए मादक कनकमई झारी मैं।
रावरे सों मिजिबे को एहो कबि 'रघुनाथ',
आवति हौ देखे चोप ऐसी औधिबारी मै ;
आँगन मैं आय ठाढ़ी होय, फेरि फिरि जाय,
फिरे आय फिरि जाय बैठै चित्रसारी मै।

(रघुनाथ)

आरी = छोटा आर, ताक।

कारक दीपक और प्रथम समुच्चय में पृथक्ता—कारक दीपक और प्रथम समुच्चय, दोनो मे ही अनेक क्रियाएँ होती हैं। यहाँ एक के अनतर दूसरी क्रिया की जाती है, परतु समुच्चय मे सब क्रियाओं का एक ही समय मे होना कहा जाता है, यही भेद है। ऊपरवाले छंद के चतुर्थ चरण मे कारक दीपक है, प्रथम समुच्चय (नं० ५४) नहीं।

समाधि (५६)

समाधि—में अकस्मात् अन्य कारण पाकर कार्य सुकर (सुगम) हो जाता है। यथा—

बैर कियो सिव चाहत हो, तब लौ अरि बाह्यो कटार कठैठो ;
यों ही मलिच्छहि छॉडै नही सरजा मन तापर रोस मैं पैठो।
'भूषन' क्यों अफजल्ल बचै, अठपाव कै सिह को पाँव उमैठो,
बीछू के घात्र धुकोई धरक्क ह्वै, तो लगि धाय धराधर बैठो।

(भूषण)

यहॉ कटार चला देना मुख्य कारण हो गया।

आयो बसंत रसाल प्रफुल्लित कोकिल बोलनि स्रौन सुनाई ;
भौरनि को 'मतिराम' कियो गुन काम प्रसून कमान चढाई।
रावरो रूप लग्यो मन मै, तन मैं तिय के झलकी तरुनाई ;
धीर धरौ, अकुलात कहा, अब तौ बलि बात सबै बनि आई।

(मतिराम)

गुन=डोरा ; यहाँ प्रत्यंचा। यौवन आ जाने से कार्य सुकर हो गया।

निरखन को मम बदन-छबि पठई दीठि मुरारि,
इत हा ! चपल समीर नैं घूँघट दियो उघारि।

(सोमनाथ)

यहाँ वायु के झोंके मे घूँघट खुल जाने से कार्य सुकर हो गया।

समाधि और समुच्चय मे भेद—इसमें कारण बहुत-से हो

सकते हैं, किंतु सहायता देनेवाला मुख्य एक ही होता है। समुच्चय (नं० ५४) में सभी प्रधान होते हैं।

प्रत्यनीक (५७)

प्रत्यनीक—मे प्रबल शत्रु के पक्षियों से बदला लेने का प्रयत्न होता है। यथा—

लाज धरौ, सिवजी सों लरौ सब सैयद, सेख, पठान पठायकै,
'भूषन' ह्याँ गढ-कोटन हारे, उहाँ तुम क्यों मठ तोरे रिसायकै ?
हिंदुन के पति सो न बिसाति, सतावत हिंदु गरीबन पाइकै,
लीजै कलंक न दिल्लि के बालम आलम आलमगीर कहायकै।
(भूषण)

यहाँ हिंदुपति से हारकर उसके पक्षवाले हिंदुओं के सताने से प्रत्यनीक हुआ।

तो मुख-छबि सों हारि जग भयो कलक-समेत;
सरद - इंदु अरबिंदु - मुखि अरबिंदन दुख देत।
(मतिराम)

पंकजमुखी होने से कमल उसके हितू हुए, जिन्हें चंद्रमा बद करता है।

प्रत्यनीक की पृथक् अलकारता—

विष्णु-बदन-सम बिधुहि अगाधा,
अब लौ राहु करत है बाधा।
(मुरारिदान)

इसके मूल पर लिखते हुए मम्मट-कृत काव्यप्रकाश की टीका 'उद्योत' मे नागोजी भट्ट ने लिखा है कि यद्यपि यहाँ गम्योत्प्रेक्षा है, तथापि प्रबल शत्रु से वश न चलने के कारण उसके पक्षवाले से बदला लिया जाता है, ऐसा विशेष चमत्कार भी होने से प्रत्यनीक अलंकार मानना चाहिए।

तात्पर्य यह कि प्रत्यनीक के साथ उत्प्रेक्षा भी होती है परंतु विशेष चमत्कार के कारण प्रत्यनीक द्वारा अलग अलंकारता स्वीकार की गई है।

विष्णु-वदन के समान शशि के होने के कारण ही राहु का उसे ग्रसना सिद्ध न होने से अहेतु है। उस अहेतु को हेतु मानने तथा जनु-मनु आदि किसी वाचक के न होने से असिद्धविषया हेतु-मूलक गम्योत्प्रेक्षा है।

जारि अनग कियो जब ते, तब ते गिरिराज कि राह बरावत,
मो ढिग आय बसंत बनाय 'बिसाल' सरासन सों सर छावत।
रे खल मैन, सुनै किन बैन, बृथा दुख दै मुख कालिमा लावत,
संकर सों कछु नाहि चली, अब बापुरे दासन बादि सतावत।

(विशाल)

काव्यार्थापत्ति (५८)

काव्यार्थापत्ति—किसी दुष्कर कार्य के किए जाने से सुकर के भी कारण की समानता से, सिद्ध हो जाने में काव्यार्थापत्ति अलंकार होता है। यथा—

तेरो रूप जीत्यो रति, रंभा, मेनका को, और
नारिन बिचारिन को मजकूर कहा है।

(दूलह)

तात्पर्य यह कि जब रति आदि को तेरे रूप ने जीत ही लिया, तब हीन गुण-युक्त नारियो का क्या कहना ?

सयन मैं साहन को सुंदरी सिखावैं ऐसे,
सरजा सों बैर जनि करौ, महाबली है,
पेस कसैं भेजत बिलायत, पुरतगाल,
सुनिकै सहमि जात करनाटथली है।

'भूषन' भनत गढ़ - कोट, माल, मुलुक दै
सिवा सो सलाह राखिए, तौ बात भली है ;
जाहि देत दंड सब डरिकै अखंड, सोई
दिल्ली दलमली, तौ तिहारी कहा चली है ?
(भूषण)

बिंब - से अरुन अति अमल अधर पर
मंद बिलसत चारु चाँदनी सुबास है ,
कासों जाय बरनि बनक नकबेसरि की,
ललित बिलोकनि पै बिबिध बिलास है ।
कबि 'मतिराम' पाय सहज सुबास आस
भौंरनि की भीर न तजति आस-पास है ,
कहा दरपन, कैसे पावत बदन - जोति,
चंद जाको चेरो, अरबिंद जाको दास है ।
(मतिराम)

कवि जब चंद और कमल का दुष्कर जीता जाना कहता है, तब हीन गुणवाले दर्पण का मुख की बराबरी करना असंभव है ।

काव्यार्थापत्ति पर सर्वस्वकार का मत—अलंकारसर्वस्व यहाँ दंड-पूपिका-न्याय से निष्कर्ष की सिद्धि मानता है, और कहता है कि इस अलंकार मे व्याप्य-व्यापक-न्याय से निष्कर्ष नही निकलता ।

"डंडे को मूषक खा गया ।" यह कहने से उसमे लगे हुए पूपिका (पुए) का खा जाना स्वयं सिद्ध है । यही दंड-पूपिका-न्याय है ।

काव्यलिंग (५९)

काव्यलिंग—जहाँ वाक्यार्थता या पदार्थता को कारणता देकर समर्थन करना गर्भित हो, वहाँ काव्यलिंग अलंकार होता है । यथा—

अलि, अब मोहि बिछोह-तम नेकहु बाधत नाहि ;
बसति सदा ब्रजचंद की मूरति नैनन माहिं।
(वैरीशाल)

ब्रज के चंद्र (भगवान्) के नयनो मे बसने से वियोगांधकार बाधा नही देता। यहाँ चन्द्र-ज्योत्स्ना के कारण से ही यह अंधकार-भव बाधा दूर हुई है। यहाँ समर्थन अर्थ द्वारा होता है—अर्थात् समर्थन का निष्कर्ष पाठक को निकालना पड़ता है। पद्य में नहीं दिया है।

भौंहैं कमान कै, लोचन बान कै लाजहि मारि रहे बिसवासी ;
गोल कपोलनि केलि करै भयो कुंडल लोल हिंडोल बिलासी।
कोट किरीट किए 'मतिराम' करै चढ़ि मोर-पखान मवासी ;
क्यों मन हाथ करौं सजनी, बनमाल मैं बैठि भयो बनबासी।
(मतिराम)

यहाँ प्रयोजन यह है कि नायिका का मन भगवान् पर ऐसा मोहित है कि निकलता नहीं। उसने भौंहैं कमान तथा नयनो को बाण बनाकर लाज को छोड़ दिया है, और फिर अपने ऊपर पूरा विश्वास (भरोसा) भी रखता है। भगवान् के झूलनेवाले कुंडलो पर हिंडोरा के समान बैठकर वह गोल गालो पर विचरता (उनके सौंदर्य पर मुग्ध) है। मुकुट को गढ़ तथा मयूर-पक्षो को किलेदार बनाए हुए है। वह भगवान् के बनमाल में बैठकर ऐसा वनवासी-सा हो गया है कि वश में नहीं आता।

यहाँ वाक्यार्थ मन के वापस न आने का कारण है। इसमें भी निष्कर्ष पाठकों को ही निकालना पड़ा, शब्द द्वारा नहीं निकाला गया। इसी प्रकार हर उदाहरण में समझ लेना। यह विषय अनुमान (नं० १०८) में भले प्रकार समझा दिया है।

कनक कनक ते सौगुनी मादकता अधिकाय,
वह खाए बौरात नर, यह पाए बौराय।
(बिहारी)

तजि तीरथ हरि-राधिका-तन-दुति करि अनुराग,
जेहि ब्रज केलि-निकुंज-मग पग पग होत पराग।
(बिहारी)

मोरँग कुमाउँऔ पलाऊ बाँधे एक पल,
कहाँ लौ गनाऊँ, जेब भूपन के गोत हैं,
'भूषन' भनत गिरे बिकट निवासी लोग
बावनी बवजा नव कोटि धुंध जोत हैं।
काबुल, कँधार, खुरासान जेर कीन्हो जिन
मुगल, पठान, सेख, सैयदहु रोत हैं,
अब लगि जानत हे बडे होत पातसाहि,
सिवराज प्रकटे ते राजा बडे होत हैं।
(भूषण)

जीतन संगर मे अरि-जालन आनन बीच बसी ललकार है;
दीनन के हित दच्छिन बाहु बनी सुखदा सुर-पादप-डार है।
श्रीसरजा सिव आजु सही बसुधा-तल पै जस को अवतार है;
है भुवपाल तुही जग मै, भुजदंडन पै तव भूतल-भार है।
(मिश्रबंधु)

"है जग में" का समर्थन "भुज . भार है" से हुआ।

रहत अछक, पै मिटै न धक पीवन की,
निपट जु नागी डर काहू के डरै नहीं,
भोजन बनावै नित चोखे खानखानन के,
सोनित पचावै, तऊ उदर भरै नहीं।
उगिलत आसौ, तऊ सकल समर बीच
राजै राव बुद्ध कर बिमुख परै नहीं,
तेग या तिहारी मतवारी है अछक तौ लौं,
जौ लौ गजराजन की गजक करै नहीं।
(भूषण)

केतो करो कोय, पैए करम लिखोय, ताते
दूसरी न होय, अब सोय ठहराइए,
आधी ते सरस बीति गई है बरस अब,
दुज्जन - दरस बीच रस न बढ़ाइए।
चिंता अनुचित, धरु धीरज उचित 'सेना-
पति' ह्वै सुचित रघुपति - गुन गाइए,
चारि बरदानि तजि पाय कमलेछन के,
पायक मलेछन के काहे को कहाइए।

(सेनापति)

पहिले अपनाय सुजान सनेह सों क्यों फिरि नेह को तोरिए जू;
निरधार अधार दै धार-मँझार दई गहि बाँह न बोरिए जू।
'घनआनँद' आपने चातिक को गुन बाँधिकै मोह न छोरिए जू;
रस प्यायकै, जाय बढायकै आस, बिसास मैं क्यों बिस बोरिए जू।

(आनदघन)

निकट रहे आदर घटै, दूरि रहे दुख होय,
'सम्मन' या ससार मै प्रीति करौ जनि कोय।

(सम्मन कवि)

बहु नावेल देखी जबे, तब ते सदग्रथन मै चित लागै नहीं;
तन मैं जब आलस आयो, तबै मन सयम के मत जागै नहीं।
हम जान्यो 'बिसाल' सुपंथन हू, पै कुपथन ते रुचे भागै नही;
केहि भाँति सों संकर पूजै तुम्हैं, हमरो तुम पै अनुरागै नहीं।
सुनि आरत बानी द्रवौगे जु पै, हमहूँ तौ भलै सुख लूटहिंगे;
तरिकै भव-सागर गोपद लौ तव चद-सुधा रस घूटहिंगे।
सिव! जो पै अमालन पै लखिहौ, तौ सदा अपनो उर कूटहिंगे;
जमराज के दोजख हो सों 'बिसाल' कयामत लौ नहिं छूटहिंगे।

(विशाल)

समर्थन के वाच्य होने से उपर्युक्त दोनो पद्यों में अनुमान अलंकार (नं० १०८) है । प्रथम में 'केहि भाँति' और द्वितीय मे 'जो पै' शब्दो पर ध्यान देना चाहिए ।

जाति-पाँति की भीति तौ प्रीति-भवन मैं नाहि ;
एक एकता छतहि की छाहँ मिलति सब काहि ।
(दुलारेलाल)

तेरी जुल्फों का पेच लखे नागिन का सीना फाटे ही ,
कुंडल मोती मुख बीच लिए अहि बाल ओस को चाटे ही ।
खा रही लहर जो सबुल की उपमा को फिर-फिर डाटे ही ;
लहराती लखे मरे जीवैं, लहरैं लेवें बिन काटे ही ।
(शीतल)

यहाँ चाथे पद से प्रथम का सुंदर समर्थन गम्यमान है, अतः काव्यलिंग स्पष्ट है ।

लागत कुटिल कटाच्छ-सर क्यों न होहिं बेहाल ;
कढ़त जु हियो दुसार करि, तऊ रहति नटसाल ।
(बिहारी)

यहाँ पहले पद का समर्थन दूसरे पद के नटसाल (नष्ट शल्य, टूटा हुआ भाग) से होता है । यहाँ क्यो शब्द के कारण समर्थन का किया जाना पाठकों पर न निर्भर होने से अनुमान (न० १०८) है, काव्य-लिंग नहीं ।

करै कुबत जग कुटिलता, तजौं न दीनदयाल ,
दुखी होहुगे सरल चित बसत तृभंगी लाल ।
(बिहारी)

यहाँ तृभंगी शब्द कुटिलता करने का समर्थक है । वह शब्द द्वारा न होने से काव्यलिंग माना जावेगा ।

काव्यलिंग का परिकर से भेद—

भाल मै जाके सुधाकर है, वहै साहब ताप हमारी हरैगो।

यहाँ साहब स्वयं ताप-हरण मे समर्थ है, और सुधाकर उसका रंजन-मात्र करता है। अतः परिकरालकार (न० २४) है।

नटसाज और तृभगी लाल मे दूसरा कारण नही है, किंतु यहाँ दूसरा मौजूद है। इसी से अंतर है।

परिकर मे पदार्थ या वाक्यार्थ का व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ का पोषण-मात्र करता है, परंतु काव्यलिंग मे वही हेतु हो जाता है। यह कुवलयानंदकार का मत है।

सूचना—अनुमान (न० १०८) का इससे भेद उसी अलंकार मे दे दिया जायगा, तथा इसी प्रकरण में भी टीका में से समझ लीजिए।

काव्यलिंग मे मतभेद—कुछ लोग केवल समर्थनीय के समर्थन में ही काव्यलिंग मानते हैं, यथा "कनक .पाए बौराय' मे स्वर्ण की मादकता धतूरे से अधिक कही गई है, परंतु जब तक इसका समर्थन न हो, अर्थ नहीं बनता, क्योंकि यह बात प्रसिद्ध नही। अत. इसमे समर्थनीय का समर्थन है। परंतु कोई कारण नहीं कि केवल समर्थनीय के समर्थन में ही यह अलंकार माना जाय। (अर्थांतरन्यास में भी पढ़ लीजिए)

अर्थांतरन्यास (६०)

अर्थांतरन्यास—मे सामान्य वाक्य का विशेष वाक्य से या विशेष का सामान्य से समर्थन होता है। यथा—

बड़े न हूजे गुनन बिनु बिरद बड़ाई पाय,
कनक धतूरे सो कहत, गहनो गढ़ो न जाय।

(बिहारी)

विशेष—एक के विषय मे कथित वाक्य विशेष होता है।

सामान्य—एकाधिक के विषय में कथित वाक्य सामान्य है। यहाँ पहले पद मे सामान्य वाक्य है, और दूसरे मे विशेष।

'रहिमन' नीच प्रसंग ते लगत कलंक न काहि,
दूध कलारिनि हाथ लखि मद समुझत सब ताहि।
(रहीम)

यहाँ पहला वाक्य सामान्य है, और दूसरा विशेष। दोनो उदाहरणो में सामान्य का विशेष से समर्थन हुआ है।

गुनवान बस्तुन के जोग ते अलप सोऊ
लहत बड़ाई, कहै बिबुध घनेरे हैं;
देखै क्यों न एरी गुन-रूप की उजेरी, तेरी
चेरी जानि लाल ललिता को मुख हेरे है।
(दूलह)

यहाँ पहला पद सामान्य वाक्य है, और दूसरा विशेष। समर्थक विशेष वाक्य है।

नीचे के उदाहरण मे विशेषो का सामान्य से समर्थन है।

बिना चतुरंग संग बानरन लैके, बाँधि
बारिध को, लंक रघुनंदन जराई है;
पारथ अकेले द्रोन, भीषम-से लाख भट
जीति लीन्ही नगरी, बिराट मै बड़ाई है।
'भूषन' भनत ह्वै गुसलखाने मैं खुमान
अवरंग साहिबी हथ्याय हरि लाई है,
तौ कहा अचंभो महाराज सिवराज सदा
बीरन कैं हिम्मतै हथ्यार होति आई है।
(भूषण)

यहाँ चतुर्थ चरण का अंतिम वाक्य "बीरन के हिम्मतै हथ्यार होति आई है" सामान्य है, तथा अन्य सब विशेष हैं। समर्थन सामान्य वाक्य ही करता है। यहाँ समर्थन 'ता कहा अचभो' से शब्द (वाच्य) हो गया है। अन्य उदाहरणों में समर्थन वाच्य न होने से आर्थ कहा जाना चाहिए।

अर्थांतरन्यास दृष्टांत, परिकर तथा काव्यलिंग मे भेद—अर्थांतरन्यास मे सामान्य, विशेष दोनो होते हैं, किंतु दृष्टांत (नं० १८) मे या तो सामान्य ही-सामान्य या विशेष-ही विशेष। यही अंतर है। अन्य कुछ अलंकारों मे भी समर्थन हैं, जिनके लक्षण अलग अंकित हैं। काव्यलिंग (नं० ४६) में कारण-रूप समर्थन की मुख्यता है। परिकर का समर्थन काव्यलिंग (नं० ४६) में कथित है, वहाँ देखिए।

(६० अ) उदाहरण— सामान्य वाक्य मे कहे हुओं मे से वाचक लाकर एक का दिखलाना उदाहरण है।

पयोजन यह है कि सामान्य वाक्य मे एकाधिक अर्थ गर्भित होते हैं। उनमे से किसी एक को लेकर सुगमता से समझा दे, जिससे पूरे वाक्य पर प्रकाश पडे। हिंदी के प्राचीन आचार्यो ने इसे मुख्य अलंकार नहीं माना है। यहाँ सामान्य और विशेष अर्थों में परस्पर अवयवावयवविभाव संबध होता है। संस्कृत मे अलंकार-रत्नाकर तथा रसगगाधर ने इसे पृथक् अलंकार कहा है।

उदाहरण के वाचक—यथा, जैसे, दृष्टात, निदर्शन, इव आदि वाचक होते हैं। यथा—

'रहिमन' जग सुख होत है बढ़े आपने गोत,
ज्यों बडरी अँखियाँ लखे अँखियनको सुख होत।

(रहीम)

यथाच—

सोभा लहत महान, एक दोस गुन पुंज परि,
अजि बड़री अँखियान, अंजन जिमि रजन गह्यो।
(प्रताप)

उपयुक्त दोहे और सोरठे के प्रथमार्ध में सामान्य वाक्यता है, और उत्तरार्ध में विशेष वाक्यता। "ज्यो" और "जिमि' क्रमशः उदाहरण के वाचक हैं।

उदाहरण अलंकार की मान्यता-अमान्यता मे मतभेद— उद्योतकार ने इसे उपमा मे माना है।

पडितराज इसे उपमा नही कहते, क्योकि उदाहरणवाला वाक्य पहले वाक्य मे गर्भित रहता है, जिससे सामान्य से विशेष पृथक् नही है।

अर्थांतरन्यास मे वाचक नही होता, जैसा उदाहरण मे है। केवल इतना-सा मुख्य भेद पृथक् अलकारता के लिये पर्याप्त नहीं समझ पडता। इसलिये उदाहरण को अर्थांतरन्यास का एक भेद मान सकते है। अथवा प्राचीनो के मतानुसार उदाहरण अलंकार उपमा मे गतार्थ हो जाता है। आपातत देखने से यहाँ इव आदि वाचकों के द्वारा सामान्य और विशेष भाव की प्रतीति अवश्य होती है, पर अंतत सादृश्य की उपस्थिति हो ही जाती है।

साहित्य-दर्पण द्वारा स्वीकृत अर्थांतरन्यास का भेद काव्यलिग है—साहित्य दर्पणकार ने अर्थांतरन्यास का एक और भेद माना है, जिसमे कार्य का कारण से, या कारण का कार्य से समर्थन होता है। यथा—

कमठ-नाग साधहु सँभरि, अचला धरहु सधीर,
सिव-धनु प्रबल प्रचड को चहत दलन रघुबीर।
(कस्यचित्कवे.)

आप हेतु तीन प्रकार का मानते हैं, अर्थात् ज्ञापक (ज्ञान करानेवाला, जैसे धुएँ से आग का), उत्पादक (जैसे धुएँ का आग उत्पादक हेतु है) और समर्थक (जिसमे समर्थन-मात्र हो)। ऊपरवाले दोहे मे आपके अनुसार समर्थक हेतु होगा।

दिसि-कुंजरहु, कमठ, अहि, कोला
धरहु धरनि धरि धीर, न डोला।
राम चहहिं संकर - धनु तोरा ;
होहु सजग सुनि आयसु मोरा।
(गो० तुलसीदास)

इसमें भी वही विचार है। यहाँ दूसरे पद पहलेवाले के समर्थक हेतु हैं।

पंडितराज का विचार है कि कहीं-कहीं समर्थक तथा उत्पादक हेतु एक ही हो जाते हैं, जिससे इनमें हर जगह भेद दिखलाना कठिन होगा। अतएव आप कारण-कार्यवाले अर्थांतरन्यास को अमान्य समझते हैं।

विश्वनाथ का कथन है कि समर्थनीय अर्थ के समर्थन में काव्यलिंग होता है।

यहाँ उनके अनुसार कमठ-नागवाला पहला वाक्य समर्थन की आवश्यकता नही रखता, किंतु जब अचल वस्तु को अचल होने का आदेश हो, तब समर्थन की आवश्यकता समझ ही पड़ेगी, तथा दूसरे पद से समर्थन होता भी है, क्योंकि वहाँ वह मुख्य बात प्रकट हुई है, जिसके कारण आदेश आवश्यक समझा गया था।

रसगंगाधर, काव्यप्रकाश आदि का मत है कि चाहे वाक्य सापेक्ष हो या निरपेक्ष, जहाँ अर्थ हेतु होकर समर्थन करे, वहाँ काव्यलिंग (न० ५६) होगा, तथा सामान्य विशेष के समर्थन में अर्थांतरन्यास। हम इसी को मान्य समझते हैं।

विकस्वर (६१)

विकस्वर—में विशेष वाक्य को सामान्य से समर्थन करके फिर विशेष वाक्य लाया जाता है। यथा—

> कान्ह है बिकट, है हो बिकट बडे की बात,
> यहै रीति सिंहहू की सबै जग गाई है।
> (दूलह)

> मधुप ! मोह मोहन तज्यो, यह स्यामन की रीति,
> करौ आपने काम लौं तुम्है भाँति सों प्रीति।
> (मतिराम)

हे मधुप (उद्धव) ! मोहन ने मोह छोड दिया (विशेष वाक्य); कालों की यह रीति ही है (सामान्य वाक्य), तुम भी अपने मतलब तक अपने सदृशो की-सी प्रीति करो (विशेष वाक्य)।

> राधा हरि-हिय मै बसति रँगे रँगीले रंग ;
> यही नेह की रीति है, हर किय तिय अरधंग।
> (सोमनाथ)

यहाँ पहले तीन चरणो में विकस्वरालंकार है।

विकस्वर की मान्यता-अमान्यता में मतभेद—कुवलयानद ने इन्हें स्वतत्र अलंकार माना है, परंतु कहीं पर इसमें दो अर्थातरन्यासों की ससृष्टि होती है, तथा कहीं अर्थातरन्यास और उदाहरण की। यह मत रसगंगाधर का है।

उद्योतकार यहाँ केवल अर्थातरन्यास की संसृष्टि मानते हैं, परंतु उन्होने उदाहरण को पृथक् अलंकार या किसी का भेद नही माना।

"कान्ह हैं बिकट, है हो बिकट बड़े की बात।"

में अर्थातरन्यास है ही।

उधर "है हो विकट बड़े की बात, यहै रीति सिंहहू की है" में दूसरा अर्थांतरन्यास होगा। ये दोनो बिना बीच का पद दोनो में मिलाए पृथक् अलंकार नहीं होते, इससे ससृष्टि के स्थान पर संकर समझ पड़ता है, क्योकि अलंकार नीर क्षीरवत् मिले हैं, तिल-तंडुलवत् नहीं।

वस्तुतः विकस्वर अलकार में द्वितीय विशेष वाक्य (यथा—"हर किय तिय अरधंग") द्वारा प्रथम विशेष वाक्य (यथा—"राधा... .. रंग") का ही समर्थन होता है—विशेषता इतनी है कि यह समर्थन साक्षात् न होकर सामान्य वाक्य (यथा—"यही नेह की रीति है") की मध्यस्थता से होता है। विशेष से विशेष का समर्थन देखकर इसे दृष्टांत के अंतर्गत न समझना चाहिए—क्योंकि मध्यस्थ सामान्य वाक्य के बिना यहाँ चमत्कार पैदा नहीं होता। यह भी नहीं माना जा सकता कि प्रथम विशेष वाक्य का समर्थन सामान्य वाक्य से होता है और उस सामान्य वाक्य के समर्थन के लिये ही द्वितीय विशेष वाक्य आता है। क्योंकि सामान्य वाक्य का विषय अप्रस्तुत होता है, और अप्रस्तुत का समर्थन निष्प्रयोजन है। अतः द्वितीय विशेष वाक्य द्वारा प्रथम विशेष वाक्य का ही समर्थित होना सिद्ध होता है। अपनी इस विलक्षणता के कारण विकस्वर को पृथक् अलकार मानना उचित है, जैसा अप्पय्य दीक्षित ने स्वीकार किया है।

प्रौढोक्ति (६२)

प्रौढोक्ति—मे किसी ऐसे हेतु का कहा (या माना) जाना होता है, जो वास्तव मे उत्कर्ष का हेतु नही है। यथा—

मानसर - बासी हंस-बंस न समान होत,
चंदन सों घस्यो घनसारऊ घरीक है,

नारद की, सारद की हाँसी मैं कहाँमी आभ,
सरद की सुरसरी कौन पुंडरीक है।
'भूषन' भनत छक्यो छीरधि मै थाह लेत,
फेन लपटानो ऐरावत को करी कहै,
कयलास ईस, ईस-सीस रजनीस वहौ,
अवनीस सिवा के न जस को सरीक है।
(भूषण)

यहाँ सफ़ेदी बढ़ाने के जो कई कारण दिए गए हैं, वे वास्तव मे कारण न होने से अहेतु हैं, जिससे प्रौढोक्ति निकली। मानसर मे बसने से हंस कुछ अधिक श्वेत नहीं हो जाता।

अरुन सरस्वति-कूल के बंधुजीव के फूल;
वैसे ही तेरे अधर लाल - लाल अनुकूल।
(रामसिंह)

बधुजीव = गुड़हर। सरस्वती के किनारेवाले गुड़हर कुछ अधिक लाल नहीं हो जाते, जिमसे अहेतु हेतु हुआ है।

लखि सौतिन के कमल-दृग क्यों न होहिं बेहाल,
हर-सिर ससि दुतिकर अमल जे है हँसत गोपाल।
(वैरीशाल)

यहाँ नखच्छत का अप्रकट वर्णन है। वे नखच्छत शिव के शीश पर के शशिकर को हँसते हैं। हर के शीश पर होने से नवचंद्र का गुण बढ़ न जायगा, जिससे प्रौढोक्ति है। हर-शिर पर नवचद्र रहता है, जिसके रूप-साम्य से सौतों को बेहाल करनेवाले नखच्छत का विचार आया है।

गंग-नीर विधु रुचि झलक मृदु मुसुकानि उदोति;
कनक-भौन के दीप लौं जगमगाति तन-जोति।
(मतिराम)

मृदु मुसुकानि गंगा में पड़ी हुई चंद्र की आभा-सी है, तथा शरीर की चमक साने के घर में स्थित दीपक-सी जगमगाती है। गंगा में पड़ी चाद्र परछाहीं में कोई विशेष उज्ज्वलता नहीं, न स्वर्ण-मंदिर के दीप में कोई विशेष आभा। इसमें दो प्रौढोक्तियाँ हैं।

प्रौढोक्ति की पृथक् अलंकारता मान्य अथवा अमान्य—उद्योतकार प्रौढोक्ति को संबंधातिशयोक्ति (नं० १३) मे मानते हैं, तथा पंडितराज और अप्पय्य दीक्षित स्वतंत्र अलकार बतलाते हैं। उन्हीं का मत ठीक जँचता है। क्यों क—

सुंदर केस सुबेस है, जमुना-सलिल सिवाल,
अधर सुधर रँग सरसुती, बिद्रुम-बेलि-प्रबाल।

(कस्यचित्कवेः)

में यदि किसी प्रकार के प्रवाल अधर के रंग की समता कर पाते, तो नवीन जाति उत्पन्न करने की आवश्यकता न रहती। अत इसमें यह दृढ़ करने की युक्ति है कि मूँगे की कोई जाति उसके रंग की समानता नहीं कर पाती। नवीन चमत्कार के विद्यमान होने से संबंधातिशयोक्ति से पृथक्ता सिद्ध है।

संभावन (६३)

संभावन—किसी की सिद्धि के लिये 'जो ऐसा हो, तो इस प्रकार हो' कहना सभावन है। यथा—

लाख जीहैं होइँ, तौ तो सुजस बखानिए।

(दूलह)

जो छबि - सुधा - पयोनिधि होई,
परम रूपमय कच्छप सोई।
सोभा रजु, मंदर सिंगारू,
मथै पानि - पंकज निज मारू।

यहि बिधि उपजै लच्छि जब सुंदरता, सुख-मूल ,
तदपि सकोच-समेत कबि कहहिं सीय-समतूल ।
(गो० तुलसीदास)

दूध-सुधा-मधु-सिंधु गँभीर ते हीर जु पै नग-भीर लै आवै ;
बाल प्रवाल पला मिलिकै मनि-मानिक-मोतिन-जोति जगावै ।
लै रजनीपति बीच बिरामनि दामिनि दीप समीप दिखावै ,
जो निज न्यारी उज्यारी करै, तब प्यारी के दंतन की दुति पावै ।
(देव)

नग-भीर (पर्वत-पुंज) से दूध, अमृत और शहद के समुद्रों को मथकर यदि कोई हीर (सार पदार्थ) ले आवे । रजनीपति (मुख) के बीच विराम-चिह्नों (ओठों) में बिजली का चकाचौंध छोड़कर केवल श्वेतता का रूप दिखलावे, तो दंतों की शोभा प्राप्त हो ।

संभावन की पृथक् अलंकारता—उद्योतकार संभावन को भी अतिशयोक्ति (नं० १३) के अंतर्गत मानते हैं, किंतु भाषा के आचार्यों ने अप्पय्य के अनुसार उचित ही इसे स्वतंत्र अलंकारता दी है । पृथक् चमत्कार समझने के लिये हमारा प्रौढोक्ति (नं० ६२) पर मत पढ़ने की कृपा कीजिए ।

मिथ्याध्यवसित (६४)

मिथ्याध्यवसित—में एक मिथ्या बात का मिथ्यात्व बतलाने के लिये दूसरा झूठ भी कहा जाता है । यथा—

खल-बचनन की मधुरता चाखि साँप निज स्रौन ;
रोम-रोम पुलकित भयो, कहत मोद गहि मौन ।
(मतिराम)

साँप के न तो कान होते हैं, न रोंएँ ।

मिथ्याध्यवसित मे पृथक् चमत्कार होने में मतभेद—इसके जो उदाहरण देखने मे आए, उनमे कोई मुख्यता न थी।

उद्योतकार इसे भी संबंधातिशयोक्ति (न० १३) मे मानते हैं, तथा पंडितराज प्रौढोक्ति में। कुवलयानदकार इसे भी स्वतंत्रता देते हैं।

ललित (६५)

ललित—मे वाच्य रूप ईप्सित प्रस्तुत का वर्णन प्रतिबिंब-रूप वस्तुतः अनिच्छित प्रस्तुत में मिलाकर होता है।

इसमे कथन तो उपमेय का ईप्सित है, किंतु वर्णन करते हैं उसके प्रतिबिंब (छाया)-रूप उपमान का, किंतु वह विवरण इस प्रकार से किया जाता है कि अप्रसंगी (उपमान) भी उससे मिला हुआ, तथा प्रसंगी (उपमेय) समझ पड़ने लगता है। यथा —

बर्णिबे प्रसंगी ताहि छोडि अप्रसगी भनै,
प्रतिबिंब बरण्य है ललित पहिचानिए;
कढि गयो भ न, अब माँगती हौ छायावान,
मैन मद प.खी, तेरी नोखी रीति जानिए।

(दूलह)

यहाँ प्रयोजन गणिका मे यह कहने का है कि जवानी ढल चुकने पर कदरदान यार कहाँ मिल सकते हैं ?

ग्रीषम दियो बिताय सब एरी बौरी बीर;
बनवावत का पावसहि अब यह महल उसीर।

(रामसिंह)

करत नेह हरि सो भटू, क्यों नहिं कियो बिचार;
चहत बचायो बसन अब बौरी बाँधि अँगार।

(वैरीशाल)

मेरी सीख सिखै न सखि, मोसों उठति रिसाय,
सोयो चाहति नींद भरि सेज अँगार बिछाय।
(मतिराम)

ललित में प्रसंगी का भी वर्णन अप्रयुक्त नहीं, जैसा दोहो में हुआ है।

अति खीन मृनाल के तारहु सों तेहि ऊपर पाँव दै आवनो है;
सुई बेह ते द्वार सकी न तहाँ परतीत को टाँडो लदावनो है।
कवि 'बोधा' अनी घनी नेजहु ते चढ़ि तापै न चित्त डोलावनो है;
यह प्रेम को पंथ कराल है री ! तरवारि की धार पै धावनो है।
(बोधा)

यहाँ भी प्रसंगी का कथन हो गया है।

अप्रस्तुत प्रशंसा, समासोक्ति, निदर्शना तथा ललित का विषय पृथक्करण—अप्रस्तुत प्रशंसा (नं० २७) मे जिसका वर्णन होता है, वह अप्रस्तुत रूप में रहता है, और समासोक्ति (नं० २३) में प्रस्तुत के वर्णन मे समान विशेषणों द्वारा अप्रस्तुत का बोध होता है, अर्थात् अप्रस्तुत प्रशंसा तथा समासोक्ति दोनो में एक वृत्तांत प्रस्तुत और दूसरा अप्रस्तुत होता है। परंतु ललित में दोनो प्रस्तुत होते है, और जो कुछ प्रस्तुत मे कहना होता है, उसी को दूसरे प्रस्तुत-रूप से प्रतिबिंब मे कहा जाता है। निदर्शना (नं० १६) से भेद उसी (निदर्शना) मे देखिए।

प्रस्तुतांकुर और ललित का विषय-विभाजन—

अलि, कदंब तरु पाइ सुमन भरो मकरद मैं,
तजि करील पै जाइ निरस, अपत परमे कहा ?
(गोकुलनाथ)

यहाँ प्रस्तुतांकुर मे अनिच्छित प्रस्तुत रूप कथित भ्रमर-कदब-वृत्तांत तो वाच्य-रूप है, तथा इच्छित नायक रूप प्रस्तुत वृत्तांत व्यंग्य से निकलता है।

तब न सीख मानी भट्ट, कियो बिचार न कोइ,
भख्यो चहत फल अमृत कौ बिष-बीजन को बोइ।

(पद्माकर)

परंतु उपर्युक्त "तब . बोइ" में इच्छित वाच्य-रूप प्रस्तुत का वर्णन प्रतिबिंब-रूप अनिच्छित "भख्यो ..बोइ" में मिलाकर किया गया है। भट्ट के संबोधन से ईप्सित प्रस्तुत भी वाच्य-रूप ही मानना चाहिए। परंतु "अलि कदंब ..कहा" मे नायक को संबोधन करके नहीं कहा है, अतः वह वाच्य-रूप नहीं, यद्यपि मुख्यतया उसी से कथन का प्रयोजन होने से वही व्यंग्य-रूप प्रस्तुत इच्छित है। इस में भ्रमर का वर्णन नायक के वर्णन से संयुक्त करके भी नहीं किया गया है। यही भेद है।

प्रहर्षण (६६)

प्रथम प्रहर्षण—में विना यत्न के इच्छितार्थ अकस्मात् सिद्ध हो जाता है। यथा—

जाकी चित चाह, तेई चौकी देन आए री।

(दूलह)

यहाँ बुलाने का यत्न नहीं करना पड़ा।

अरी खरी सटपट परी बिधु आधे मग हेरि ;
संग लगे मधुपन लई भागन गली अँधेरि।

(बिहारी)

समाधि और प्रहर्षण में भेद—समाधि (नं० ४६) में अन्य प्रबल कारण होते हुए भी अकस्मात् कोई कारण आ पड़ने से कार्य हो जाता है, किंतु प्रथम प्रहर्षण मे कोई पूर्ववर्ती समर्थ कारण होता ही नहीं। उद्योतकार समाधि के अंतर्गत प्रहर्षण के तीनो भेद कहते हैं।

पंडितराज तथा अप्पय्य दीक्षित इसे अलग अलंकार मानते हैं। देखने में प्रहर्षण के तीनो भेद समाधि के भेदांतर माने जा सकते हैं।

द्वितीय प्रहर्षण—में इच्छितार्थ से अधिक विना यत्न के मिलता है। यथा—

माँगे हम फूल, पीउ पारिजात लाए री।

(दूलह)

सातहु दीपन के अवनीपति हारि रहे जिय मैं जब जाने;
बीस बिसे ब्रत भंग भयो, सु कहौ अब 'केसव' को धनु ताने?
सोक कि आगि लगी परिपूरन, आय गए घन स्याम बिहाने;
जानकि के, जनकादिक के सब फूलि उठे तरु-पुन्य पुराने।

(केशवदास)

जनक आदि चाहते केवल धनुष चढानेवाला थे, किंतु मिल गए स्वयं भगवान्, जिसमे उनके प्राचीन पुण्य के पौधे फूल उठे।

चित्र मे बिलोकत ही लाल को बदन बाल
जीते जेहि कोटि चद सरद पुनीन के,
मुसुकानि अमल कपोलनि रुचिर बूंद,
चमकैं तरयोना चारु सुंदर चुनीन के।
पीतम निहारयो बाँह गहत अचानक ही,
जामैं 'मतिराम' मन सकल मुनीन के;
गाढ़े गही लाज मैन, कंठ ह्वै फिरत बैन,
मूल छ्वै फिरत नैन बारि बरुनीन के।

(मतिराम)

यहाँ चित्र-दर्शन हो रहा था कि अकस्मात् प्रत्यक्ष दर्शन हो गया।

दुजबर श्रीउपमन्यु संभु-चरनन चित दीन्हो,
मन, बच, क्रम सों बहुत काल दीरघ तप कीन्हो।

लखि 'बिसाल' सम चंद्रभाल आपुहि उठि धाए,
बरं ब्रूहि -सुत, बरं ब्रूहि सुत, टेरि सुनाए।
तब दूध-भात अति मोद सों माँग्यो सीस नवायकैं,
सो दै कृपालु, पुनि अमित बर दिए मंद मुसुकायके।

(विशाल)

बरं ब्रूहि = बर कहो—वर माँगो।

यहाँ दुग्ध-भात पाने का यत्न तो किया, परंतु अन्य वर बिना यत्न ही मिल गए।

तृतीय प्रहर्षण—में यत्न ही की खोज में कार्य सध जाता है। यथा—

हौं तौ हरि हेत गई दूती हेरिबे को, ताहि
हेरत मैं आली, बनमाली गहि पाए री।

(दूलह)

हरि की सुधि को राधिका चली अली के भौन,
हँसत बीच हरि मिलि गए, बरनि सकै छबि कौन?

(मतिराम)

सखी हरि के पाने का साधन-मात्र है, यत्न नहीं।

विषादन (६७)

विषादन—में बिना यत्न किए हुए इच्छितार्थ के विरुद्ध कुछ हो जाता है। यथा—

कहै कवि 'दूलह' सकेत ठहरावौं जौ लौं,
तौ लौं खसि परी कुंज कालिंदी के तीर की।

(दूलह)

धरि चित चलन सकेत को खरी पौरि मैं बाल ;
सूखी, सकुची हरि-हिये लखत मालती-माल ।
(वैरीशाल)

पृथक् अलंकारता नहीं—तृतीय विषम (नं० ३७) में हित का यत्न रहता है, तथा यहाँ केवल इच्छा । केवल इतने अंतर से पृथक् अलंकारता स्थापित नहीं होती, सो इसे विषम का भेदांतर कह सकते हैं । उद्योतकार का भी यही मत है ।

उल्लास (६८)

उल्लास—में एक के दुर्गुण या सुगुण दूसरे को लगते हैं ।

इसके उदाहरण कई प्रकार से आते हैं । (१) दोष से गुण, (२) गुण से दोष (३) गुण स गुण (४) दोष से दोष लगने के ।

(१) दोषेण गुण । यथा—

वीणावादिनी के तार झंकृत किया ही करूँ,
तो भी कवि-मंडली मे श्रोता का नमूना हूँ,
झुक भी गया हूँ, आयु-बोझ से, तथापि नव
छंद सुनने का उतसाही दिन दूना हूँ ।
धैर्य से श्रवण करूँ कैसा भी कवित्त पढ़ो,
दोषों को गुणों से छाँट डालने को ऊना हूँ ;
चारु कवि-मंडली की दीप्ति चमकाने हेत
आज चिर काल से बना मैं एक जूना हूँ ।
(मिश्रबंधु)

यहाँ वाच्य में अलकार है, कवि जूना (दोष)-रूप होकर दूसरे की दीप्ति (गुण रूप) चमकाता है । अत दोषेण गुणः का उदाहरण हुआ ।

कहा भयो, निसि को जु पै मिलो नहीं चित-चोर ;
यहै बड़ी है बात, जो पायो दरसन भोर ।
(वैरीशाल)

यहाँ दोष से गुण है ।

सतन को संग भो, प्रसंग भो न दूजो और ,
संतत ही अंग तें सुकृत-ही-सुकृत भो ;
भूरि भक्ति पावन हुतासन मैं नावन कौं
लाल मनभावन के नेह ही को घृत भो ।
मीरा ! अवनी पै तेरी अकह कहानी रही ,
तेरे सत्य - व्रत मैं न रंचऊ अनृत भो ;
तेरी रसना मे स्याम हू की रसना को देखि
विष को पियालो सोऊ लाजन अमृत भो ।

(उमेश)

यहाँ दोषेण गुण. का उल्लास है ।

'भूषन' भनत बादशाह को यों लोग सब
बचन सिखावत सलाह की इलाज के ;
डावरे कि बुद्धि लैकै बावरे न कीजै बैर ,
रावरे के बैर होत काज सिवराज के ।

(भूषण)

डावरे = बालक ।

इसमें दोष से गुण है । क्योंकि बादशाह का बैर दोष रूप है, उससे शिवाजी महाराज के कार्य होने-रूप गुण का होना कहा गया है । नीचेवाले तीर्थ के भाषण में भी अहीर की अबला दोष-रूप है, उससे तीर्थ को पुनीत करना रूप गुण लगा ।

तीरथ कहत, हमै आनिकै पुनीत करै
कोई ब्रजभूमिवारी अबला अहीर की ।

(दूलह)

बरनौं कहाँ लौ, भुव लोक मै जहाँ लौं भई ,
दिल्ली मैं तहाँ लौं बानी सूरज प्रताप ते ,

मुगल, मलूकजादे, सेख, बेसलूक प्यादे,
सैयद, पठान अवमान भूने लाएते।
आया रोज क्यामत, मलामत से पाक हुए,
रहैगा सलामत खोदाई आप आपते,
जार-जार रोती क्यों बजार मीरजादी, यारौ,
जिनका छिपाव महताब - आफ़ताप ते।
(सूदन)

यहाँ कयामत (दोष) आने से मलामत से पाक हुए (गुण
अत दोषेण गुण है।

(२) गुणेन दोष.। यथा—

काज मही सिवराजबली हिंदुवान बढ़ाइबे को उर ऊटै;
'भूषन' भू निरम्लेच्छ करी, चहै म्लेछन मारिबे को रन जूटै।
हिंदु बचाय-बचाय यही अमरेस चँदावत लौं कोइ टूटै;
चंद-अलोक ते लोक सुखी, यहि कोक अभागे को सोक न छूटै।
(भूषण)

यहाँ एक के गुण से दूसरे को दोष लगा।

देह दुलहिया के बढ़े ज्यों-ज्यों जोबन - जोति,
त्यों-त्यो लखि सौतैं सबैं बदन मलिन दुति होति।
(बिहारी)

यहाँ गुण से दोष हुआ।

तौबा पाप-स्वीकृति की बिमल बिदेसी बात
भारतीय पापिन को भई भगवान यह,
बेदहू मैं सबितर संग ऐसो भाव रह्यो,
पै हो अति स्वल्प, नहि नेकहू महान यह।
गीता लौं न पुण्य गंग-न्हान मैं कछूक लखो,
पीछे ते गयो ह्वै खल-मंडली को त्रान यह,

लाखन बिचारे नसे पापिन के दाप सों जे,
तिनको अँगूठा दिखरायबे की सान यह।
(मिश्रबंधु)

यहाँ गुणेन दोष है।

आई हौं देखि बधू इक 'देव', सु देखत भूली सबै सुधि मेरी;
राखो न रूप कछू बिधि के घर, लाई है लूटि लोनाई कि ढेरी।
एवी अबै वोहि ऐवे है बैस, मरैंगी हलाहल घूँटि घनेरी;
जे-जे गुनी गुन-आगरी नागरी ह्वै हैं ते वाके चितौत ही चेरी।
(देव)

यहाँ गुण से दोष लगा, क्योंकि उसके रूप से दूसरी चेरी बनी।

(३) गुणेन गुण। यथा—

जो कछु मुख भाखो, सो दृढ राखो, हटे न कबहूँ पाछे;
नित स्वारथ छाँड़ो, धरमहिं माडो, रहे सान-युत आछे।
ऐसे नरपालन सब गुन-आलन को जस कहिबो भावे,
जो बने न नीको, बरु अति फीको तउ पाठकहि रिझावै।
(मिश्रबंधु)

यह गुणेन गुण का उदाहरण है।

कुमुद सी थी तब तुम द्युतिमान, शरद को पूनो मे अम्लान ॥ १ ॥
यूथिका के उपवन के पास तुम्हारा था कुसुमित आवास ॥ २ ॥
वहाँ पर मुझे बुला हे देवि! किया था तुमने कंगन-दान ॥ ३ ॥
न-जाने कैसा था सम्मान, और कैसी थी वह पहचान? ४ ॥
अभी तक उर की शोणित-धार विकल हो बहती वलयाकार ॥ ५ ॥
गया बन जीवन का श्रृंगार तुम्हारा दिया हुआ उपहार ॥ ६ ॥
आज पलकों मे आकर प्रान तुम्हारी छवि का करते ध्यान ॥ ७ ॥
('उमेश')

अंतिम पद (७) में स्मृति-सचारी का चमत्कार है। यह गुण से गुण का उदाहरण है।

आतमा मैं रच ह् सँदेह प्रथमै न उठो,
परमातमा पै कछु धुकपुक बढ़िगो;
जगदीसबाद जब मिलट को बी० ए० मे पढ़ो,
ससौ सहमूल चित चंचल सों कढ़िगो।
चारो बेद पढ़े ते न धरम को बोध भयो,
दसौ उपनिषद सों मोद हिय मढ़िगो;
इतिहास मूलक बिचारि किंतु बेदन को,
ताके रचिबे को चारु चोप चित चढ़िगो।
(मिश्रबंधु)

यहाँ गुणेन गुण है।

नृप - सभान मैं आपनी होन बड़ाई काज—
साहितनै सिवराज के करत कबित कबिराज।
(भूषण)

गुच्छनि को अवतंस लसै, सिखि-पच्छनि अच्छ किरीट बनायो;
पल्लव लाल समेत छरी कर - पल्लव सों 'मतिराम' सुहायो।
गुंजनि को उर मजुल हार निकुंजनि ते कढ़ि बाहेर आयो;
आजु का रूप लखे नँदलाल को आजु ही आँखिन को फल पायो।
(मतिराम)

क्या कोल, टप्पर, नोह, जेवर-सहित ईखू लेइगा;
चंडौस, खुरजा हाथ करि फिरि पायँ आगे देइगा।
इसवासते तुमसे अरज कर जोरि कीजत है बली;
अब हाथ उस पर रक्खिए, तो लेइ जंग फतेअली।
(सूदन)

यहाँ गुण से गुण है।

(४) दोषेण दोष. । यथा—

बिधि-हरि-हर तीनि भाव-मात्र ईस के हैं,
इन्हैं ब्यक्त मानिबो पुरानन की भूल है;
ग्रीक, सक, हून आदि भूपन के साधिबे मैं
भई ही अवस्य राजनीति अनुकूल है।
द्राविड़ बिचार किंतु भरे ते स्वमत माहिं
आरज-धरम सत्य गयो मिलि धूल है;
पंडे औ' पुरोहित जे पाप-स्वारथन भरे,
तिनही की बात करै जनता कबूल है।
(मिश्रबंधु)

यह दोषेण दोषः का उदाहरण है।

सिव सरजा के बैर को यह फल आलमगीर—
छूटे तेरे गढ़ सबै, कूटे गए वजीर।
(भूषण)

संगति को गुन साँच है, कहैं जु गुनी रसाल,
कुटिल कूबरी संग ते भए तृभंगी लाल।
(कस्यचित्कवे.)

रेंड़ी के तेल मैं कीन्हें बरा, अरु भेंडी के माठा में आनि भिगोए;
चाउर मानौ चमारन के नख, दोना में दालि मिलै नहिं टोए।
बज्र-समान बने पकवान, सु खात ही दाँतन की दुति खोए;
साहब सूम कि देखि सराध घरी भरि भीतर पीतर रोए।
(कस्यचित्कवेः)

दाता घर होती, तौ कदरि तेरी जानी जाती,
आई घर भले के, बधाई बजवाव री;
खाने-तहखानेन मैं जायके बसेरो लेहु,
होहु ना उदास, चाव चौगुनो बढ़ाव री।

खेहौ, न खवेहौं, मरि जेहौं, तौ सिखाय जैहौं
यहै पूत-नातिन को आपनो सुभाव री;
दमड़ी न देहौं चमड़ी हू के गए पै कबौं,
सूम कहै संपत्ति सों, बैठी गीत गाव री।
(कस्यचित्कवेः)

यहाँ सूम के दोष से संपत्ति में भी यह दोष लगा कि वह अपने मुख्य कार्य व्यापार-परिचालन से असमर्थ होकर तहखाने में पड़ी पड़ी सड़ने लगी।

ह्वै अति आरत मैं बिनती बहु बार करी करुना-रस-भीनी;
'कृष्ण' कृपानिधि, दीन के बंधु, सुनी असुनी तुम काहेक कीनी?
रीझते रंचक ही गुन सों, वह बानि बिसारि मनौ अब दीनी;
जानि परी तुमहूँ हरिजू, कलिकाल के दानिन की गति लीनी।
(कृष्ण कवि)

यहाँ दोषेण दोपः है।

पृथक् अलंकारता मान्य है या अमान्य—उद्योतकार गुणेन गुण. तथा दोषेण दोष. को सम (नं० ३८) या काव्यलिंग (नं० ५९) मानते हैं, तथा दोषेण गुण. और गुणेन दोष. को विषम (नं० ३७)। इन कथनों में भी बहुत कुछ सार है।

कुवलयानंदकार इसको पृथक् अलंकार मानते हैं, तथा भाषा के भी आचार्यों ने यही बात मानी है।

अवज्ञा (६९)

अवज्ञा—में एक का गुण या दोष दूसरे को नहीं लगता।

यथा—

दोष से दोष न लगना—

कहा भयो, जो तजत है मलिन मधुप दुख मानि ;
सुबरन-बरन, सुबास-युत चंपक लहै न हानि।

(कस्यचित्कवेः)

रावरे नेह को लाज तजी, अरु गेह के काज सबै बिसराए ;
डारि दियो गुरु लोगन का डर, गाँव चवाव मैं नावँ धराए।
हेत कियो हम जो तौ कहा, तुम तौ 'मतिराम' सबे बिसराए,
कोउ कितेक उपाय करौ, कहूँ होत हैं आपने पीउ पराए ?

(मतिराम)

हेत = प्रेम।

गुण से गुण न लगना—

जह्नुजा को 'लेखराज' कहै जग देखि बिसेख अलेख प्रभाऊ ;
और की कौन कहै, लहै पातकी जाहिके जैसो रहै चित चाऊ।
ताही के संग सदा कै उमंगहू एकऊ अग गयो न सुभाऊ ;
फूले फले न भले करि कैसेहू जैसे-के-तैसे रहे तुम झाऊ।

(लेखराज)

औरन के अनबाढ़े कहा, अरु बाढ़े कहा, नहिं होत चहा है ;
औरन के अनरीझे कहा, अरु रीझे कहा, न मिटावत हा है।
'भूषन' श्रीसिवराजहि जाचिए, एक दुनी पर दानि महा है ;
माँगत औरन के दरबार गए, तौ कहा ? न गए, तौ कहा है ?

(भूषण)

इस छंद मे गुण-दोष, दोनो का विवरण है।

अवज्ञा में पृथक् अलंकारता नहीं—नागोजी भट्ट (उद्योतकार) का कथन है कि अवज्ञा कहीं पर विषम (नं० ३७) और कहीं अतद्गुण (नं० ७६) होती है, परंतु कारण होते हुए कार्य न होने से विशेषोक्ति (नं० ३४) मानना अच्छा है।

कुवलयानंदकार ने इसे पृथक् अलंकार माना है।

अनुज्ञा (७०)

अनुज्ञा—में किसी दोष में लाभ देखकर उसकी कामना की जाती है। यथा—

बिपति परे पै नर भजत है भगवानै,
सपदा चहैं न संत, बिपदा सदा चहैं।
(दूलह)

विपत्ति पड़ने पर लोग ईश्वर का भजन करते हैं, यह विपत्ति दोष में गुण देखकर ही संत जन संपदा की चाहना न करके विपदा की इच्छा करते हैं।

ज्यों दस कूबर होहि, त्यों कीजे मधुप इलाज ;
तौ कुबिजा ते दसगुनो करैं प्यार ब्रजराज।
(वैरीशाल)

मोर-पखानि किरीट बन्यो, मुकुतानि के कुंडल लोल बिलासी ;
चारु चितौनि चुभी 'मतिरामजू', क्यों बिसरै मुसुकानि सुधा-सी।
काज कहा सजनी कुल-कानि सों, लोग हँसौ सिगरे ब्रजबासी ;
होन चहौं मनमोहन को मुख-चंद लखे बिनु मोल कि दासी।
(मतिराम)

जाहिर जहान सुनि दान के बखान जासु
महादानि साहितनै गरिबनेवाज के ;
'भूषन' जवाहिर जलूस जरबाफ जोति
देखि-देखि सरजा के सुकबि-समाज के।
तप करि-करि कमलासन सों माँगत यों,
लोग सब करि मनोरथ ऐसे साज के ;
बैपारी जहाज के, न राजा भारी राज के,
भिखारी हमैं कीजै महराज सिवराज के।
(भूषण)

महामोह कंदनि मैं, जगत-जकंदनि मैं,
दिन दुख दंदनि मैं जात है बिहायकै ;
सुख को न लेस है, कलेस बहु भाँतिन को,
'सेनापति' याही ते कहत अकुलायकै।
आवै मन ऐसी, घर-बार, परिवार तजौं,
डारौं लोक-लाज के समाज बिसरायकै ;
हरि-जन पुंजनि मैं, बृंदाबन कुंजनि मैं
बैठि रहौं कहूँ तरवर तर जायकै।

(सेनापति)

सुनो दिलजानी, मेरे दिल की कहानी, तव
दस्त ही बिकानी, बदनामी भी सहूँगी मैं ;
देव-पूजा ठानी मैं, नेवाजहू भुलानी, तजे
कलमा-कुरान, साड़े गुननि गहूँगी मैं।
स्यामला सलोना, सिरताज सिर कुल्ले दिए,
तेरे नेह-दाघ में निदाघ हो दहूँगी मैं ;
नंद के कुमार, कुरबान तांड़ो सूरत पै,
ताड़ नाल प्यारे हिंदुवानी हो रहूँगी मैं।

(ताज कवयित्री)

नैनन को तरसैए कहाँ लौं, कहाँ लौं हियो बिरहागि में तैए ;
एक घरी न कहूँ कल पैए, कहाँ लगि प्रानन को कलपैए।
आवै यही अब जी मैं बिचार, सखो चलि सौतिहु के घर जैए ;
मान घटे ते कहा घटिहै, जु पै प्रान-पियारे को देखन पैए।

(दास)

आय दुसह दुकाल इत जब ईस कोप समान,
धारि भीषम रूप धायो भरो रिस अतिमान।
छाँड़े साहस धीर जब सब लोग हाहा खाय ;
छुधा-पीड़ित लगे डोलन चहूँ दिसि बिललाय।

रहे तब नर चहत सुख सों जान कारागार ,
मिले जासों साँझ लौं भरि पेट तत्र अहार ।
(मिश्रबंधु)

अनुज्ञा का पृथक् चमत्कार—

नागोजी भट्ट का कथन है कि मम्मट ने विशेषालंकार (नं० ४३) के भेद पूर्ण रूप से नहीं कहे । अनुज्ञा को भी उसी का भेद मान लेना चाहिए । परंतु इसमें एक विशेष चमत्कार देखकर चंद्रालोक, कुवलयानंद तथा रसगंगाधरकार ने इसे अलग अलंकार माना है । वस्तुतः विशेष के सुप्रसिद्ध तीनो भेदों में तो अनुज्ञा का अंतर्भाव होता नहीं, तब पृथक् अलंकार मानने में कोई आपत्ति नहीं ।

तिरस्कार—गुण करके प्रसिद्ध का भी दोषानुबंध (दोष-युक्त) होने के कारण तिरस्कार करना तिरस्कारालंकार होता है ।

चंद्रालोक तथा कुवलयानंदकार ने यह अलंकार नहीं माना है । तदनुसार हिंदी के आचार्यों ने भी ऐसा ही किया है । हमारी समझ में भी यह अनुज्ञा में आ जाता है । नागोजी भट्ट इसे भी विशेष (नं० ४३) में मानते हैं । यथा —

ऊधो, बिछुरन ही भलो, मिलन चहत हम नाहिं ,
नंद - दुलारो साँवरो सदा बसै मन माहिं ।
(रामसिंह)

संयोग (मिलन) साधारणतया गुण करके ही प्रसिद्ध है, परंतु यहाँ कवि ने उसे दोष-युक्त सिद्ध किया है, क्योंकि उससे ध्यान के सदा निभनेवाले गाभीर्य मे कमी आती है, अतः संयोग का तिरस्कार हुआ है ।

पंडितराज ने इसे पृथक् अलंकार स्वीकार करते हुए यह उदाहरण दिया है ।

"वैभव जनि दे जाहि लहि भक्ती जाय भुलाइ ।"

हमारे विचार से इस उदाहरण तथा पूर्वोक्त "ऊधो बिछुरन "वाले

दोहे में क्रमशः दरिद्रता और वियोग के प्रति प्रबल इच्छा व्यक्त हो जाने से 'अनुज्ञा' अलंकार भासित हो जाता है। अथच अधिक-से-अधिक 'तिरस्कार' को 'अनुज्ञा' का ही एक भेद माना जा सकता है। प्रथम शुद्ध-अनुज्ञा और द्वितीय तिरस्कारमुखी अनुज्ञा है।

लेश (७१)

लेश—में प्रबल दोष में आंशिक गुण या प्रबल गुण में आंशिक दोष भी देखकर किसी वस्तु के पूर्ण गुणमय या पूर्ण दोषमय होने की कल्पना होती है।

दूलह ने इसके चार प्रकार के उदाहरण लिखे हैं, यथा दोष में गुण, गुण में दोष, गुण में गुण या दोष में दोष। किंतु संस्कृत तथा हिंदी के भी प्राय सभी आचार्यों ने उपर्युक्तानुसार दो ही प्रकार के उदाहरण दिए हैं, जो ठीक भी समझ पड़ते हैं। यथा—

दोष मे गुण—

कोऊ बचत न सामुहे सरजा सो रन साजि ;
भली करी पिय, समर ते जिय लै आए भाजि।

(भूषण)

कत सजनी ह्वै अनमनी अँसुवा भरति ससक ;
बड़े भाग नँदलाल सों झूठहु लगत कलंक।

(मतिराम)

मुगुधा की नाहीं कबि 'दूलह' मिठास-भरी ,

(दूलह)

'रहिमन' बिपदा हू भली, जो थोरे दिन होय ,
हित-अनहित या जगत मैं जानि परत सब कोय।

(रहीम)

गुण में दोष—

उदैभानु राठौर - पति धरि धीरज गढ एँड़ ;
प्रकटै फल ताको लह्यो परिगो सुरपुर पैंड़ ।

(भूषण)

कैद परति है सारिका मधुरी बानि उचारि ।

(कस्यचित्कवेः)

रूप-अधिकाई तोहि कोठरी बसायो आनि ;
ग्वालिनी सुगैल गहे खेलतीं प्रकास हैं ।

(दूलह)

व्याजस्तुति तथा लेश का विषय-पृथक्करण—कुवलयानंदकार ने लिखा है कि—व्याजस्तुति (नं० ३०) में वाच्यार्थ से विपरीत अर्थ होता है । इधर लेश मे आंशिक दोष या आंशिक गुण के कारण पूर्ण दोष या गुण की स्थिति की कल्पना होती है ।

लेश में पृथक् अलंकारता है या नहीं—उद्योतकार लेश को विशेष (न० ४३) के अंतर्गत मानते हैं, किंतु इन दोनो का मेल नहीं बैठता ।

इस अलंकार का कुछ मेल अनुज्ञा (न० ७०) से बैठता है, और यदि इसे उसका एक भेद मानें, तो विशेष दोष नही ।

मुद्रा (७२)

मुद्रा—मे प्रस्तुत पदों में और भी सूचनीय अर्थ निकलता है । यथा—

हँसि हँसि पहिराई आपनी फूलमाला ;
भुज गहि गहिराई प्रेम-बीची बिसाला ।

रति-सदन अकेली काम-केली भुलानी ;
नतुमय यह बानी मालिनी की सोहानी।
(देव)

यहाँ मालिन का वर्णन है। उधर कवि मालिनी छंद का भी लक्षण एवं उदाहरण दे रहा है। नतु=नैनू, नवनीत। 'मैं नहीं' यह बानी मालिनी को पसंद आई।

मालिनी छंद में न (नगण), नु (नगण), म (मगण), य (यगण), य (यगण) (ह=है) होते हैं; अर्थात् दो नगण (।।।), एक मगण (SSS) और दो यगण (।SS) रहते हैं। यहाँ 'नतुमय यह' में मुग्धा मालिन का इनकार तथा मालिनी छंद का रूप प्रकट हुए।

मुद्रा मे चमत्कार-हीनता—उद्योतकार का मत है कि इसमें प्रस्तुत का पोषण न होने से कोई विशेष चमत्कार नहीं पैदा होता, जिससे अलंकारता अप्राप्त है। हमारी समझ में भी कुछ ऐसा ही आता है, यद्यपि इतर आचार्यों में से कुछ की सम्मति के कारण इसे अलंकार मे स्थान दे दिया गया है। यही मत कुवलयानंदकार का है। यदि कोई अलंकारता है भी, तो श्लेष (नं० २६)-मात्र की।

रत्नावली (७३)

रत्नावली—में प्रस्तुत वर्णन में किसी अन्य वस्तु का भी प्रसिद्ध क्रम निकलता है। यथा—

सांत नख-रुचि मैं, सिंगार है सिंगारन मै,
घूँघुरू मुखर मृदु हासु-रस बरसैं ;
करुणा भरे हैं प्रभु अदभुत एक, जिन्हैं
बैरी बीर निरखि भयानक से तरसैं।

जामैं देखि परत बिभत्स को अभाव, जाको
रुद्र चख रसिक सुभवन सों परसैं,
अब, तेरे चरनारबिंद्न कबिंद्न को
सुद्ध नवरस के उदाहरन दरसैं।

नौ रसो का नाम इसमें आ गया है।

हाला-सी ललाई तरवानि मैं सहज जाके,
चारु चिकनई है समान घृत-निधि के;
छीर-से धवल नख, नीर-सी बिमल छबि,
कोमल प्रपद की गोराई सम दधि के।
इच्छु रसहू ते है सरस चरनामृत औ'
लवन-समुद्र है लोनाई निरवधि के;
लागे दिन-रात तेरे पग जलजात, मोहिं
बैभव दिखात मातु सातऊ उदधि के।
(रामचंद्र पंडित)

सांत पट म्यान मैं, सिंगार मूठि मैं बिसेखि,
सौति बर बैरिन के हास को गसति है;
करुना बिहीन करि अद्भुत काज ह्वै
भयानक असुर उर अंतर लसति है।
सोनित के पान मैं बिभत्स, चलिबे मैं बीर,
धारि अरुनाई रौद्र-रूप बिलसति है,
भनत 'बिसाल' हाथ राजा रामचंद्रजू के
करबाल नौरस मैं बाल-सी बसति है।

ग्रीषम को आतप तपायो अति भीषम ह्वै,
पावस महान बान-बुंद झरि लाई है;
सरद निसा को दीह दरद न भूले मोहि,
जालिम हिमंत काम करद चलाई है।

भनत 'बिसाल' हौ बची हौं भूरि भागन सों,
राम-राम कै-कै काल्हि सिसिर बिताई है ;
कंत बिनु जानि, मेरो अंत करिबे को आजु
बाजमारे बधिक बसंत की अवाई है।

(विशाल)

रत्नावली मे अन्य अलंकार का चमत्कार-मात्र है—इस अलंकार में किसी अन्य उपमा आदि का मुख्य चमत्कार रहता है, और विशेष क्रम से वर्ण्य विषय का पोषण नहीं होता।

उद्योतकार के अनुसार इसमें कोई पृथक् अलंकारता नहीं, यद्यपि कुवलयानंदकार ऐसा नहीं मानते। अलंकार की मुख्यता वर्ण्य विषय के रंजन पर ही आधारित होने से उद्योतकार का मत ग्राह्य समझ पड़ता है।

तद्गुण (७४)

तद्गुण—में वस्तु निकटवाली वस्तु का गुण—(रंग, रूप, रस, गंध आदि) लेती है। यथा—

तरुन-अरुन एँड़ीन की किरनि-समूह-उदोत—
बेनी-मंडन मुकुत के पुंज-गुंज दुति होत।

(मतिराम)

नीचे को निहारत नगीचे नैन अधर,
दुबीचे दबो स्यामा अरुनाभा अटकन को ;
नीलमनि भाग ह्वै पदुमराग ह्वैकै पुख-
राग ह्वै रहत बिध्यो छूवै निकटकन को।
'देवजू' हँसत दुति दंतन मुकुत होति,
बिमल मुकुट हीरा-लाल गटकन को ;

थिरकि-थिरकि थिर, थाने पर तान तोरि,
बाने बदलत नट मोती लटकन को।

(देव)

यहाँ लटकन के मोती का वर्णन है। कालापन मोती मे आँख की पुतलियो से आया है, तथा लालिमा अधरो से। श्यामता के कारण एक भाग नीलमणि जान पड़ता है, और दूसरा पद्मराग (माणिक्य लाल)। पुखराग (पुष्पराग) सफेद होता है, किंतु कुछ पीलापन भी मारता है। यह रंग सोने से आया है। हँसने पर मोती में दाँतो की आभा पड़कर वह मोती ओठो की सुर्खी से लालपन गटककर हीरा-सा हो जाता है। यहाँ चौथे पद मे रूपकालंकार भी है।

सोनजुही-सी जगमगति अँग-अँग जोबन-जोति,
सुरँग कुसुंभी कंचुकी दुरँग देह-दुति होति।

(बिहारी)

यहाँ यद्यपि कंचुकी ने कही रंग ग्रहण किया, कहीं नही, तथापि तद्गुण ही है।

सबै सुहाए ही लसैं, बसे सुहाए ठाम,
गोरैं मुँह बेंदी लसै अरुन, पीत, सित, स्याम।

(बिहारी)

बेंदी अरुण, पीत, श्वेत तथा श्याम हो जाने से तद्गुण।

देखी सोनजुही फिरति सोनजुही-सों अंग ;
दुति-लपटनु पट सेत हूँ करति बनौटी रंग।

(बिहारी)

बनौटी = कपासी = किंचित् पीला।

श्वेत पट कपासी हो जाने से तद्गुण हुआ।

कर छुए गुलाब दिखाता है, जो चौसर गूँधा बेलो का,
खिच गाल चपई रंग हुआ मुसकान कुंद-रद-केलो का।

दृग स्याह मरीचि लपेटे ही रँग हुआ सोसनी खेली का;
जानी यह अद्भुत भूषण है पँचरगा हार चमेली का।
(शीतल)

कौहर कौल, जपादल बिद्रुम, का इतनी जु बँधूक मैं कोति है;
रोचन रोरी रची मेंहँदी नृप 'संभु' कहै मुकुता-सम पोति है।
पायँ धरे ढरै इँगुरई तिनमैं मनि पयल की घनी जोति है;
हाथ द्वै-तीन लौं चारिहू ओर ते चाँदनी चूनरी के रँग होति है।
(नृप शंभु)

जो चाँदनी बिछी है, उसमें चूनरी का रंग आ जाता है।

जाहिरै जागति सी जमुना जब बूड़ै, बहै, उमहै वह बेनी;
त्यों 'पदुमाकर' हीरा के हारन गंग-तरंगनि की सुखदेनी।
पायन के रँग सों रँगि जाति-सी भाँति-ही-भाँति सरस्वति-सेनी;
पैरै जहाँई, जहाँ वह बाल, तहाँ-तहाँ ताल मैं होति त्रिबेनी।
(पद्माकर)

सेनी=सेवन करनेवाली। जाहिरै जागति=महिमा-युक्त है।

अधर धरत हरि के परत ओंठ-दीठि-पट-जोति,
हरित बाँस की बाँसुरी इंद्र-धनुष-रँग होति।
(बिहारी)

सूचना—उल्लास और तद्गुण का भेद देखो अतद्गुण (नं० ७६) में।

कुछ और उदाहरण लिखे जाते हैं—

तजि तीरथ हरि-राधिका-तन-दुति करि अनुराग,
जेहि बन केलि-निकुंज-मग पग-पग होत पराग।
(बिहारी)

पंपा, मानसर आदि अगन तलाब लागे
जेहिके परन मैं अकथ जुत गथ के;

'भूषन' यों साज्यो रायगढ़ सिवराज, रहे
देव चक चाहिकै बनाए राजपथ के।
बिनु अवलब कलिकान आसमान मैं ह्वै
होत बिसराम जहाँ इंदु औ उदथ के;
परम उतग मनि-जोतिन के संग आनि
कैयो रंग गहत तुरंग रबि-रथ के।
(भूषण)

जुत गथ के=युतगथ=जिनके साथ गाथाएँ लगी हुई हैं, अर्थात् जो पुराण-प्रसिद्ध हैं। लागे परन मैं=पाखो मे चित्रित हैं। रायगढ = शिवाजी की राजधानी का किला। उतंग=ऊँचा। कलिकान=हैरान। उदथ=उदय-अस्त होनेवाला, सूर्य।

पूर्वरूप (७५)

प्रथम पूर्वरूप—मे निकटवर्ती वस्तु का लिया हुआ गुण—(रंग, रूप, रस, गंधादि) छोड़कर कोई अपना पुराना गुण फिर पाता है। यथा—

मुकुत-हार हरि के हिये मरकत मनिमय होत,
पुनि पावत रुचि राधिका मुख मुसकानि उदोत।
(मतिराम)

ब्रह्म के आनन ते निकसे ते अत्यत पुनीत तिहूँ पुर मानी;
राम-जुधिष्ठिर के बरने बलमीकिहु ब्यास के अंग सोहानी।
'भूषन' यों कलि के कबिराजन राजन के गुन पाप नसानी;
पुन्य-चरित्र सिवा सरजा-जस न्हाय पवित्र भई पुनि बानी।

यों सिर पै छहरावत छार हैं, जाते उठैं असमान बगूरे;
'भूषन' भूधरऊ धरकैं, जिनकी धुनि धक्कन यों बल रूरे।

ते सरजा सिवराज दिए कबिराजन को गजराज गरूरे;
सुंडन सों पहिले जिन सोंकिके फेरि महामद सों नद पूरे॥
श्रीसरजा सलहेरिके जूझ घने उमरावन के घर वाले;
कुंभ, चँदावत, सैद, पठान कबधन धावत भूधर हाले।
'भूषन' जे सिवराज कि धाक भए पियरे अरुने रँगवाले;
लोहै कटे लपटे तेई लोहु भए मुँह मीरन के पुनि लाले॥
यो कबि 'भूषन' भाषत है यक तौ पहिले कलिकाल कि सैली;
ता पर हिंदुन की सब राहनि नौरँग साहि करीं अति मैली।
साहितनै सिव के डर सो तुरकौ गहि बारिध की गति पैली;
बेद-पुरानन की चरचा, अरचा दुज-देवन की पुनि फैली।
(भूषण)

उपर्युक्त पाँच उदाहरणो मे से प्रथम और चतुर्थ में रंग की पुन. प्राप्ति है, तथा शेष तीनो मे रूप की।

प्रथम पूर्वरूप में पृथक् अलंकारता होने-न होने में मतभेद—पहले उदाहरण मे वास्तव में दूसरी बार रग पाने से यद्यपि मुक्ता को पूर्वरूप मिल गया, तथापि छद तद्गुण का भी उदाहरण माना जा सकता है। यही दशा पाँचवें से इतर अन्य उदाहरणों मे भी कही जा सकती है। इसीलिये उद्योतकार का मत है कि प्रथम पूर्वरूप तद्गुण में मिलता है।

अप्पय्य दीक्षित (कुवलयानंदकार) इसे अलग अलंकार मानते हैं। साहित्यदर्पणकार भी इसे पृथक् अलंकार नहीं मानते।

हमारी समझ में इसमें पूर्वरूप पाने की मुख्यता है। जब तक किसी और से गुण प्राप्त करके प्राप्तकर्ता पृथक् होता जायगा, तब तक तद्गुण रहेगा, और जब पुराना रूप पा जायगा, तब पूर्वरूप हो जायगा। अतएव दीक्षित के मानने में हमें अनौचित्य नहीं जान पड़ता।

द्वितीय पूर्वरूप—में वास्तविक वस्तु के मिट जाने पर भी दूसरे के कारण गुण (रूप, रस, रंग, गंधादि) का न मिटना रहता है। यथा—

अंग-अंग नग जगमगत दीप-सिखा सी देह;
दिया बढ़ाएहू रहत बड़ो उजेरो गेह।
(बिहारी)

बदन-चंद की चाँदनी देह-दीप की जोति;
राति बितेहू लाल वहि भौन राति-सी होति।
(मतिराम)

नासेहू तम-तोम के सो मोहिं दियो हराय;
लाल, इहाँ तो बिरह की रही अँधेरी छाय।
(वैरीशाल)

द्वितीय पूर्वरूप में पृथक् अलंकारता होने में मतभेद—उद्योतकार का मत है कि यह समाधि अलंकार (नं० ५६) है।

अतद्गुण (७६)

अतद्गुण—में संसर्गवाली वस्तु का गुण (रंग, रूप, रस, गंधादि) नहीं ग्रहण किया जाता। यथा—

सिव सरजा की जगत मैं राजति कीरति नौल;
अरि-तिय दृग-अंजन हरै, तऊ धौल की-धौल।
(भूषण)

दीनदयालु, दुनी-प्रतिपालक जे करता निरम्लेच्छ मही के;
'भूषन' भूधर उद्धरिबो सुने और जिते गुन ते सब जी के।
या कलि मैं अवतार लियो तऊ, तेइ सुभाय सिवाजि बली के;
आनि धरयो हरि सों नर-रूप, पै काज करे सिगरे हरि ही के।
(भूषण)

शिवाजी थे विष्णु, जिन्होंने नर-रूप धारण तो किया, किंतु कार्यों में हरि ही बने रहे, जिससे नरत्व के गुण उन्होंने न लिए।

सिवाजी खुमान तेरो खग्ग बढ़े, मान बढ़े,
मानस लौं बदलत कुरुख उछाह ते;
'भूषन' भनत क्यों न जाहिर जहान होय,
प्यार पाय तो से ही दिपत नरनाह ते।
परताप फेटो रहो, सुजस लपेटो रहो,
बरनत खरो नर पानिप अथाह ते;
रग-रंग रिपुन के रकत सों रँगो रहै,
रातो-दिन रातो, पै न रातो होत स्याह ते।
(भूषण)

लाल बाल अनुराग ते रँगत रोज सब अंग,
तऊ न छोड़त रावरो रूप साँवरो रंग।
(मतिराम)

अनुराग लाल रंग का माना गया है।

उयो सरद् राका ससी, छायो भुवन प्रकास,
तऊ कुहू रजनी करति वाके नैननि बास।
(वैरीशाल)

विशेषोक्ति, विषम, अतद्गुण, उल्लास, अवज्ञा तथा तद्गुण का विषय-विभाजन—विश्वनाथ का कथन है कि विशेषोक्ति (नं० ३४) में कारण के रहते हुए भी कार्य न होने का चमत्कार है, और यहाँ रंगादि न लेने में अलंकारता है। विषम (नं० ३७) में वर्णांतर (विरुद्ध रंग) की उत्पत्ति होती है, परंतु अतद्गुण में केवल रंग ग्रहण नहीं किया जाता। कुवलयानंद में आया है कि उल्लास (नं० ६८) और अवज्ञा (नं० ६९) के लक्षणों में आया हुआ गुण शब्द दोष का प्रतिपक्षी, परंतु तद्गुण

और अतद्गुण के लक्षणों में गुण शब्द रंग, रूप, रस, गंधादि का वाची है। अतः दुर्गुण या सुगुण का ग्रहण या न ग्रहण होना जहाँ कहा गया हो, वहाँ उल्लास या अवज्ञा होती है, और जहाँ इतर गुणों का ग्रहण या न ग्रहण करना कहा गया हो, वहाँ तद्गुण या अतद्गुण जानना चाहिए। इतना ही भेद है।

अनुगुण (७७)

अनुगुण—में निकटता के कारण किसी के स्वाभाविक गुण की वृद्धि होती है। यथा—

फूलन के भूषण सरोजमुखी साजि बैठी,
फूलन सुबास सोभा सौगुनी पसारी है।
(दूलह)

साहितने सरजा सिवा के सनमुख आय
कोऊ बचि जाय न गनीम भुज-बल मैं;
'भूषन' भनत भौंसिला की दिल दौर सुनि
धाक ही मरत म्लेच्छ औरँग के दल मैं।
रातौ-दिन रोवति रहति यवनी हैं, सोक
परोई रहत दिल्ली, आगरे सकल मैं;
कज्जल-कलित अँसुवान के उमग सग
दूनो होत रोज रग जमुना के जल मैं।
(भूषण)

मनि-मानिक-मुकुता-छबि जैसी,
अहि, गिरि, गज-सिर सोह न तैसी।
नप-किरीट, तरुनी-तन पाई—
लहहिं सकल सोभा अधिकाई।
(गो० तुलसीदास)

ऐसे ही इन कमल-कुल जीति लियो निज रंग ;
कहा करन चाहत चरन लहि अब जावक-संग ।
(वैरीशाल)

अनुगुण में पृथक् अलंकारता नहीं—अनुगुण के रूप में रंग, रूप, रस, गंधादि के अतिरिक्त दुर्गुण और सुगुण भी सम्मिलित हैं । चंद्रालोक का उदाहरण नीचे लिखा जाता है—

नील नलिन अति नीलता तिय-कटाच्छ को पाय ;
(चंदन)

यहाँ कटाक्ष का रंग नील कमल में आ गया । यही बात तद्गुण (नं० ७४) में भी होती है । भेद केवल इतना है कि यहाँ नील रंग था कमल में भी, सो यह पृथक् अलंकारता का साधक नहीं है, ऐसा मत उद्योतकार का भी है ।

इस अलंकार (अनुगुण) में कहीं उल्लास (नं० ६८) होता है, और कहीं तद्गुण (नं० ७४) । यथा—

मज्जन - फल पाइय ततकाला ,
काक होहिं पिक, बकहु मराला ।
(गो० तुलसीदास)

यहाँ वक के मराल होने में रंग-वृद्धि अनुगुण है, किंतु मज्जन-फल द्वारा गुण-वृद्धि से उल्लास भी है ।

सुनि स्वामी के बचन सकल जोधा उमदाने ;
जंग जुरन के हेत चाव भरिकै ललचाने ।
उतकंठित हे जौन समर के हित पहले ही ,
सुनत बचन ते भए जग के अधिक सनेही ।
ज्यों ज्वलित अनल में घृत परे तेज परम दारुन बढत ,
त्यों ही बीरन के बदन पर निरखि परो साहस चढत ।

एक-एक सों मिले होत ग्यारह जेहि भाँती ,
त्यों साहस, उतसाह मिले बीरन की पाँती ।
जगमगाय तहँ उठी भानु-सम तेजस रासी ,
छिन-छिन परमा जासु परम रमनीय प्रकासी ।
(मिश्रबंधु)

मीलित (७८)

मीलित— मे सादृश्य के कारण दो वस्तुओं का मिलकर एक रूप हो जाना रहता है । यथा—

बरन, बास, सुकुमारता सब बिधि रही समाय ;
पखुरी लगी गुलाब की अंग न जानी जाय ।
(बिहारी)

इंद्र निज हेरत फिरत गजइंद्र अरु
इंद्र को अनुज हेरै दुग्गधि - नदीस को ,
'भूषन' भनत सुर-सरिता को हंस हेरै ,
बिधि हेरै हंस को, चकोर रजनीस को ।
साहितने सिवराज करनी करी है तैं जु,
होत है अचंभो देव कोटियो तैतीस को ;
पावत न हेरे तेरे जस मै हेराने, निज
गिरि को गिरीस हेरै, गिरिजा गिरीस को ।
(भूषण)

दुग्गधि-नदीस - दुग्ध-समुद्र । इंद्र को अनुज = विष्णु भगवान् ।
यश का रंग सफेद है, जिसमें इतर श्वेत वस्तुएँ ऐसी मिल गई हैं कि ढूँढे नहीं मिलतीं ।

भई जु छबि तन-बसन मिलि बरनि सकै सु न बैन ,
आँग - ओप आँगी दुरी, आँगी आँग दुरै न ।
(बिहारी)

"आँगी आँग दुरै न" से अभिप्राय है कि एकरूपता हो जाने के कारण ऐसा प्रतीत होता है, मानो अँगिया पहने ही नहीं है।

पान - पीक अँखियानि मैं लखी, लखी नहिं जाय,
कजरारी अँखियानि मैं कजरा री न लखाय।
(कस्यचित्कवेः)

बोहैं जहाँ मगु नंदकुमार, तहाँ चली चंदमुखी सुकुमार है,
मोतिन ही के किए गहने सब, फूलि रही जनु कुंद कि डार है।
भीतर ही जु लही, सु लखी, अब बाहिर जाहिर होति न दार है,
जोन्ह-सी जोन्है गई मिलि यों, मिलि जाति ज्यों दूध मैं दूध कि धार है।
(सुखदेव)

सामान्य (७९)

सामान्य—में अनेक पृथक् वस्तुओं के एक ही रूप होने से यह नहीं ज्ञात होता कि कौन वस्तु क्या है ? यथा—

पैन्हे सेत सारी बैठी फानुस के पास प्यारी,
कहत बिहारी प्रानप्यारी धौं किते गई ?
(दूलह)

चंदन की चौकी चारु पड़ा था सोता सब गुन जटा हुआ;
चौके की चमक, अधर-बिहँसनि, मानो इक दाड़िम फटा हुआ।
ऐसे में गहन समै 'सीतल' यक ख्याल बड़ा अटपटा हुआ;
भू-तल से नभ, नभ से अवनी अग उछलै नट का बटा हुआ।
(शीतल)

यहाँ व्यंग्य से अलंकार है।

सारी जरतारी की झलक झलकति, तैसो
केसरि को अंगराग कीन्हों सब तन मैं;
तीछन तरनि की किरनि मैं दुगुन जोति
जागति जवाहिर - जटित आभरन मैं।

कबि 'मतिराम' आभा अगन अनगन की,
धूम कैसी धारा छबि छाजति कचनि मै ,
ग्रीषम दुपहरी मे हरि को मिलन चली
जानी जाति नारि न दवारि-जुत बन मै ।
(मतिराम)

यहाँ पहले उदाहरण मे फानूस और स्त्री, ये दो पृथक् हैं, किंतु इनका भेद लख नही पडता। तीसरे उदाहरण में दावाग्नि और नायिका दो पृथक् वस्तुएँ हैं, जिनका भेद विदित नही होता। दूसरे उदाहरण मे भी दावाग्नि और नायिका अलग-अलग हैं, परंतु उनको देखकर यह नहीं ज्ञात होता कि कौन वस्तु क्या है ?

सामान्य और मीलित में भेद—सामान्य मे दोनो वस्तुएँ पृथक्-पृथक् रहती हैं, और मीलित में मिलकर एक ही हो जाती हैं, यह भेद है।

उन्मीलित (८०)

उन्मीलित—में किसी प्रकार वस्तु का मीलित से फिर पृथक् होना कहा जाता है। यथा—

सिख-नख फूलन के भूषन बिभूषित कै,
बाँधि लीन्हीं बलया, बिगत कीन्हीं बजनी ,
तापर सँवारि स्वेत अंबर को डंबर
सिधारी स्याम सन्निधि, निहारी कोऊ न जनी ।
छीर के तरंग की प्रभा को गहि लीन्हीं तिय,
कीन्ही छीर-सिंधु छिति कातिक की रजनी ,
आनन-छटा सों तनु छाँह हूँ छिपाए जाति,
भौंरन की भीर संग ल्याए जाति सजनी ।
(दास)

शुक्लाभिसारिका का वर्णन है। चाँदनी मे नायिका सब प्रकार मे मिल गई है, किंतु उसके पद्मिनी होने मे भौंरों की भीर से सखी उसे पहचान लेती है। यही उन्मीलित है।

बलया = कंकण या चूड़ी। बजनी = बजनेवाला जेवर। डंबर = आडंबर· समूह।

चंपक तन धन बरन बर रह्यो रंग मिलि रंग,
जानी जाति सुबास ही केसरि लाई अंग।

(बिहारी)

धन = धन्या नायिका।

डीठि न परत समान दुति कनकु कनक-से गात;
भूषन कर करकस लगत, परसि पिछाने जात।

(बिहारी)

कनक के समान गात मे कनक (स्वर्ण) के भूषण केवल स्पर्श से पहचाने जाते हैं।

मिलि चदन बेंदी रही, गोरे मुख न लखाति;
ज्यों-ज्यों मद-लाली चढै, त्यों-त्यों उघटत जाति।

(बिहारी)

सरद चाँदनी मै प्रकट होत न तिय के अंग;
सुनत मंजु मंजीर-धुनि सखी न छोडत संग।

(मतिराम)

सिव सरजा तव सुजस मैं मिले धौल छबि तूल;
बोल बास ही जानिए हंस चमेली फूल।

· (भूषण)

उन्मीलित में पृथक् चमत्कार — उद्योतकार का कथन है कि थोड़े-से अंतर के होने से भी है यहाँ भी मीलित ही, किंतु इसका चमत्कार पृथक् भी है। जैसा कि उदाहरण के तीसरे और चौथे पद्य में स्पष्ट है।

विशेषक (८१)

विशेषक सामान्य (नं० ७६) में जहाँ किसी कारण-वश भेद खुल जाय, वहाँ विशेषक होता है। यथा—

कातिक पून्यो कि राति ससी दिसि पूरब अबर मैं जिय जान्यो ,
चित्त भ्रम्यो पुर्ननिदु मनिंदु फनिदु उठ्यो भ्रम ही सो भुलान्यो ।
'देव' कछू बिसवास नहीं, सोइ पुंज प्रकास अकास मैं तान्यो ,
रूप-सुधा अँखियानि अँचै निहिचै मुख राधिका को पहिचान्यो ।

(देव)

पुर्ननिदु = पूर्ण + इंदु, पूर्णेंदु । मनिंदु फनिदु = चंद्रकांत सी मणि धारण करनेवाला सर्प । अँचै = पान करके ।

यहाँ प्रथम दो पदों में भ्रांतिमान (नं० ६७) अलंकार है, क्योंकि राधा के मुख में नायक को चंद्र का भ्रम हुआ, किंतु जब मणि-मंडित केश-पाश देखा गया, तब निश्चय-पूर्वक देखकर राधा का मुख चंद्र से पृथक पाया गया।

अहमदनगर के थान किरवान लैकै
नवसेरी खान ते खुमान भिरो बल ते ;
प्यादेन सों प्यादे, पखरैतन सो पखरैत,
बखतरवारे बखतरवारे हलते ।
'भूषन' भनत एते मान घमसान भयो,
जान्यो न परत कौन आयो कौन दल ते ,
सम बेष ताके तहाँ सरजा सिवा के बाँके
बीर जाने हाँके देत मीर जाने चलते ।

(भूषण)

विशेषक में पृथक् चमत्कार है या नहीं—उद्योतकार उन्मीलितवाले विचार के समान इसे भी सामान्य से पृथक् नहीं मानते। इस विचार में मतभेद पड़ सकता है।

गूढ़ोत्तर (८२)

गूढ़ोत्तर—में किसी को अभिप्राय-युक्त संभव उत्तर दिया जाता है। यथा—

बाग ही मै पथिक बसेरो होत आयो है।

(दूलह)

यहाँ स्वयं दूतीपन का प्रयोजन है।

घाम घरीक निवारिए कलित ललित अलि-पुंज;
जमुना तीर तमाल तर मिलत मालती-कुंज।

(बिहारी)

मम्मट के द्वितीय उत्तर से पार्थक्य—इसमे असंभव उत्तर नहीं होते। यह मम्मट के द्वितीय उत्तर से भेद है।

बाल कहा लाली परी लोयन कोयन माँह,
लाल, तिहारे दृगन की परी दृगन मैं छाँह।

(बिहारी)

चित्रोत्तर (८३)

प्रथम चित्रोत्तर—मे प्रश्न ही उत्तर भी होता है। यथा—

प्रश्न—को करत कामनी को सदा मन भायो है?
उत्तर—कोक-रत कामिनी को सदा मन भायो है।

(दूलह)

इस अलंकार के लिये उन्ही शब्दो का दोहराया जाना आवश्यक नहीं, जैसा ऊपर हुआ है। मतलब किसी प्रकार उत्तर मिलने से है।

सरद चंद्र की चाँदनी को कहिए प्रतिकूल?
सरद चंद्र की चाँदनी कोक हिये प्रतिकूल।

(मतिराम)

द्वितीय चित्रोत्तर—मे कई प्रश्नों का एक ही उत्तर होता है। यथा—

को मख-पालक ? दीन्हो मुनि-तिय रूप ?
माल मैथली केहि गर ? राम अनूप।

यहाँ तीनो प्रश्नो का उत्तर एक ही है।

को हरि-बाहन ? जलधि-सुत ? को है ज्ञान-जहाज ?
तहाँ चतुर उत्तर दियो एक बचन दुजराज।
(मतिराम)

दुजराज=गरुड़, चंद्रमा, ब्राह्मण।

तीनो प्रश्नो के यही तीन अर्थ एक दूसरे के पीछे क्रम से उत्तर हैं।

राधा रहति कहाँ ? कहो, को है सुरपति धाम ?
रुचिर हिये पर को लसै ? कही उर बसी स्याम।
(रामसिंह)

राधा हृदय मे बसी है, इंद्र के यहाँ उर्वशी अप्सरा है, तथा हृदय पर उरबसी आभूषण रहता है।

कौन करै बस बस्तु ? कौन यैहि लोक बड़ो अति ?
को साहस को सिंधु ? कौन रजलाज धरे मति ?
को चकवा को सुखद ? बसै को सकल सुमन महि ?
अष्ट सिद्धि, नव निद्धि देत माँगे बिनु सो कहि ?
जग बूझत उत्तर देत इमि कबि 'भूषन' कबि-कुल-सचिव ;
दच्छिन नरेस सरजा सुभट साहिनंद मकरंद सिव।
(भूषण)

उत्तर (८३ अ)

(काव्य प्रकाश के मत से)

प्रथम उत्तर—मे उत्तर से ही प्रश्न की कल्पना की जाती है।

द्वितीय उत्तर—जहाँ अनेक प्रश्नों के अनेक असंभाव्य

(अप्रसिद्ध) उत्तर दिए जायँ, वहाँ उत्तर का दूसरा भेद होता है। यथा—

प्रथम उत्तर—

> व्याघ्र-चर्म अरु दुरद-रद कहाँ हमारे गेह ;
> जब लौं बसती है यहै पुत्र-बधू जु सुदेह।
> (मुरारिदान)

ये लक्षण और उदाहरण काव्यप्रकाश के मत पर दिए गए हैं। साहित्यदर्पण और सर्वस्वकार का भी यही मत है। उदाहरण में उत्तर से इस प्रश्न की कल्पना की जाती है कि "क्या तुम्हारे यहाँ व्याघ्र-चर्म और हाथी दाँत हैं ?" पहले पद मे उत्तर है "नहीं", तथा दूसरे में यह शिकायत है कि स्त्री मे विशेष अनुरक्ति के कारण बेटा कमाने को बाहर जाता ही नहीं, ऐसी बहुमूल्य वस्तुएँ आएँ कहाँ से ?

उत्तर अनुमान तथा काव्यलिंग मे भेद—काव्यप्रकाश की वृत्ति में आया है कि यहाँ काव्यलिंग (न० ४६) अलंकार नहीं है। उसमें जनक (कारक) हेतु होता है, तथा उत्तरालंकार के उत्तर में प्रश्न का केवल ज्ञापक (ज्ञान करानेवाला) हेतु रहता है। अनुमान (नं० १०६) भी नहीं है, क्योंकि उसमें एक पक्ष में साध्य और साधन भाव रहते हैं। ये साध्य प्रश्न और साधन उत्तर दोनो दो पक्षों मे नहीं रहते। मतलब यह कि अनुमान में साध्य और साधन, दोनो एक ही व्यक्ति द्वारा कहे जाते हैं, तथा उत्तर मे भिन्न-भिन्न व्यक्तियो द्वारा।

मम्मट का कहना है कि उपर्युक्त कारणों से प्रथम उत्तर को पृथक् अलंकार ही मानना ठीक है। आप गूढ़ोत्तर एवं चित्रोत्तर का वर्णन करते ही नहीं, केवल उत्तर के उपर्युक्त दो भेद मानते हैं।

विश्वनाथ अनुमान से इसमें यह भेद बतलाते हैं कि उसमें

साध्य और साधन, दोनो ही कथित रहते हैं; किंतु इसमे साध्य प्रश्न कथित नहीं रहता।

प्रथम उत्तर में चमत्काराभाव—उत्तर से प्रश्न की कल्पना करने में कोई चमत्कार नहीं, क्योंकि उत्तर किसी प्रश्न का ही दिया जाता है। अतएव जहाँ-जहाँ उत्तर होता है, वहाँ-वहाँ प्रश्न का भी होना सिद्ध ही है। ऐसा लौकिक होने से चमत्कार-पूर्ण नहीं है। विमर्शिनी (सर्वस्व की टीका) मे भी यही मत कथित है।

चले जात, टिकिहौ कहाँ, गोकुल है अति दूरि ;
नदी-नार आगे अधिक, सबै रहे जल पूरि।

(भूपति)

इस उत्तर मे किसी का यह पूछना निहित है कि "गोकुल कितनी दूर है ?"

उत्तर (८३ आ)

द्वितीय उत्तर—

क्या दुरलभ ? गुणग्रहक जू, सुख जु कहा ? सुकलत्र ;
है जु विषम क्या ? देव-गति, दु:ख क्या ? खलजन यत्र।

(मुरारिदान)

यह काव्यप्रकाश का अनुवाद है। यहाँ चार प्रश्न तथा उनके उत्तर हैं। इन प्रश्नो के प्रसिद्ध उत्तर अन्य हैं, और अप्रसिद्ध उत्तरो से चित्त में आश्चर्य-सा उत्पन्न होता है, जिसमें चमत्कार का अनुभव प्राप्त है।

सुंदरि ! कस तन दूबरो ? पर तिय बातन काह,
तदपि कहौ ? कहिहै पथिक ! जाके तुम हो नाह।

(रसाल)

यह रसगगाधर का अनुवाद है। प्रथम प्रश्न से व्यंग्य है, मैं दुःख का उपाय करूँगा, और उत्तर से व्यंग्य है, मै पतिव्रता हूँ, तू उसका उपाय नहीं कर सकता। दूसरे प्रश्न से यह व्यंग्य है, कदाचित् कर सकूँ

(सुझा-बुझाकर), और उत्तर मे व्यंग्य है, जब तुम अपनी स्त्री का न कर सके, तो हमारा क्या करोगे ?

विशेष—काव्यप्रकाश की टीका प्रभा में आया है कि यहाँ उत्तर सामान्य मनुष्यों के बुद्धि-ग्राह्य होने चाहिए। उसका कहना है, ऐसा न मानने से परिसंख्या (नं० ५२) मे द्वितीय उत्तर में भेद ही न रहेगा। परतु उस परिसख्या) मे सामान्य बुद्धि के परेवाले उत्तर नहीं होते, और उत्तर मे सामान्य बुद्धि के परेवाले उत्तर होते हैं।

परिसख्या तथा द्वितीय उत्तर की पृथक्ता—प्रश्नवाली परिसख्या के उत्तर से उसके अन्य वस्तु से हटाने मे चमत्कार है, परतु उत्तर मे ऐसा नहीं होता, यह भेद है। ऐसा काव्यप्रकाश की वृत्ति मे लिखा है।

द्वितीय उत्तर मे मतभेद—पडितराज का मत है कि जहाँ एक ही प्रश्न और एक ही उत्तर हो, वहाँ भी द्वितीय उत्तर की सिद्धि हो जाती है। यह आवश्यक नही कि कई प्रश्न और कई उत्तर हों। यह मत मान्य समझ पड़ता है। अतः हमारे उत्तर के लक्षण से अनेकता का विचार हटा देना चाहिए।

तृतीय उत्तर—प्रश्न का असभव उत्तर दिए जाने पर होता है। हमारे मत मे उत्तर अलंकार के तीन भेद मानने चाहिए—प्रथम गूढ़ोत्तर, द्वितीय चित्रोत्तर (दो भेद युक्त) और तृतीय काव्यप्रकाश का उत्तर द्वितीय भेद।

हमारी समझ मे उत्तर के प्रथम भेद मे अलंकारता नही है।

सूचना—यहाँ गूढ़ोत्तर और चित्रोत्तर के जो अलग-अलग नंबर दिए गए हैं, वे काटे इसलिये नहीं जाते कि जो नबर हम कवि-कुल-कंठाभरण मे दे आए है, उनसे मिलाने के लिये भेद न पड़े। अतः हमारे मत से (१) गूढ़ोत्तर, (२) चित्रोत्तर के दो भेद, और

(३) तृतीय उत्तर का एक भेद (काव्यप्रकाश के मतवाले उत्तर का द्वितीय भेद, जिसमें प्रश्न का असंभव उत्तर दिया जाता है) सब मिलाकर ४ हो जाते हैं ।

यहाँ गूढोत्तर मे जहाँ तक देखा गया, संभव उत्तर दिए जाते हैं, और मम्मट के द्वितीय उत्तर मे असंभव । इतना ही भेद है । अतः यदि इन दोनो को मिलाकर इस गूढोत्तर का इस प्रकार लक्षण कर दिया जाय तो सब झंझट निपट जाता है ।

गूढ़ोत्तर का इस ग्रथकर्ताओं का लक्षण—किसी प्रश्न का अभिप्राय-युक्त सभव या असंभव उत्तर देना गूढ़ोत्तर अलकार है। संभव यथा—

कपि कौन तू ? सुत अच्छय-घातक, कौन बल ? रघुनाथ के ,
रघुनाथ को ? खरदूषणांतक, अनुज लच्मण साथ के ।
लखमन सु को ? तव भगिनि जानति, परशुधर-मद जेहि हरयो ,
वह परशुधर को ? सहसभुज-रिपु, दीप जेइ तुव सिर धरयो ।
पठवा तु केइ ? सुग्रीव, को ? हरि बालि-सोदर जानिए ;
कपि बालि को ? तुम रह्यो जाकी काँख मै, सुधि आनिए ।

(केशव)

यहाँ हर चरण मे रावण हनुमान् मे इस प्रकार का प्रश्न करते हैं, जिसका उत्तर उनको ऐसा देना ही हो, जिसमे उन्हे लज्जित होना पड़े, परंतु वह उसका संभव और उन्हे लजित करनेवाला उत्तर देते हैं ।

ग्वालिन देहुँ बताइहौ, मोहि कछुक तुम देहु ;
बंसीबट की छाँह मैं लाल जाय लखि लेहु ।

(मतिराम)

यहाँ भी संभव उत्तर है ।

यह निसि बन जैबो सखिनि सुनि उपज्यो चित चाव ;

(रसिक सुमति)

बेतस-वृंद जहाँ पथिक, तहाँ सरित तरि जात।

(चंदन)

संग छोड़ि सिगरी गईं सजि-सजि साज-पटोर ;
गोबरधन पूजन भटू हौं जैहौ उठि भोर।

(ऋषिनाथ)

'दासजू' न्योते गईं कछु घोस को, कालिह ते ह्यों न परोसिन्यो आवति;
हौं ही अकेली कहाँ लौं रहौ इन आँधी अँधानि को ज्यों बहरावति।
प्रीतम छाइ रह्यो परदेस, अँदेस यहै जु संदेस न पावति,
पंडित हौ, गुन-मंडित हौ, रहि जाव तुम्हैं सुगनौतिऔ आवति।

(दास)

इन सब उदाहरणों में संभव ही उत्तर दिए गए हैं। अत. यद्यपि आचार्यों ने इसके लक्षण में संभव नहीं लिखा है, तथापि हमने अपनी ओर से इतना बढा दिया। असभव यथा—

मरन कहा ? जु दरिद्रता, स्वर्ग कहा ? बर नार ;
क्या आभूषन नरन कौ ? जस जानहु निरधार।

(मुरारिदान)

सूक्ष्म (८४)

सूक्ष्म—में पराया मतलब जानकर साभिप्राय चेष्टा द्वारा उत्तर दिया जाता है। यथा—

लाल सखीन मैं बाल लखी 'मतिराम' भयो उर आनँद भीनो ,
हाथ दुहून सो चपक गुच्छन लै हिय बीच लगाय कै लीनो।
चदमुखी मुसुकाय मनोहर हाथ ,उरोजनि अंतर दीनो ;
आँखिन मूँदि रही मिसि कै, मुख ढाँपि निचोल को अंचल कीनो।

(मतिराम)

चंपक-गुच्छों को हृदय से लगाने का प्रयोजन स्पर्शेच्छा है। नायिका द्वारा हृदय पर हाथ रक्खे जाने में यह जतलाया गया कि नायक उसके हृदय में बसता है, तथा चतुर्थ चरण की चेष्टा में रात्रि में मिलन का संकेत है। जब आँख (कमल) बंद हो, तथा कपड़े से (शयनार्थ) मुख ढका हो, या चंद्र अस्त हो चुका हो।

कोस मैं चलायो कर-कमल को कोस है।

(दूलह)

कर-कमल का कोस (बंद मुट्ठी) कोस (कोछे) में चलाया। प्रयोजन यह है कि नायक का प्रेम बंद मुट्ठी में भरकर उसे हृदय से लगाया। यह भी प्रयोजन हो सकता है कि कमल बंद होने पर (रात में) मिलन होगा।

सूक्ष्म केवल व्यंग्य का विषय है—अलंकार की मुख्यता भाषा-संबंधी सौंदर्य-विवर्द्धन की है, जो बात यहाँ है नहीं, क्योंकि सूक्ष्म में इंगित-मात्र है। अतएव यह व्यंग्य में जाता है।

पिहित (८५)

पिहित—में पराई बात जानकर वह चेष्टा से प्रकट की जाती है।

किसी के ढके (छिपे) वृत्तांत को जानकर अथच ढककर उसे जतलाना कि हम तुम्हारा भेद जान गए, पिहित की मुख्यता है। इसका शाब्दिक अर्थ है "ढक लेना।" यथा—

पी को लखि स्रमित उतारयो पखापोस है।

(दूलह)

पंखापोश उतारने से प्रयोजन यह निकलता है कि पंखा हाँकने की ऋतु न थी, जिससे वे बंद रक्खे थे। ऐसे समय में श्रमित-मात्र कहकर

प्रस्वेद से व्यभिचारी भाव का बोध पंखापोश उतारने की क्रिया से कराया गया है। व्यभिचारी को सात्विक अथवा तनसंचारी भी कहते हैं।

बिथुरे कच, सरवट बसन समुझि सखी मुख मोरि—
दई तरुनि को बिहँसिकै अरुण पाट की डोरि।
(सोमनाथ)

सखी ने बिथुरे केश तथा सिकुरन-युक्त कपड़ों से सुरति-चिह्न ताड़कर, हँसकर लाल डोरा बाल बाँधने को दिया। इसमें भी क्रिया से भाव प्रकट किया गया है।

आनि मिल्यो अरि यों गह्यो चखनि चकरा चाव ;
साहितनै सरजा सिवा दियो मुच्छ पर ताव।
(भूषण)

विशेष—सूक्ष्म (नं० ८४) के विषय में ऊपर जो व्यंग्य का विचार प्रकट किया गया है, वह पिहित पर भी लागू है।

इस अलंकार का लक्षण कुवलयानंद के मत पर दिया गया है।

रुद्रट का पिहित—परंतु रुद्रट दूसरा ही लक्षण मानते हैं। अर्थात्—

यत्रातिप्रबलतया गुणः समानाधिकरणमसमानम् ,
अर्थान्तरं पिदध्यादाविर्भूतमपि तत्पिहितम्।

तात्पर्य यह है कि किसी वस्तु में रहता हुआ गुण अन्य स्थान पर रहनेवाली वस्तु को भी ढक ले, तो पिहित होता है। यथा—

बिद्रुम और बँधूक, जपा, गुललाला, गुलाब की आभा लजावति ,
'देवजू' कंज खिले टटके, हटके भटके खटके गिरा गावति।
पावँ धरै अलि ठौर जहाँ, तेहि ओर सों रंग की धार-सी धावति ;
मानो मजीठ की माठुरी लै यक ओर ते चाँदनी बोरति आवति।
(देव)

बिद्रुम=मूँगा । बँधूक=दुपहरिया (लाल फूल) । जपा=गुड़हर । माठुरी=हाँडी । चाँदनी=बिछाने का कपड़ा ।

यदि वाणी चरणों की समता नवीन कमल से भूलकर दे, तो खटके मे पड़कर हटक दी जाय (मना की जाय)। पैरों मे इतनी लालिमा है, मानो मजीठ (अरुण रंग) की हाँडी लेकर बिछौने को रँगती चली जाती है। मजीठ की लकड़ी मे लाल रंग बनाया जाता था। यहाँ पैर का रंग बिछौने पर भी प्रभाव फैलाता है, जिससे अलंकार निकलता है।

चाली सो आई नई दुलही, लखिबे को जबै कोउ चाव बढ़ावति ;
मूही सजी सिर सारी जबै, तब नायनि आपने हाथ ओढ़ावति।
भीतर भौन ते बाहेर लौ 'दुजदेव' जोन्हाई कि धार-सि धावति,
साँझ समै ससि की-सी कला उदयाचल सों मनो घेरति आवति।

(द्विजदेव)

मूही = लाल। यहाँ भी यही भाव है।

पिहित मे पृथक् अलंकारता नहीं—ये दोनो उदाहरण तद्गुण (नं० ७४) के हो जाते हैं, जिससे रुद्रट के अनुसारवाला पिहित पृथक् अलंकार नहीं रह जाता। पहले लिखा हुआ लक्षण मानने से व्यंग्य में जाता है। अतएव दोनो प्रकार से पिहित को पृथक् अलकारता मिलनी कठिन है।

व्याजोक्ति (८६)

व्याजोक्ति—मे विना बतलाए रहस्य के खुल जाने पर दूसरी बात बतलाकर उसका गोपन किया जाता है। यथा—

सिवा-बैर औरँग-बदन लगी रहै नित आहि ;
कवि 'भूषन' बूझे सदा कहै देत दुख साहि।

(भूषण)

साहि = शाही, राज्य-भार।

साहिन के उमराय जितेक, सिवा सरजा सब लूटि लए हैं ,
'भूषन' ते बिन दौलति ह्वैकै, फकीर ह्वै देस-बिदेस गए हैं।
लोग कहे, इमि दच्छिन जेइ सिसौदिया रावरे हाल ठए हैं ;
देत रिसायकै उत्तर यों, हम हीं दुनिया सों उदास भए हैं।
(भूषण)

मृग-छौना सुंदर सखी लियो अंक मैं आज ,
खुर की लगी खरौंट उर, अलि ! करु कछुक इलाज।
(सोमनाथ)

यहाँ गुप्ता नायिका का वर्णन है।

व्याजोक्ति और अपह्नुति का विषय-विभाजन—साहित्य-दर्पण के अनुसार व्याजोक्ति और अपह्नुति (नं ११) में यह भेद है कि प्रथम तो उसमें उपमेय भी उक्त रहता है, दूसरे, स्वयं ही वक्ता द्वारा रहस्योद्घाटन किया जाता है, जो बातें व्याजोक्ति में नहीं होतीं।

गूढ़ोक्ति (८७)

गूढ़ोक्ति—में जिससे वास्तव में कुछ कहना हो, उससे न कहकर अन्य से बात कही जाती है। यथा—

गैल गहु बैल ! यहि बारी तें बरकि आयो ;
बारी को रखैया जो रह्यो रे रिस भरिकै।
(दूलह)

यहाँ बैल का संबोधन करके नायक के सचेत करने का अभिप्राय है। हे बैल ! इस बार तू बच आया है, सो अपना रास्ता पकड़, क्योंकि बारी (खेत) का बचानेवाला क्रुद्ध है।

यों न प्यार बिसराइए, लई मोहि तैं मोल ;
मुख निरखत नँदनंद को कहै सखी सो बोल।
(मतिराम

एरे रस-लोभी भ्रमर, सब दिन कियो बिलास ;
साँझ होत तजि कमल को अब करु अनत निवास ।
(रामसिंह)

गूढोक्ति अलंकार नहीं—उद्योतकार ने लिखा है कि गूढ़ोक्ति या तो ध्वनि के अंतर्गत है या गुणीभूत व्यंग्य के। इसमें कथित वाक्य से असली भाव ध्वनित-मात्र होता है। उदाहरण इसके आक्षेप मे आ जाते हैं। इसमें कोई भाषा-संबंधी महत्ता नहीं आती, जिससे अलकार मे इसकी गणना न होनी चाहिए।

गूढोक्ति प्राय. इतर अलंकारो के साथ रहती है। दूसरे उदाहरण में अर्थश्लेष का आभास होने से यहाँ 'प्राय' शब्द कहा गया है।

विवृतोक्ति (८८)

विवृतोक्ति—में गुप्तार्थ व्यंग्य द्वारा कहा जाता और प्रकट भी कर दिया जाता है। यथा—

कहुँ गरजौ, बरसौ कहूँ, कहुँ दरसौ घन स्याम,
कहुँ तरसावत ही रहौ, कहति जनाए बाम।
(रामसिंह)

ऊपर के दोहे में पहले पद में गुप्तार्थ व्यंग्य द्वारा कहा गया, किंतु चौथे पद मे प्रकट भी कर दिया गया।

आई है निपट साँझ, गैया गईं बन माँझ,
ह्वाँ ते दौरि आई, कहै मेरो काम कीजिए ;
हौं तौ हौ अकेली, और दूसरो न देखियत,
बन की अँध्यारी सों अधिक भय भीजिए।
कबि 'मतिराम' मनमोहन सों पुनि-पुनि
राधिका कहति बात साँची कै पतीजिए ;

कब की हौं हेरति, न हेरे हरि, पावति हौं,
बछरा हेरानो, सो हेराय नेकु दीजिए।
(मतिराम)

यहाँ 'बात साँची कै पतीजिए' के कहने मे गुप्त भाव प्रकट किया गया है।

विवृतोक्ति मे वाच्यार्थ को चमत्कृत करने का उपकरण नहीं—इसमे भी गुणीभूत व्यंग्य है, तथा अलकारता नही। जहाँ व्यंग्य प्रधान न होकर गौण (अप्रधान) हो, वहाँ वह गुणीभूत कहलाता है। यही मत उद्योतकार का भी है।

युक्ति (८९)

युक्ति—मे क्रिया द्वारा मर्म छिपाया जाता है। यथा—

देखि सूने सदन मैं ताहि मिलि रोई है।
(दूलह)

यहाँ सूने सदन मे उपपति के साथ देखी जाकर नायिका ने उससे मिलकर रोने से यह प्रकट किया कि वह मायके का संबंधी है।

हरि को पनिघट मै निरखि पुलकित भयो सरीर ;
तिय लै अचल, ओट सों रोक्यो सीत समीर।
(सोमनाथ)

चित्र मित्र को लिखत ही कामिनि सुमति निधान—
निरखि सखी को लिखि दियो कुसुम धनुष कर बान।
(रामसिह)

नायिका उपपति का चित्र लिखती थी, किंतु सखी के भय से उसमें कुसुम के धनुर्बाण लिखकर यह प्रकट किया कि वह कामदेव का चित्र था।

ललन-चलनु सुनि पलनु मै अँसुवा झलके आय,
भई लखाइ न सखिन हूँ झूठैं ही जमुहाय।
(बिहारी)

दुख के आँसू जृंभा लेकर जमुहाई के आसू बतलाए गए।

युक्ति मे वाच्यार्थ को चमत्कृत करने की शक्ति-हीनता—अंतिम दोनो उदाहरणों मे सादृश्य आ जाता है, जिससे चमत्कार मिलता है। प्रारंभिक दो उदाहरणों मे भाषा का कोई चमत्कार नहीं, केवल व्यंग्य है।

लोकोक्ति (९०)

लोकोक्ति—मे कथन मे वक्ता किसी कहावत का उसी अर्थ मे व्यवहार करता है। यथा—

ज्ञान गनंता पौरुष हारै,
'सो जीतै, जो पहिले मारै।'
'रीती भरै, भरी ढरकावै;
जो मन करै, तौ फेरि भरावै।'
यह संसार कठिन रे भाई,
सबल उमडि निरबल को खाई।
छनिक 'राज-संपति के काजै,
बधुन मारत बधु न लाजै।'

(लाल)

पूत मजबूत बानी सुनिकै सुजान मानी,
सोई बात जानी, जासों उर मैं छमा रहै;
जूझ रीतिं जानौ मत भारत को मानौ, जैसो
होय पुठवार ताते ऊन अगमा रहै।
बाम और दच्छिन समान बलवान जानि
कहत पुरान लोक-रीति यों रमा रहै;

'सूदन' समर-घर दोउन की एकै विधि,
'घर मै जमा रहै, तौ खातिरजमा रहै।'
(सूदन)

पुठवार=पृष्टि रक्षक दल। अगमा=अग्रगामी दल।

तैं अब मेरी कही नहिं मानति, राखति है उर जोम कछू री;
सो सबको छुटि जात भटू, जब दूमरो मारि निकारत झूरी।
'बोधा' गुमान-भरी तब लौं, फिरिबो करौ जौ लौं लगी नहि पूरी,
'पूरी लगे लखु सूरन की चकचूर ह्वै जाति सबै मगरूरी।'
(बोधा)

मारि निकारत झूरी = (तलवार आदि) मारकर इतनी जल्दी शरीर से निकाल लेता है कि उसमे काट करके भी खून नही लग पाता—वह सूखी-की-सूखी निकल आती है।

सिव सरजा की सुधि करौ, भली न कीन्हीं पीव;
सूबा ह्वै दक्खिन चले, 'धरे जात कित जीव।'
(भूषण)

मोहन को मुख-चंद लखे बढि आनँद आँखिन ऊपर आवै;
रोम उठै, 'मतिराम' कहै, तन चारु कदंब-लता छबि छावै।
बूझति हौं हितकै सखि तोहिं, कहा रिसकै यह भौहँ चढावै?
'मैं तिन-से गन्यो तीनिहु लोकन', तू 'तिन-ओट पहार छिपावै।'
(मतिराम)

यह चारिहु ओर उदै मुख-चंद की चाँदनी चारु निहारि लै री;
बलि, तो पै अधीन भयो पिय प्यारो, तौ एते बिचार-बिचारि लै री।
कबि 'ठाकुर' चूक परी जो गोपाल सो, तू बिगरी को सुधारि लै री;
फिरि रैहै न रैहै यहै समयो, बहती नदी पाँव पखारि लै री।'

कहिबे की कछु न, कहा कहिए, मग जोवत-जोवत ज्वै गयो री ;
उन तोरत बार न लाई कछू, तन सों बृथा जोबन ख्वै गयो री।
कवि 'ठाकुर' कूबरी के बस ह्वै रस मै बिस-सी बिस ह्वै गयो री ;
मनमोहन को हिलिबो-मिलिबो दिना चारि की चाँदनी ह्वै गयो री।'

यह प्रेम-कथा कहिबे की नहीं, कहिबोई करौ, कोऊ मानत है ;
पुनि ऊपरी धीर धरायो चहै, तन-रोग नहीं पहिचानत है।
कवि 'ठाकुर' जाहि लगीं कमकै, नहि सो कसकै उर आनत है ;
'बिन आपने पाँव बेवाईं गईं, कोऊ पीर पराई न जानत है।'

(ठाकुर)

करौ रखाई नाहिन बाम,
बेगिहि लै आऊँ घनस्याम।
कहै पखानो जे बुधि-धाम ;
'उतरा सहना मरदक नाम।'

लोकोक्ति को एकआध हिंदी-कवि ने पखानो (उपाख्यान) भी कहा है। इस विषय पर कुछ पूरे ग्रंथ ही बन गए हैं।

छेकोक्ति (९१)

छेकोक्ति—लोकोक्ति में कोई दूसरा अर्थ गर्भित होने से होती है। यथा—

कपि-सैन कपि जानै।

(दूलह)

मतलब यह है कि बंदर का इशारा बंदर ही समझता है। यहाँ समझनेवाले को बंदर कहकर उसका अपमान किया गया है।

छिति, नीर, कृसानु, समीर, अकास, ससी, रबि ह्वै तिनु रूप धरै ;
अरु जागत-सोवतहू 'मतिरामजू' आपनी जोति प्रकास करै।

जग-ईस अनादि, अनंत, अपार वहै सब ठौर मैं बिहरै ;
सिगरे तनु मोह मैं मोहि रहै, तिन-ओट पहार न देखि परै।'
(मतिराम)

लोकोक्ति "तिन-ओट पहार नही छिपता।" की है, किंतु यहाँ ऐसा दर्शाया गया है कि वास्तव मे तृण के ओट मे पहाड छिपा हुआ है, क्योकि परमेश्वर सर्वव्यापी होकर भी देख नही पडता। परमेश्वर के वास्तव में पहाड के समान प्रकट होने का भाव है। मनुष्य की बुद्धि-हीनता व्यंग्य से दर्शाई गई है।

जे सोहात सिवराज को, ते कबित्त रस-मूल ;
'जे परमेसुर पै चढ़ैं, तेई आछे फूल।'
(भूषण)

यहाँ व्यंग्य से अर्थ यह निकाला गया है कि कवित्तों के गुणग्राही केवल शिवाजी हैं।

ऊधौ, तुम जानौ कहा, जानै कहा अहीर ;
'जानति नीकी भाँति है बिरहिनि बिरहिनि-पीर।'
(रामसिंह)

प्रयोजन यह है कि श्रीकृष्ण विरही न होने से विरही जनो की पीर नहीं जानते।

छेकोक्ति में वाच्यार्थ चमत्कारी उपकरण की हीनता—छेकोक्ति मे ध्वनि या व्यंग्य-मात्र रहती है, सो लोकोक्ति से पृथक् **अलंकारता नहीं है।**

वक्रोक्ति (९२)

वक्रोक्ति—में दूसरे की उक्ति का अर्थ काकु या श्लेष से बदला जाता है।

स्वर फिराकर अर्थ बदलने को काकु कहते हैं ।

काकु वक्रोक्ति—

मानि ल्यौ री कामिनी, करम-फल होई है ?

(दूलह)

इसका प्रयोजन यह है कि जब किसी ने कहा कि कर्म-फल होता है, तो वक्ता ने स्वर फेरकर उत्तर दिया—"मानि ल्यौ री कामिनी, करम-फल होई है ?" क्या मान ही लूँ कि ऐसा होता है ? अर्थात् वास्तव में होता नहीं ।

अरे कुलाधमराज तैं, राम ! राम कहौं क्रोधि ;
सत्य कुलाधमराज हम, बिप्र अस्त्र धरि सोधि ।

(चंदन)

मै राम (परशुराम) क्रोध करके कहता हूँ कि अरे राम ! तू कुलाधमों का राजा है । राम ने उत्तर दिया—"क्या हम सचमुच कुलाधमराज हैं ? हे ब्राह्मण ! सँभालकर अस्त्र उठाओ । राम के उत्तर मे स्वर फेरकर कुलाधमराज होने का अर्थ बदला गया है ।

गने जात हौ साँवरे, सब साधुन मै साधु ;
सोहैं सोहैं खात कस, तुम न कियो अपराधु ।

(पद्माकर)

यहाॅ 'तुम न कियो अपराधु' से स्वर-परिवर्तन द्वारा यह अर्थ निकाला गया है कि "क्या तुमने अपराध नहीं किया ?" अर्थात् अवश्य किया ।

नहिं यह जावक सिर लग्यो, नहिं अजन अधरान ;
ऐसेई हम लाइयत तुम्हैं कलंक सुजान !

(वैरीशाल)

यहाँ जावक, अंजन और ऐसे ही कलंक लगाने के अर्थ स्वर-परिवर्तन द्वारा बदले गए हैं ।

श्लेष वक्रोक्ति—

पौरि पै आपु खरे हरि हैं, बम्‍ है न कछू, हरि है, तो हरैं वै;
वै सुनौ कीबे को हैं, बिनती, यदि हैं बिन तो, तिय कोई बरैं वै।
साथ मै लाए हैं मल्लि लखौ, 'रघुनाथ' लै आए हैं मल्लि लरैं वै;
छोडिए मान, वै पा पकरैं, कहै पाप करैं, तौ अवस्य करैं वै।

(रघुनाथ)

मल्लि=मल्लिका तथा पहलवानिन । बिनती=खुशामद करना; विना स्त्री के होना । पा पकरैं=पैर पकड़ते हैं । पाप करैं=पाप करते हैं ।

भिक्षुक गो कित को गिरिजे ! वह माँगन को बलि द्वार गयो री;
नाच नच्यो कित हो भव-वाम, कलिंद-सुता-तट नीके ठयो री।
भाजि गयो बृषपाल सु जानति, गोधन संग सदा सु छयो री;
सागर-सैल-सुतान के आजु यों आपुस मैं परिहास भयो री।

(श्रीधर)

यहाँ लक्ष्मीजी तथा पार्वतीजी में बातचीत है। लक्ष्मी—हे गिरिजे! भिक्षुक (शिव) कहाँ गया? पार्वती—वह भिखारी (वामन) बलि के दरवाज़े पर माँगने गया है । लक्ष्मी—(महादेव) कहाँ (ताण्डव) नृत्य कर रहे हैं? पार्वती—यमुनाजी के किनारे (कृष्ण) खूब नाच रहे हैं। लक्ष्मी—बैल (नंदी) पालक कहाँ भाग गया, यह जानती हो? पार्वती—(कृष्ण गोपालक) गोधन के साथ सदा रहते हैं।

मेरे मन तुम बसति हौ, मैं न कियो अपराध;
तुम्हैं दोष को देत हरि, है यह काम असाध।

(मतिराम)

मैं न=मैंने नहीं । मैन=कामदेव ने ।

वक्रोक्ति शब्दालंकार तथा अर्थालंकार दो प्रकार की—
वक्रोक्ति दो प्रकार की होती है, एक शब्द-वक्रोक्ति, दूसरी अर्थ-

वक्रोक्ति । जहाँ शब्द बदल देने से यह अलंकार न रहे, वहाँ शब्द-वक्रोक्ति समझी जायगी, जो कवियों ने शब्दालंकार का भेद माना है । यह बात ऊपर के मतिरामवाले दोहे में है, तथा रघुनाथवाले छंद में भी । वशीधरवाले छंद में ऐसा न होने से अर्थ-वक्रोक्ति है ।

सूचना — हम वक्रोक्ति को अर्थालंकार में मानते हैं । ऐसा मानने की तर्कावली श्लेष अलंकार(नं० २६)वाली ही है ।

स्वभावोक्ति (९३)

स्वभावोक्ति—में जाति आदि में स्थित स्वभाव, क्रिया आदि का प्राकृतिक वर्णन होता है । यथा—

अंग उघरे ते दंत दाबै अंगुरीन री ।

(दूलह)

लक लचाइ, नचाइ दृग, पग उँचाइ, भरि चाइ,
सिर धरि गागरि, मगन मन नागरि नाचत जाइ ।

(दुलारेलाल भार्गव)

झूलनिहारी अनोखी नई उनई रहती इत ही रँगराती ;
मेह मैं ल्यावैं सु तैसिए संग की रंग-भरी चुनरी चुचुवाती ।
झूला चढ़े हरि साथ हहा करि 'देव' झुलावत ही ते डराती ;
भोर हिंडोर कि डोरनि छाँड़ि खरे ससवाय गरे लपटाती ॥

गौने को चालि चली दुलही, गुरु नारिन भूषन भेष बनाए ;
सील सयान सबै सिखएरु सबै सुख सासुरेहू के सुनाए ।
बोलियो बोल सदा अति कोमल, जे मनभावन के मन भाए ;
यों सुनि ओछे उरोजनि पै अनुराग के अंकुर-से उठि आए ॥

सुनिकै धुनि चातिक, मोरन की चहुँ ओरन कोकिल कूकन सों ;
अनुराग-भरे हरि बागन मैं सखि रागत राग अचूकन सों।
कबि 'देव' घटा उनई जु नई, बन-भूमि भई दल दूकन सों ;
रँगराती, नई, हहराती लता झुकि जाती समीर के झूँकन सों ॥

(देव)

स्वभावोक्ति का उपकरण वाच्यार्थ को चमत्कृत नहीं करता—स्वभावोक्ति मे भाषा का कोई चमत्कार नहीं है। कहीं असलक्ष्य क्रम-ध्वनि का और कहीं असंलक्ष्य क्रम परांग व्यग्य का ही चमत्कार रहता है।

कुछ और उदाहरण दिए जाते है ।

दान समै द्विज देखि मेर हू कुबेर हू की
सपति लुटायबे को हियो ललकत है ;
साहि के सपूत सिव साहिके बदन पर
सिव की कथान मैं सनेह झलकत है ।
'भूषन' जहान हिंदुवान के उबारिबे को,
तुरकान मारिबे को बीर बलकत है ;
साहिन सों लरिबे की चरचा चलति आनि
सरजा के दगन उछाह छलकत है ॥

काहू के कहे-सुने ते जाही ओर ताकैं, ताही
ओर इकटक घरी चारिक चहत है ,
कहे ते कहत बात, कहे ते पियत-खात,
'भूषन' भनत ऊँची साँसन लहत हैं।
पौढ़े है, तौ पौढ़े, बैठे-बैठे, खरे-खरे, हम
को हैं, कहा करत, यों ज्ञान न गहत हैं ;

साहि के सपूत सिव साहि तव बैर इमि
साहि सब रातो-दिन सोचत रहत हैं।

(भूषण)

भाविक (९४)

भाविक—में भूतकाल मे हुई या भविष्य मे होनेवाली घटनाओं का वर्तमानकालिक क्रियाओं से वर्णन होता है। यथा—

अजौं भूतनाथ मुंडमाल लेत हरषत,
भूतन अहार लेत अजहूँ उछाह है ;
'भूषन' भनत अजौं काटे करवालन के
कारे कुंजरनि परी कठिन कराह है।
सिह सिवराज सलहेरि के समीप ऐसो
कीन्हों कतलाम दिली-दल को सिपाह है ;
नदी रन - मंडल रुहेलन रुधिर अजौं,
अजौं रबि-मंडल रुहेलन की राह है।

सूबन साजि पठावत है नित फौज लखे मरहट्टन केरी ;
औरँग आपनि दुग्ग जमाति बिलोकत तेरिए फौज दरेरी।
साहितनै सिव साहि भई भनि 'भूषन' यो तुव धाक घनेरी,
रातहु-द्यौस दिलीस तकै तव सैन कि सूरति सूरति घेरी।

(भूषन)

निसि-दिन स्रौननि पियूष-सो पियत रहैं,
छाय रह्यो नाद बाँसुरी के सुरग्राम को ;
तरनि-तनूजा-तीर, बन-कुंज-बीथिन मैं,
जहाँ-तहाँ देखियत रूप-छबि - धाम को।

कबि 'मतिराम' होत हातो ना हिये सों नेक
सुख प्रेम गात के परस अभिराम को ;
ऊधो ! तुम कहत बियोग तजि जोग करौ ,
जोग तब करैं, जो बियोग होय स्याम को ।
(मतिराम)

हातो = जुदा ।

सुनि तोसों ऐहै इहाँ काल्हि जु जमुना-तीर ;
सो अबहीं मेरे दगनि बस्यो आय बलवीर ।
(वैरीशाल)

भाविक में वाच्यार्थ का चमत्कार है--इसमें यह सशय नहीं करना चाहिए कि घटना की उग्रता चित्त के आकर्षण आदि के कारण होने से इसको केवल भाव के अंतर्गत क्यों न मानें ? प्रयोजन यह है कि चित्त-वृत्ति के आधार को लेकर यहाँ रचना की गई है। वास्तव में दृश्य सामने नाचने नहीं लगता, वरन् कवि ऐसा कथन-मात्र करके वाच्य मे चमत्कार लाता है। अत. यहाँ भी भाषा की सुंदरता है ।

उदात्त (९५)

प्रथम उदात्त—मे अत्यत असंभव लोकोत्तर संपत्ति का वर्णन रहता है। यथा—

एक होत इंद्र, एक सूरज औ' चंद्र, एक
होत हैं कुबेर, कछु बेर देत ना याके ;
अकुल कुलीन होत, पामर प्रबीन होत,
दीन होत चकवै चलत छत्रछाया के ।

संपति-समृद्ध, सिद्धि, निद्धि, बुद्धि वृद्धि, सब
भुक्ति-मुक्ति पौरि पर परी प्रभु जाया के ;
एक ही कृपा-कटाच्छ कोटि जच्छ, रच्छ, नर
पावैं घर-बार, दरबार 'देव' माया के ॥

मोर को मुकुट, कटि पीत पट्ट, कस्यो, कैधी
केसावलि ऊपर बदन सरदिंदु के ;
सुंदर कपोलन पै कुंडल हलत, सुर
मुरली मधुर मिले हाँसी रस बिंदु के।
माँगती सोहागु नाग-सुंदरी सराहि भागु,
जोरे कर सरन चरन अरबिंदु के ;
किंकिनी रटनि, तालताननि तननि 'देव'
नाचत गोबिंद फन फननि फनिंदु के ॥

चाँदनी महल बैठी चाँदनी के कौतुक को
चाँदनी-सी राधा छबि चाँदनि बिसालरैं ;
चंद की कला-सी 'देव' दासी संग फूली फिरैं,
फूल-से दुकूल पैन्हे फूलन की मालरैं।
छूटत फुहारे वे, बिमल जल झलकत,
चमकें चँदोवा मनि-मानिक महालरैं ;
बीच जरतार-रन की, हीरन के हारन की,
जगमगी जोतिन की मोतिन की झालरैं।

(देव)

पूरन पुरान और पुरुष पुरान परि-
पूरन बतावैं, न बतावैं और उक्ति को ;
दरसन देत, जिन्हें दरसन समुझै न,
नेति-नेति कहै वेद छाँड़ि भेद-युक्ति को।

जानि यह 'केसौदास' अनुदिन राम-राम
रटत रहत, न डरत पुनरुक्ति को ;
रूप देहि अनिमाहि, गुन देहि गरिमाहि,
भक्ति देहि महिमाहि, नाम देहि मुक्ति को।

(केशवदास)

पग मग धरत महीधर डिगत, डग,
मगत पुहुमि, चटकत फन सेस के ;
उलटि-पलटि खलभलत जलधि-जल,
कपत अवलि अलकेस के, लकेस के।
कहे 'घनस्याम' कच्छ-मच्छ को कहल होत,
हहल-हहल होत महल सुरेस के ;
गढ़न दलत, मृगराजन मलत, मद
झरत चलत गज बाँधव नरेस के।

(घनश्याम)

उज्जल अखंड खंड सातएँ महल महा-
मंडल सँवारो चद-मंडल के चोटहीं ;
भीतरहू लालन की जालन बिसाल जोति,
बाहर जुन्हाई जगी जोतिन के जोटहीं।
बरनति बानी, चौर ढारति भवानी, कर
जोरे रमा रानी ठाढी रमन के ओटहीं ;
'देव' दिगपालन की देबी सुखदायनि, ते
राधा ठकुरायनि के पायनि प लोटहीं।

(देव)

कुछ विद्वानो के विचारानुसार निम्नांकित पद्य मे भी उदात्त हैं। इसमें विधि वाचक क्रियाओ (चमकन दे, झमकन दे आदि) से लोकोत्तर ऐश्वर्य का प्रतिपादन होता है, अन्यथा विधि व्यर्थ हो जायगी।

कुंदन की घटी ओप दिलवर नौख़ाना चुन्नी चमकन दे,
मख़तूल श्याम के वरण-वरण छबि जोति जगमगी झमगन दे।
नग लाल जवाहर जड़े हुए दिल चमक चौंध मे रमकन दे,
गल बीच बिहारीलाला के जुगनू का चौका दमकन दे।
(शीतल)

द्वितीय उदात्त—किसी ऋद्धिमान् के योग से प्रशंसा दूसरे उदात्त मे होती है।

ऋद्धियाँ आठ होती है, अर्थात् योग्य, सिद्धि, लक्ष्मी, प्राणदा, मंगल्या, चेतनीया, समृद्ध और संपन्न। यहाँ ऋद्धिमान् से केवल महापुरुषपन का प्रयोजन है। यथा—

जे पुर - गाँव बसहि मग माहीं,
तिनहिं नाग - सुर - नगर सिहाहीं।
केहि सुकृती केहि घरी बसाए,
धन्य पुन्यमय परम सोहाए।
जहँ-जहँ राम-चरन चलि जाहीं,
तहँ समान अमरावति नाहीं।
परसि राम - पद - पदुम - परागा—
मानति भूरि - भूमि निज भागा।
(गो० तुलसीदास)

मानुस हौं, तौ वही 'रसखानि' बसौं नित गोकुल गाँव के ग्वारन,
जो पसु हौं, तौ कहा बसु मेरो, चरौं नित नंद कि धेनु-मँझारन।
पाहन हौ, तौ वही गिरि को, जो भयो ब्रज-छत्र पुरंदर कारन,
जो खग हौ, तौ बसेरो करौं उन कालिंदी-कूल कदंब कि डारन।
(रसखानि)

द्वारन मतंग दीसैं, आँगन तुरग हीसैं,
बंदीजन बारन असीसैं जसरत हैं;

'भूषन' भनत जरबाफ के सम्याने ताने,
झालरनि मोतिन के झुंड झलरत हैं।
महाराज सिवा के नेवाजे कबिराज ऐसे
साजिकै समाज जेहि ठौर बिहरत हैं;
लाल करैं प्रात, तहाँ नीलमनि करैं रात,
याही बिधि सरजा की चरचा करत हैं।
(भूषण)

हौं ही ब्रज बृंदाबन, मोही मैं बसत सदा
जमुना-तरंग स्याम रंग अवलीन की;
चहूँ ओर सुंदर सघन बन देखियत,
कुंजनि मैं सुनियत गुंजनि अलीन की।
बसीबट-तट नटनागर नचत मो मैं
रास के बिलास की मधुर धुनि बीन की;
भरि रही भनक बनक ताल-तानन की,
तनक-तनक तामैं झनक चुरीन की।
(देव)

यहाँ स्वयं वृंदावन वक्ता है। सब वस्तुओं की महत्ता केवल भगवान् के संसर्ग से है।

अत्युक्ति (१६)

अत्युक्ति—में शूरता, उदारतादि का अत्यंत अद्भुत वर्णन होता है। यथा—

साहितनै सिवराज ऐसे देत गजराज,
जिन्हैं पाय होत कबिराज बेफिकिरि हैं;
झूलत, झलमलात झूलैं जरब्सफन की,
जकरे जँजीर जोर करत किरिरि हैं।

'भूषन' भँवर भननात, घननात घंट, पग
झननात, मनो घन रहे घिरि हैं;
जिन की गरज सुने दिग्गज बेआब होत,
मद ही के आब गडकाब होत गिरि है।

(भूषण)

यहाँ हाथियों का बहुत सजीव वर्णन है। वे जोर करते हैं, जिससे भौंर भन्नाते, घंटे घन्नाते और पैर के ज़ेवर झन्नाते हैं।

झुकत कृपान मयदान, ज्यों उदोत भान,
एकन ते एक मानो सुषमा फरद की;
कहै 'कबि गंग' तेरे बल की बयारि लागे
फूटी गज-घंटा, घन-घटा ज्यों सरद की।
एते मान सोनित की नदियाँ उमड़ि चली,
रही ना निसानी कहूँ महि मैं गरद की;
गौरी गह्यो गिरिपति, गनपति गह्यो गौरी,
गौरीपति गही पूँछ लपकि बरद की।
बैठी ही सखीन संग पिय को गमन सुन्यो,
उन्नत उरोज पै बियोग आगि भरकी;
'गंग' कहै त्रिबिधि समीरहु तहाँई बही,
लागत ही ताके तन भई बिथा जर की।
प्यारी कौं परसि पौन गयो मानसर पहँ,
लागत ही औरै गति भई मानसर की;
जलचर जरे औ' सेवार जरि छार भयो,
जल जरि गयो, पंक सूख्यो, भूमि दरकी।

(गंग कवि)

बानी जगरानी की उदारता बखानी जाय,
ऐसी मति कहौ, धौं उदार कौन की भई;

देवता प्रसिद्ध सिद्ध, ऋषिराज तप-बृद्ध
कहि-कहि हारे अरु कहि न केहूँ लई।
भावी, भूत, बर्तमान जगत बखानत है,
'केसौदास' केहू न बखानी काहू पै गई,
कहै पति चारि मुख, पूत कहै पाँच मुख,
नातो कहै षट मुख तदपि नई-नई।

(केशवदास)

सरस्वती के पति ब्रह्मा चतुर्मुख हैं, पुत्र महादेव पंचमुख और पौत्र षडानन, षरामुख।

आजु यहि समै महाराज सिवराज तुही
जगदेव, जनक, जजाति अंबरीक-सो,
'भूषन' भनत तेरे दान-जल-जलधि मैं
गुनिन को दारिद गयो बहि खरीक-सो।
चद-कर, किंजलक, चाँदनी, पराग, उड़-
बृद, मकरंद, बुंद-पुंज के सरीक-सो;
कुंद-सम कयलास नाक गंग माल, तव
जस-पुंडरीक को अकास चंचरीक-सो।

(भूषण)

ज्यों बिनही गुन-अंक लिखे घुन, यों करिकै करता कर झारयो;
वारिए कोटि सची, रतिरानी, इतो, खतरानी को रूप निहारयो।
'देव' सुबानक देखि अचानक आनकहून को आनक मारयो;
लाज सचै तिय आन रचै, तौ पचै बिनु काज बिरंचि बिचारयो।

(देव)

आनकहून को ..मारयो=ब्रह्मा ने सृष्टि-रचना छोड़ दी, जिससे आगे आनेवालो (रचे जानेवालों) का आना (रचा जाना) बंद हो गया। लाज सचै=स्वकार्य की लाज रखने को ।

अत्युक्ति तथा उदात्त मे 'अत्यंत' विशेषण देने का कारण--कुवलयानंद का इसके विषय में निम्नानुसार कथन है—सम्पदुक्तावुदात्तालङ्कारः शौर्याद्युक्तावत्युक्त्यलङ्कार इति भेदमाहुः (संपत्ति के कथन में उदात्तालंकार है, तथा शौर्य के कथन में अत्युक्ति) । सदसदुक्तितारतम्येनातिशयात्युक्त्योर्भेदः (सदुक्ति में अतिशयोक्ति तथा असदुक्ति मे अत्युक्ति का भेद है) ।

अतिशयोक्ति (नं० ११) में लोक सीमोल्लंघन रहता है, तथा उदात्त और अत्युक्ति में अद्भुत कथन । लोक-सीमोल्लंघन में अद्भुतपन आ ही जायगा, अथच अद्भुत कथन लोक-सीमोल्लंघन करेगा ही । अतः इन दोनो का भेद साधारण उदाहरणों में बत-लाना सुगम नही है। इसीलिये कुवलयानंद ने लिखा है कि सदुक्ति मे अतिशयोक्ति तथा असदुक्ति (असत्य) में अत्युक्ति है। फिर भी उदाहरणों के देखने से स्पष्ट है कि अतिशयोक्ति में भी असत्य कथन रहता है। स्वयं उन्हीं के उदाहरण में यही बात प्रस्तुत है। अत्युक्ति का उदाहरण वह इस प्रकार देते हैं—

यहि बिधि बढ़िहै तोर कुच, बिधि बिचार नहिं कीन,
तासों अति ओछो रच्यो नभ मंडल मिति-हीन।
बाढ़े उन्नत उरज-युग भरि तरुनई-हुलास,
सुतनु ! तिहारी भुज लतन कैसे लहहिं निवास।
(कस्यचित्कवेः)

यह उनका अतिशयोक्ति का उदाहरण है।

इन दोनो उदाहरणों में अत्युक्ति की मात्रा-भर का भेद है। सदुक्ति इनमे से किसी में भी नहीं है। सदुक्ति और असदुक्ति का उपर्युक्त कथन कुवलयानंद में इन्हीं उदाहरणों के नीचे है। इससे जान पड़ता है कि अप्पय्य दीक्षित का विचार इन दोनो अलंकारों

में असदुक्ति की विशेष घट बढ़ मात्राओं का था। इसीलिये उदात्त और अत्युक्ति के लक्षणों में हमने ऊपर "अत्यत" शब्द कहा है।

फिर भी उदाहरणों पर विचार करने में यह भेद भी दृढ़ नहीं रहता। "बिंध्य लगि बाढ़िगो इरोजन को पेखो है" वाला उदाहरण दूलह ने अतिशयोक्ति में दिया है। फिर भी यह कथन पूर्ण असदुक्ति में आता है। एसी ही दशा बहुतेरे अन्य उदाहरणों की है।

अतिशयोक्ति, अत्युक्ति तथा उदात्त का अपार्थक्य— असदुक्ति की केवल घट-बढ़ मात्राओं के आधार पर दो अलंकारों का पृथक् विवरण न केवल अनावश्यक, वरन् भ्रामक भी समझ पड़ेगा, क्योंकि विविध विचारों से वही मात्रा थोडी या बहुत समझी जा सकती है। उधर उदात्त और अत्युक्ति के विचार प्रायः एक ही हैं। एक मे संपत्ति और ऋद्धि के कथन हैं, तथा दूसरे में शूरता, उदारतादि के। हैं दोनो एकसाँ। कुछ गुणों को लेकर एक अलंकार कहना तथा वैसे ही इतरों के लिये दूसरा (अलकार) मानना अनावश्यक है। इसलिये, हमारी समझ मे, अतिशयोक्ति, उदात्त और अत्युक्ति, इन तीनो को एक ही अलंकार मानना ठीक होगा।

निरुक्ति (१७)

निरुक्ति—में किसी नाम के संसर्ग से दूसरा अर्थ कहा जाता है। यथा—

भए साँचे जू गोपाल, रच्यो राधा सों बियोग है।

(दूलह)

यदि आप राधा से वियोग रच सकते हैं, तो सच्चे गोपाल (इंद्रियों के स्वामी अर्थात् इंद्रियजित) हैं।

दिल दरियाव क्यों न कहैं कबिराव तोहिं,
तो मैं ठहरात आनि पानिप जहान को।
(भूषण)

ह्वै कै डहडहे दिन समता के पाए बिन
साँझ सरसिजन सरमि सिर नायो है;
निसा भरि निसापति करिकै उपाय बिन
पाए रूप बासर बिरूप ह्वै लखायो है।
कहै 'मतिराम' तेरे बदन बराबरि को
आदरस बिमल बिरंचि न बनायो है,
दरप न रह्यो ताते दरपन कहियत,
मुकुर परत, ताते मुकुर कहायो है।
(मतिराम)

मुकुर परत = मुकुर (बात से फिर) जाता है।

बिरह तई लखि निरदई मारत नाहिं सकात;
मार नाम बिधनै कियो यहै जानि जिय बात।
(वैरीशाल)

निरुक्ति मे स्वतत्र अलंकारता नहीं—उद्योतकार का मत है कि निरुक्ति को श्लेष (नं० २६) के अंतर्गत मानना चाहिए। इस कथन में बहुत कुछ तथ्याश है। फिर भी चंद्रालोक ने इसे स्वतंत्र अलकार माना है।

प्रतिषेध (१८)

प्रतिषेध—में प्रसिद्ध निषेध के होते कारण-वश पुनः निषेध होता है। यथा—

दारा की न दौर यह, रारि नहीं खजुवे की,
बाँधिबो नहीं है कैधौ मीर सहवाल को ;
मठ बिश्वनाथ को, न बास ग्राम गोकुल को,
देवी को न देहरा, न मंदिर गोपाल को।
गाढ़े गढ़ लीन्हें और बैरी कतलाम कीन्हें,
ठौर-ठौर हासिल उगाहत है साल को ;
बूड़त है दिल्ली, सो सँभारै क्या न दिल्लीपति,
धक्का आनि लाग्यो सिवराज महाकाल को।

(भूषण)

यह निषेध लोक-विदित है कि शिवाजी की चढ़ाई न तो दारा की दौर है, और न खजुवे की लड़ाई आदि ही, फिर भी उसका निषेध सिद्ध किया गया है।

अंगद कहि दस बदन सों यह न चोरिबो नारि ;
बर बानन सों राम सँग प्रान-हरन है रारि।

(पद्माकर)

न हौं जंबुमाली, खरै जाहि मारो ;
न हौं दूषणौ, सिंधु सूधो निहारो।
सदा जंग मैं देवता दाप दलैं ;
महाकाल को काल हौं कुंभकर्नै।

(केशवदास)

प्रतिषेध पृथक् अलंकार नहीं—उद्योतकार का विचार है कि प्रतिषेध ध्वनि या गुणीभूत व्यंग्य है न कि अलंकार। साहित्य-दर्पण-कार ने इसे लिखा नहीं है, किंतु चंद्रालोक और कुवलयानंद में इसका मान है। इसमें व्यतिरेक अलंकार (नं० २०) कहा जा सकता है। यह बात उपर्युक्त तीनो उदाहरणों में आ जाती है।

विधि (९९)

विधि—में सिद्ध वस्तु में कुछ विशेषता दिखलाने को फिर से सिद्ध किया जाता है। यथा—

रासमंडली मैं गोपिकेस गोपिकेस हैं।

(दूलह)

यों मन औ' बच, काय मनायकै गाय रह्यो सगरात्मज गोत है ;
उज्जल जोति जगै जस तेरे कि या जग मैं जन को सुधा-सोत है।
तीनिहू बेद औ' तीनिहू देव कहैं तिहुकाल कि लोक उदोत है ;
तारिबे के समै जो 'लेखराज' के जह्नुजा तारनी तारनी होत है।

(लेखराज)

सरस भरे रस लसत हैं, घूमत फिरत अकास ;
तब ये घन घन हैं, जबै बरसैं पीतम पास।

(ऋषिनाथ)

घन तो घन हैं ही, किंतु वियोगावस्था से छूटने की इच्छा से नायिका कहती है कि जब (परदेश में) प्रियतम के पास बरसें (जिससे वह घर वापस आवे) तब ये सच्चे मेघ हैं।

विधि में अलंकारता नहीं—उद्योतकार का कथन है कि इसमें कहीं ध्वनि और कहीं गुणीभूत व्यंग्य-मात्र होता है न कि अलकार।

हेतु (१००)

प्रथम हेतु—में कार्य का कारण के साथ ही कथन होता है। यथा—

और सकै कहि को 'मतिराम' सतासुत के बरनै गुण बानी ;
राव सही दरियाव जहान को आय जहाँ ठहरात है पानी।

काम-तरोवर धेनु औ' पारस नेकु न मंगन के मन मानी ;
दारिद-दैत बिदारिबे को भई भाऊ दिवान की रीझि भवानी।

(मतिराम)

दरिद्र-दैत्य के नाशने को प्रसन्नता ही भवानी हुई है। यहाँ कारण (रीझ) तथा कार्य (दरिद्र-नाशन) के कथन साथ ही हैं।

नोट—परिकर से इसका भेद परिकर (नं० २४) में देखिए।

द्वितीय हेतु—में कारण-कार्य का अभेद कथन होता है। यथा—

कोऊ कोटिक संग्रहौ, कोऊ लाख, हजार ;
मो संपति जदुपति सदा बिपति-बिदारनहार।

(बिहारी)

यदुपति वास्तव में संपत्ति नहीं, वरन् उसके दाता हैं, किंतु यहाँ संपत्ति ही कहे गए हैं, जिससे अलंकार आता है।

नैननि को आनँद है, जी की जीवन जानि,
प्रगट दर्प कदर्प को तेरी मृदु मुसकानि।

(मतिराम)

चंदनादि उपचार जे, ते सब सुख की हानि ;
सखि, लखियो ब्रजराज को मेरो जीवन जानि।

(वैरीशाल)

कान्ह ही की कृपा धन, धरम-निबेस हैं।

(दूलह)

कहा यह गया है कि द्रव्य और कर्तव्य मे स्थिति ही कान्ह की कृपा है।

हेतु की पृथक् अलंकारता—विश्वनाथ, दंडी, रुद्रट और कुवलयानदकार ने हेतु अलंकार लिखा है, किंतु मम्मट ने नहीं। उद्योतकार इसे अतिशयोक्ति (नं० १३) में मानते हैं। किंतु उसमें

उपमान-उपमेय-भाव का नियम है, और हेतु में हेतु और कार्य का "कनक-लता पर चंद्रमा धरे धनुष द्वै बान" में उपमान-मात्र है। हेतु में कारण और कार्य, दोनो रहते तथा उनका अभेद वर्णन होता है। रूपक मे भी उपमान-उपमेय का अभेद कथन रहता है। कुछ और उदाहरण नीचे दिए जाते हैं —

आजु महादीनन को सूखिगो दया को सिंधु,
 आजु ही गरीबन को सब गथ लूटिगो,
आजु दुजराजन को परम अकाज भयो,
 आजु महाराजन को धीरजहु छूटिगो।
'मल्ल' कहै आजु सब मंगन अनाथ भए,
 आजु ही अनाथन को करम-सो फूटिगो;
भूप भगवंत सुरलोक को पयान कियो,
 आजु कबिजन को कलपतरु टूटिगो।

(मल्ल)

उठि गयो आलम सों रुजुक सिपाहिन को,
 उठिगो बँधैया सबै बीरता के बाने को;
'भूषन' भनत उठि गयो है धरा सों धर्म,
 उठिगो सिंगार सबै राजा राव राने को।
उठिगो सुशील कबि, उठिगो जसीलो डील,
 फैलो मध्य देस मैं समूह तुरकाने को।
फूटे भाल भिच्छुक के, जूझे भगवंतराय,
 अरराय टूटो कुल-खंभ हिंदुवाने को।

(भूषण)

टका करै कुलहूल, टका मिरदंग बजावै;
टका चढ़ै सुखपाल, टका सिर छत्र धरावै।

टका माय अरु बाप, टका भाइन को भैया ;
टका सासु अरु ससुर, टका सिर लाड़ लड़ैया।
अब एक टके बिन टकटका होत रहत नित रात-दिन ,
'बैताल' कहै, बिक्रम सुनौ, धिक जीवन यक टके बिन।
(बैताल बंदीजन)

यहाँ तीसरे और चौथे पदों में अलंकार है।

रसवदाद्यलंकार

भूमिका

रति आदि के कारण, कार्य और सहकारी जो संसार में होते हैं, वे काव्य और नाटक में क्रमशः विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी या संचारी कहलाते हैं।

स्थायी भाव इन सबसे व्यक्त (व्यंजित) होता है।

रस—जब विभाव, अनुभाव और संचारी द्वारा व्यक्त होकर स्थायी भाव काव्य या नाट्य द्वारा सहृदयो के चित मे अलौकिक आनंद देता है, तब वह रस कहलाता है।

ध्वनि के दो भेद हैं (१) अभिधा मूलक और लक्षणा मूलक। अभिधा मूलक के पुनः दो भेद होते हैं, (१) संलक्ष्य क्रम और (२) असंलक्ष्य क्रम। अलक्ष्य क्रम के अंतर्गत रस है। यथा—

कीबे को समान प्रभु ढूँढ़ि देख्यों आन पै,
निदान दान युद्ध मै न कोऊ ठहरात है;
पंचम प्रचंड भुजदंड को बखान सुनि
भागिबे को पच्छी लौं पठान घहरात हैं।
संका मानि सूखत अमीर दिल्लीवारे जब,
चपति के नंद के नगारे घहरात हैं,
चहुँ ओर चकित चकत्ता के दलन पर,
छत्ता के प्रताप के पताके फहरात हैं।

(भूषण)

यहाँ भयानक रस है, जो पढते-पढते ही अर्थ ज्ञान के अनंतर आनंद-विभोर कर देता है। यद्यपि सभी आलंबनादि उपस्थित हैं, तथापि यह सोचने की आवश्यकता नहीं पड़ती कि किसका आलंबन लेकर, किस प्रकार उद्दीप्त होकर, किस प्रकार अनुभावित होकर तथा संचारी भाव से पुष्ट

होकर रस व्यक्त होता है। अतः स्पष्ट है कि यहाँ किसी कार्य में प्रत्यक्ष क्रम भासित नहीं होता। इसी कारण यह असंलक्ष्य क्रम कहाता है। किंच—

> **मधु मोदित, अलि-मंजरी-मंजु, मौलि-छबि-जाल ;**
> **पद्मराग - पल्लव - ललित राजत लाल रसाल।**
>
> **(चिंतामणि)**

प्रथम अर्थ—आम्र-वृक्ष ऋतुराज से पोषित, अलि-सहित, मंजरी-युक्त और उनकी प्रधान छवि तथा सुंदर पद्मराग-रूपी पल्लव-युक्त यह लाल रंग धारण किए शोभित है।

दूसरा अर्थ—ऋतुराज के कारण प्रमोद से भरे, सिर पर मोतियों का मुकुट धारण किए, जिनका लालित्य पद्मराग और पल्लव के समान शोभित है, इस प्रकार से रस के समूह लाल (नायक) शोभित हैं।

यहाँ नायक और आम्र में प्रथम उपमालंकार का संबंध जोड़ना पड़ता है, तब पूर्ण आनंद आता है। इसमें साक्षात् आनंद न आकर एक अवस्था अधिक पार करनी पड़ती है। लोग यह मानते हैं कि आनंदानुभव हृदय में होता है, तथा विचार मस्तिष्क द्वारा किया जाता है। यहाँ मस्तिष्क पहले अर्थ विचारता है (१), उसके अनंतर विचारकर दोनो अर्थों मे उपमारूप-संबंध स्थापित करना पड़ता है (२)। इस प्रकार दो कार्य दिमाग को करने पड़ते हैं, परंतु भूषणवाले उदाहरण मे पद्य पढते ही तत्काल आनंद आने लगता है। यही भेद है। यह मस्तिष्क में विचारवाली अवस्था के अधिक आ जाने के कारण ही, दूसरे मे लक्ष्य क्रम व्यंग्य मानी जाती है, तथा पहले में विचारवाली अवस्था न पड़ने से असंलक्ष्य क्रम व्यंग्य होना कहा जाता है।

विभाव के आलंबन और उद्दीपन-नामक दो भेद हैं।

आलंबन—जिनका सहारा लेकर रस व्यक्त होता है, वे **आलंबन** कहलाते हैं, जैसे शृंगार के नायक-नायिका, रौद्र के योद्धादि।

उद्दीपन—जो भाव स्थायी को उद्दीप्त (तेज़) करें, वे उद्दीपन हैं, जैसे शृंगार में वन, उपवन, त्रिविध समीरादि ।

अनुभाव—वे कार्य हैं, जिससे यह जाना जाय कि अमुक व्यक्ति में अमुक भाव की स्थिति है । इसके चार भेद हैं, अर्थात् सात्विक, कायिक, मानसिक और आहार्य (बनावटी) । इनमे सात्विक की मुख्यता है ।

सूचना—कहीं-कहीं ये ही अनुभाव अन्य व्यक्ति के लिये उद्दीपक हो जाते हैं, जैसे किसी मे युद्धाकांक्षा देखकर दूसरा भी सन्नद्ध हो जाय ।

सात्त्विक—आठ माने गए हैं, अर्थात् स्तंभ (शरीर का जकड़ना), स्वरभंग (आवाज का बदलना), कंप, स्वेद (पसीना), अश्रु (आँसू), रोमांच (रोएँ खड़े हो जाना), वैवर्ण्य (शरीर का रंग बदल जाना) और प्रलय (श्वास रुकना, बेहोशी आदि) ।

स्तंभ और प्रलय का भेद—स्तंभ मे ज्ञान रहता है, किंतु प्रलय में नहीं, यही भेद है ।

सूचना—कोई-कोई जृंभा (जमुहाई) को नवाँ सात्त्विक मानते हैं । इन्हीं (सात्त्विक भावो) को तनसंचारी भी कहते हैं ।

संचारी (व्यभिचारी या सहकारी)—ये स्थायी भाव के सहकारी कारण हैं । ये उसे रस संज्ञा तक पहुँचाने मे सहायता देकर विलीन हो जाते हैं । इनकी संख्या ३३ है—

अर्थात् (१) **निर्वेद** (तत्त्वज्ञान-भव शांत-रस का स्थायी जब अन्य कारणो से उत्पन्न हुआ हो, तब वह संचारी है । निर्वेद का अर्थ वैराग्य है), (२) **ग्लानि** (व्याधि या मानसिक ताप से बल की हानि), (३) **शंका** (मनचाही वस्तु की हानि का डर), (४) **असूया** (डाह, निंदा करना), (५) **मद** (मोह और आनंद का साथ होना), (६) **श्रम** (थकना), (७) **आलस्य** (कार्य में अरुचि । इसमें कार्य करने की क्षमता होती है, किंतु ग्लानि में नहीं, यह भेद है ।), (८) **दैन्य**

(मन का मलिन रहना), (९) **चिंता** (प्रिय वस्तु के अनिष्ट या अप्राप्ति का ध्यान), (१०) **मोह** (परेशानी), (११) **स्मृति** (याद आना), (१२) **धृति** (धीरज धरना), (१३) **व्रीड़ा** (संकोच या लज्जा), (१४) **आवेग** (घबराहट, संभ्रम), (१५) **चापल्य** (उतावली), (१६) **जड़ता** (विवेक-शून्यता । इसमे गति का अभाव कहा जाता है ।), (१७) **हर्ष** (प्रसन्नता), (१८) **गर्व** (अभिमान), (१९) **विषाद** (उत्साह भंग होना), (२०) **सुप्त** (सोना, नीद), (२१) **अमर्ष** (क्रोध , यह रौद्र-रस का स्थायी भाव भी है । रौद्र मे विनाश होता है, किंतु इसमे केवल विमुखता आदि ।), (२२) **औत्सुक्य** (विलंब का न सह सकना), (२३) **अपस्मार** (मिर्गी , इसमे मूर्च्छा, भ्रम, विकलता आदि का कथन होता है ।), (२४) **विबोध** (निद्रा या अविद्या का नाश), (२५) **उग्रता** (अपमानादि से उत्पन्न निर्दयता । अमर्ष मे निर्दयता नही, यही भेद है ।), (२६) **मरण** (मौत), (२७) **मति** (निश्चित ज्ञान), (२८) **व्याधि** (रोग या वियोग से मन का ताप), (२९) **अवहित्था** (हर्ष आदि अनुभावो को लज्जा आदि के कारण छिपाना), (३०) **उन्माद** (पागलपन, किसी वस्तु को दूसरी समझना), (३१) **त्रास** (अकस्मात् आया हुआ डर । इससे अन्यथा भय भयानक रस का स्थायी भाव है ।), (३२) **वितर्क** (विचार करना) और (३३) **विषाद** (पछतावा) ।

स्थायी भाव—हर मनुष्य मे पाए जानेवाले भाव, उत्कट होने पर स्थायी कहलाते हैं । ये नव हैं, अर्थात् **रति** (प्रेम, शृंगार का), **हास** (हास्य का), **शोक** (करुणा का), **क्रोध** (रौद्र का), **उत्साह** (वीर का), **भय** (भयानक का), **जुगुप्सा** (घृणा, बीभत्स का), **विस्मय** (आश्चर्य, अद्भुत का) और **निर्वेद** (वैराग्य, शांति का) ।

सूचना—इन नव स्थायी भावो में प्रत्येक अपने-अपने विभाव, अनुभाव

तथा संचारी भावों से पोषित होकर काव्य या नाटक के पाठक या श्रोता को आनंद देता है, तब उनके सामने लिखित कोष्ठक नामवाला रस कहलाता है।

जुगुप्सा घिन को कहते हैं। शृंगार-रस में प्रेम को रति कहते हैं। आश्चर्य विस्मय है। निर्वेद विरक्ति है। इन नव स्थायी भावों से पृथक् कोई स्थायी भाव इसलिये नहीं हो सकता कि वे हर मनुष्य में नहीं रहते, किंतु ये नवो हरएक में हर समय बीज-रूप विद्यमान रहते हैं, तथा अन्यों से प्रबल (उत्कट) भी होते हैं, और सय-समय पर सुअवसर पाकर व्यक्त होते रहते हैं।

गुरु, राजा, देश, प्रकृति, पुत्रादि में रति सबमें न होकर किसी-किसी में होती है। स्थायी उन्हीं को माना गया है, जो सबमें हों। छोटे बच्चों के प्रेम का भाव स्त्रियों में सहज क्रिया द्वारा होता है, किंतु सब पुरुषों में नहीं।

ऊपर जो वर्णन किए गए हैं, वे लक्षण न माने जाकर केवल समझाने के लिये थोड़े में ज्ञान कराने का प्रयत्न समझना चाहिए। रसवदादि का समझना बिना रस और भाव-संबंधी ज्ञान के हो नहीं सकता। अतएव इस अलंकारवाले वर्णन में भी रस और भाव के संबंध में इतना कुछ सूक्ष्म-रीत्या लिखा गया है।

रसवदाद्यलंकार

रसवदाद्यलंकार—जब किसी दूसरे रस या भाव के (अन्य) रस या भावादि अंग हो जाते हैं, तब वे रसवदाद्यलंकार कहलाते हैं। इसके भेद नीचे दिए जाते हैं।

विशेष – कहीं-कहीं ध्वनि-प्रधान न होने पर भी उस (गुणीभूत व्यंग्य) को प्रधान मानना ही पड़ता है। यही सिद्धांत है। यथा—

ऐंठि बाँध्यो मुकुट समेटि घुँघरारे बाल
कुंडल चढ़ाय कान कलँगी सुघट की,
…ाँघिया जकरिकै अकरि अंगराग करि,
कटि मे लपेटी कसि पेटी पीत पट की।
भृगु-पद-अंक-ढाल, सकति-सिया को चिह्न
सूदन सनाह बनमाल लाल टटकी,
कोटिन सुभट को निहारि मति सटकी,
सुबदहु गोपाल की धरनि भेष भटकी।
(सूदन)

सनाह=सन्नाह=बख्तर।

यहाँ गोपाल के हृदय मे विद्यमान उत्साह स्थायी भाव है, जो वीर-रस के रूप में परिणत होता है। उधर 'सुबदहु' पद से कवि के हृदय मे देव-विषयक रति-भाव पोषित होता है। यद्यपि आपाततः उक्त वीर-रस देव-विषयक रति-भाव का अंग हो जाता है, तथापि संपूर्ण कवित्त में अति प्रबलता से पोषित होनेवाले वीर-रस को केवल एक 'सुबदहु' पद के सहारे अंगभूत मान लेना नितांत असहृदयता होगी। अतः यहाँ वीर-रस ध्वनि ही है।

आचार्यप्रवर आनंदवर्धन की भी यही आज्ञा है—

प्रकारोऽयं गुणीभूतव्यङ्ग्योऽपि ध्वनिरूपताम्।
धत्ते रसादितात्पर्यपर्यालोचनया पुनः॥

गुणीभूत व्यंग्य तब ध्वनि-रूप को प्राप्त करता है, जब गुणीभूत होने-वाले रस आदि की चर्वणा उत्कटता से हो रही हो।

वस्तुतः सहृदयों का हृदय इस मत को बिना विप्रतिपत्ति (शंका) के स्वीकार कर लेता है। जिन विद्वानों ने इसके विरुद्ध मत व्यक्त किया है वह केवल हठवादिता के कारण ही माना जा सकता है।

रसवत् (१०१)

रसवत्—में रस किसी दूसरे रस या भाव का अंग हो जाता है। यथा—

जैति-जैति योगेंद्र मुनि कुंभज महाअनूप ;
देखे जाके चुलुक मै कच्छप-मत्स्य-सरूप।

(गुलाब)

यहाँ चुल्लू मे समुद्र के आ जाने से अद्भुत-रस है। जब समुद्र ही चुल्लू मे आ गया, तब मत्स्यादि भी आए, परंतु वक्ता मे यहाँ मुनि-विषयक रति-भाव है। अतः यह अद्भुत-रस मुनि-विषयक रति-भाव का अंग है। इसी से रसवत् अलंकार हुआ।

विशेष—रस नव प्रकार का होता है, अतः रसवत् मे भी नव प्रकार के उदाहरण हो सकते है। शृंगार जब किसी रस या भाव का अंग हो, तब रसवत् है, इसी प्रकार अन्य आठो रस भी जब किसी रस या भाव के अंग हों, तब भी रसवत् ही है।

गढ़न गढ़ी से गढ़ि, महल मढ़ी से मढ़ि,
बीजापुर रोप्यो दलमलि सुघराई मैं ;
'कालिदास' कोप्यो बीर औलिया अलमगीर,
तीर-तरवारि गह्यो पुहुमी पराई मैं।
बुंद ते निकसि महि-मंडल घमंड मची
लोहू की लहरि हिमगिरि की तराई मैं,

गाड़ि बेस झंडा आड कीन्ही पातसाहि, ताते
डकरी चमुंडा गोलकुंडा की लराई मैं।
(कालिदास)

बुंद .. ..मची=रक्त की एक बूँद भी बुरी है। यहाँ तो बूँद के आगे निकलकर उस रक्त की लहर का अहंकार पृथ्वी-मंडल मे मच गया, अर्थात् वह भूमंडल मे पूरित हो गई। इस छंद में रौद्र-रस राजा-विषयक रति-भाव का अंग है।

प्रबल पठान तू दलेलखान बलवान
दच्छिन ते दलहि दबायो मनो हाँसी तैं;
बाँकुरो बहादुर बलीन बीच बरछी ले
बापहि बचायो है बिलायत बिलासी तैं।
कहै 'घनस्याम' जुझ कीन्हो मेघनाद, जैसे
गरुड गोबिंदहिं छोड़ायो नागफाँसी तैं;
कुमेदान, कपनी कुम्हेड़ा ककरी से काटि
काढ़ि लायो काकहि कृपान करि कासी तैं।
(घनश्याम)

यहाँ वीर-रस राजा-विषयक रति-भाव का अंग हुआ है।

बाँका बिरझाना सुनि साह के सनाका भयो,
थाका दुरिदच्छ सब भूप हिय हारे हैं;
लेत कर कत्ता करकत्ता लौं कहर मची,
थहर-थहर काँपे बूढ़े अरु बारे है।
साहब वजीरअली औलिया अडोल बोल,
तेरो जस छाए कहौ कौने निरबारे हैं;
जंगी तू नवाब अरधंगी के सहर बीच
नंगी समसेर लै फिरंगी फारि डारे हैं।
(कस्यचित्कवेः)

यहाँ रौद्र-रस राजा-विषयक रति भाव का अंग है।

डहडहे डकन को सबद निसंक होत,
बहबही सत्रुन की सेना आनि सरकी,
हाथिन को झुड, मारू राग को उमंड, उतै
चपति को नद चढ़ो उमड़ि समर की।
कहै 'हरिकेस' कालो ताली दै नचति, ज्यों-ज्यों
लाली परसति छत्रसाल-मुख बर की,
फरकि-फरकि उठै बाहु अस्त्र बाहिबे को,
करकि-करकि उठै कड़ी बखतर की।

(हरिकेश)

उक्त कवित्त मे महाराज छत्रसाल का ही वर्णन यद्यपि प्रस्तुत है, तथापि रचना के प्रवाह से राजा विषयक रति-भाव विशेष पोषित नही होता। फलत: वीर-रस ही प्रधान मानना पड़ता है। पर निम्नांकित कवित्त में राजा-विषयक रति का ही अंग वीर-रस हो जाता है, क्योकि यहाँ केवल महाराज छत्रसाल की भुजा के फड़कने और भ्रूभंग-मात्र से समस्त घटनाएँ (काल-किंकर के दौड़ने से हर के कूदने तक) घटित की गई हैं। इन घटनाओं का स्वतंत्र महत्त्व नही है। अत: यहाँ वीर-रस के अग-भूत हो जाने से रसवत् अलंकार है।

दौरे काल-किंकर कराल करतारी देत,
दौरी काली किलकत छुधा के तरंग तै,
कहै 'हरिकेस' दाँत पीसत खबीस दौरे,
दौरे मडलीक गीध, गोदड़ उमग तै।
चपति के नद छत्रसाल, छत्रसाल आजु
फरकाई भुज औ' चढ़ाई भुव-भग तै,
भग डारि मुख तै, भुजान तैं भुजग डारि,
दौरयो हर कूदि डारि गौरी अरधंग तै।

(हरिकेश)

आलम नेवाज सिरताज पातसाहन के,
गाज ते दराज कोप-नजरि तिहारी है,
जाके डर डिगत अडोल गढ़धारी, डग-
मगत पहार औ' डुलत महि सारी है।
रक-जैसो रहत ससकित सुरेस, भयो
देस, देसपति मैं अतंक अति भरी है;
भारी गढ़धारी सदा जग की तयारी, धाक
मानै ना तिहारी या हमीर हठधारी है।

(चन्द्रशेखर वाजपेयी)

ऊपर के छंद में भयानक-रस राजा-विषयक रति-भाव का अंग है।

भाव—(१) जब शृंगार का स्थायी भाव रति नायक-नायिका छोड़कर किसी अन्य का अवलंबन लेकर उत्पन्न हो, जैसे देवता, गुरु, मुनि, पुत्रादि क, (२) जब रति आदि नवो स्थायी भाव उद्दीपन, अनुभाव और व्यभिचारी भावों से भली भाँति पोषित न हो पावें, और (३) जब व्यभिचारी भाव उद्दीपन, अनुभाव आदि से रति आदि स्थायी की भाँति पुष्ट किए जायँ, तब उनकी सज्ञा भाव होती है, रस नहीं।

प्रेयस् या प्रेय (१०२)

प्रेयस् या प्रेय—मे भाव किसी दूसरे भाव या रस का अंग होता है। बहुत प्रिय होने से यह प्रेय कहलाता है। यथा—

कहत सदा जेहि मुख बचन मधुर सुधा के ऐन,
वह सखि, मुख कब देखिहौं हृदय हरषि, भरि नैन।

(प्रतापसाहि)

यहाँ चिंता-भाव मुख्य है, जो शृंगार-रस का अंग है।

कब बसि मधि बारानसी धरि कोपीनहि चीर ;
हे हरि सिवसंकर जपत फिरिहौ गंगा तीर।

(गुलाब)

यहाँ भी चिंता संचारी की मुख्यता है, जो शांत-रस का अंग है।

पीत बसन, मुरली अधर, उर धारे बनमाल ;
कब धौ मधुप निहारिहौ नलिन-नयन नँदलाल।

(वैरीशाल)

यहाँ व्यभिचारी भाव चिंता, श्रृंगार का अंग है।

थोथि थलकत, झलकत बाल बिधु भाल,
सिंदुर लसत, मानो बानो बीर बेस को ;
मद-जल-झरत, भरत अलि-वृंद, सुंड
कुंडली करत मन हरत महेस को।
'भीषम' भनत ऐसो ध्यान जो धरत नर,
लेस ना रहत उर कुमति कलेस को ;
साँकरे सहायक, सकल सिधिदायक,
समरथ सुभ सत्थ पग पूजिए गनेस को।

(भीष्म)

यहाँ वात्सल्य-भाव देव-विषयक रति-भाव का अंग है।

वा निरमोहिनि, रूप कि रासि न ऊपर के मन आनति ह्वै है,
बारहि-बार विलोकि घरी-घरी सूरति तौ पहिचानति ह्वै है।
'ठाकुर' या मन की परतीति है, जो पै सनेह न मानति ह्वै है ;
आवत हैं नित मेरे लिये, इतना तो बिसेस हू जानति ह्वै है।

(ठाकुर)

यहाँ धृति भाव (धैर्य), नायिका-विषयक रति होने से श्रृंगार का अंग है।

जगि-जगि, बुझि-बुझि जगत मैं जुगुनू की गति होति ;
कब अंतर परकास सों जगिहै जीवन-जोति ।

(दुलारेलाल)

यहाँ उत्कंठा-भाव देव-विषयक रति-भाव का अंग है ।

दिन मुख-छबि में हैं उलझे, रातें उलझीं अलकों में ,
कर गए, न-जाने क्या वे, पल-भर बसकर पलकों में ।

('उमेश')

ऊपर स्मृति संचारी नायक-विषयक रति-भाव का अंग है ।

स्वारथ के हेत गुरु पाप कबहूँ न कियो,
आपने चलत हितैं प्रजागन के किए ;
स्वामि-लोन-लाज लगि दोषन के गोपन की
जुगुति मैं धारमिक धुक-पुक भो हिये ।
प्रीति-भाव छोडे बिन झगड़ेहू करि-करि
कटु उपदेस लौं नरेस को नितै दिए ;
यामे पायो पाप, कै कमायो है बिसाल पुन्य,
तौन परमेसुर पै छोड़ि सुख सो जिए ।

(मिश्रबंधु)

यहाँ वितर्क निर्वेद का अंग होने से प्रेय है ।

चंद धरन कहँ जो बालक-सम रिपुगन बाँह बढ़ाए ;
मोछ मिरोरन हेतु सिंह की जो मूरख बनि धाए ।
भारत को इन चंड पराक्रम निदरि जु पै बिसरायो ,
जननी-जनम-भूमि के उर पै जो इन पाँव जमायो ।
तौ एकहि करि झपट सिंह-सम इनको करौ सँहारा ;
जननी-जनम-भूमि अन्हवायो रिपु-सोनित की धारा ।

(मिश्रबंधु)

यहाँ स्मृति संचारी देश-विषयक रति-भाव का अंग है ।

परदेसन में लड़ि नित बीरन सूरपनो दरसायो;
सदा निबाही आनि तेग की, रिपु को मुहुँ मुरझायो।
ऐसी हिम्मत नही आजु लौं काहुहि चित मैं धारी,
महाराष्ट्र पर चढ़ि धैबे की करतो सफल तयारी।
ताते हे सामंत सपूतौ! बरबल आजु सम्हारौ;
रजपूती की बानि राखिकै बैरि-गरब रन गारौ।

(मिश्रबंधु)

यहाँ भी स्मृति संचारी देश-विषयक रति-भाव का अंग है।

ऊर्जस्वि (१०३)

ऊर्जस्वि—में रसाभास या भावाभास किसी दूसरे रस या भाव का अंग होता है। इसके दो भेद होते हैं—एक रसाभास-संबंधी, दूसरा भावाभास-संबंधी।

प्रथम (ऊर्जस्वि) रसाभास—में शृंगारादि के रति आदि स्थायी भाव अनौचित्य से प्रवृत्त होते है।

विशेष—अनुचित-उचित का भेद देश-व्यवहार से तथा धर्म से जानना चाहिए।

शृंगाराभास—रति जब अनेक नायिकाओं में हो, या नायिका और नायक में से एक ही में हो, दोनों में नहीं, तब शृंगार का रसाभास माना जाता है। और भी ऐसी ही अनौचित्य-गर्भित बातें हो सकती हैं।

करुण-रसाभास—विरक्त पुरुष में वर्णित शोक में करुण रसाभास है।

शांत-रसाभास—नीच में वर्णित निर्वेद शांत-रस का रसाभास है।

रौद्र और वीर-रसाभास—निंद्य व्यक्ति, कायर, गुरुजनों आदि पर क्रोध या उत्साह क्रमशः रौद्र या वीर के रसाभास हैं।

अद्भुत-रसाभास—बाजीगर आदि के कृत्यों से उत्पन्न विस्मय में अद्भुत रसाभास है।

हास्य-रसाभास—गुरुजनो, विद्वानों आदि को लेकर हास्य का भाव लाना हास्य-रसाभास है।

भयानक-रसाभास—वीरो का भयातुर होना भयानक रसाभास समझना चाहिए।

बीभत्स-रसाभास—धार्मिक कृत्य, यज्ञादि मे बलि दिए जानेवालो को देखकर उस धर्म के माननेवालों में जुगुप्सा से बीभत्स रसाभास कहा जाता है।

विशेष (१)—रसाभास में इस प्रकार शृंगाराभासादि नव प्रकार के उदाहरण हो सकते हैं।

विशेष (२)—रसाभास का अर्थ है रस का दूषित होना। इसी भाँति भावाभास भाव का दूषित होना है। यथा—

> भर्‌यो कोप सों हिय लखत पीक लीक पल माहिं ;
>
> लालहि लागतहू गरे लगत काम-सर नाहिं।
>
> (वैरीशाल)

यहाँ नायक में प्रेम है, किंतु नायिका मे नहीं। इससे रसाभास है। नायक दो नायिकाओं का प्रेमी है, इससे भी रसाभास है।

पल=पलको मे। दोहे मे अमर्ष की मुख्यता है, और शृंगार-रसाभास उस भाव का अंग है।

> रामसिंह कर खड्ग लखि अरिगन अधिक अधीर,
>
> तजत सार साजत नदी सूर-बीर दृग-नीर।
>
> (कुलपति मिश्र)

यहाँ शूर-वीरो के डरकर रोने से वीर-रसाभास है। मुख्यता राजा-विषयक रति-भाव की है, क्योकि उन्हा की प्रशंसा अभीष्ट है। अतएव वीर-रसाभास राजा-विषयक रति-भाव का अंग है।

द्वितीय (ऊर्जस्वि) भावाभास- -भाव का दूषित होना भावाभास कहा जाता है। यथा—

ऊधो, तहाँईं चलौ लै हमैं, जहँ कूबरी-कान्ह बसैं यकठोरी,
देखिए 'दास' अघाय-अघाय तिहारे प्रसाद मनोहर जोरी।
कूबरी सों कछु पाइए मंत्र, दढ़ाइए कान्ह सों प्रेम कि डोरी;
कूबर-भक्ति बढ़ाइए बंदि, चढाइए, चदन-बदन रोरी।
(दास)

यहाँ सौति का सुख देखने की उत्कंठा, उससे मंत्र लेने की चिंता तथा कूबरी मे रति-भाव, ये सब भावाभास हैं, क्योंकि सभी बाते अनुचित अथच अस्वाभाविक हैं। मुख्यता बीभत्स-रस की है, क्योंकि नायक से घृणा का भाव प्रधान है। अतएव भावाभास बीभत्स-रस का अंग है।

ताकी समता देन को करौ कहाँ लगि दौर;
होत सौति-दृग जासु लखि बदन-मयंक चकोर।
(वैरीशाल)

अन्वय—जासु बदन-मयंक लखि सौति दृग चकोर होत।

सपत्नी नायिका से प्रसन्न है। यहाँ नायिका का प्रेम सौतो मे होने से भावाभास है, जो शृंगार-रस का अंग है। नायिका नायक को इतना चाहती है कि सौतो मे भी उसका प्रेम है।

धातु सिला, दार निरधार प्रतिमा को सार
सो न करतार है, बिचार बैठि गेह रे;
राखु दीठि अंतर, कछू न सून अंतर है,
जीभ को निरंतर जपाउ तू हरे-हरे।
मंजन बिमल 'सेनापति' मनरंजन तू
जानिकै निरंजन अमर-पद लेह रे;

करुन संदेह रे, कहे मै चित देह रे,
कही है बीच देह रे, कहा है बीच देहरे।
(सेनापति)

दार=दारु, काठ। सून=प्रसून, फूल चढाने मे कुछ नही है।

मज्जन करके, मनरंजन ईश्वर को विमल जानकर देह मे ही ईश्वरत्व कहा है, मंदिर में कुछ नही है। हिंदू-धर्म मानकर भी मंदिर मे देवत्व को न थापना भावाभास है, क्योकि वह है सभी कही। यह वितर्क भाव निर्गुण ब्रह्म-विषयक रति भाव का अंग है।

समाहित (भावशांति) (१०४)

समाहित (भावशांति)—किसी भाव के उत्पन्न होते ही उसका नाश हो जाना भावशाति है। जब भावशांति दूसरे भाव या रस का अंग हो जाय, तब समाहित अलकार होगा। यथा—

घोर घटा-से करिंद घने, बक-पाँति-से राजत हैं तिनके रद,
चंचला-सी चमकैं करबाल, जे देति हैं बैरिन को जय को पद।
भौंहैं चढ़ी धनु-सी 'धनीराम' महाधुनि गर्जित धीरन को नद,
रावरे को बरसा-सो बिलोकि गयो उडि हंस-ज्यौं बैरिन को मद।
(धनीराम)

यहाँ शत्रुओ का अहंकार शात हो गया है। छंद मे मुख्यता राजा-विषयक रति-भाव की है। अतएव भावशाति राजा-विषयक रति-भाव का अंग है।

बज्र हूँ दरत, महाकालै संहरत जारि,
भसम करत प्रलैकाल के अनल को;
झंझा पवमान अभिमान को हरत बाँधि,
थल को करत जल, थलै करै जल को।

पब्बै मेरु मंदर को फारि चकचूर करे,
कीरति छितीक हने दानव के दल को,
'सेनापति' ऐसे राम-बान, तऊ बिप्र-हेत
देखत जनेऊ खैंचि राखैं निज बल को।
(सेनापति)

पवमान=वायु। पब्बै=पर्वत।

यहाँ अमर्ष भाव की शांति ब्राह्मण-विषयक रति-भाव के उदय से है। मुख्यता भावशांति की है, जो ब्रह्मदेव-विषयक रति-भाव का अंग है।

स्मृति नव-नव उनकी आकर दिन-रात चली जाती है;
यह मदिराशा शिथिलित कर मृदु गात चली जाती है।
नैराश्य अनिल की धारा मृदु भावों की कलियों पर—
अनवरत रूप से करती हिम-पात चली जाती है।
('उमेश')

यहाँ सब कहीं भावशांति श्रृंगार-रस का अंग होने से समाहित अलंकार है। पहले पद में स्मृति शांत होती है, दूसरे में मद और अंतिम दोनों पदों में दैन्य।

भावोदय (१०५)

भावोदय—में किसी भाव के उत्पन्न होने में चमत्कार होता है। जब भावोदय किसी रस या भाव का अंग हो, तब भावोदय अलंकार है।

विशेष—इसमें भी कभी-कभी किसी भाव की शांति होती है, किंतु मुख्य चमत्कार शांति में न होकर उसके पीछे दूसरे भाव के उत्पन्न होने में होता है। यथा—

सुनि गुन मोहन के रहै हिय हुलसी अति बाम,
चहति बिचारि-बिचारि उर कब मिलिहै घनस्याम।

(गुलाब)

यहाँ औत्सुक्य संचारी के उदय में चमत्कार है। वह उत्कंठा शृंगार-रस का अंग होने से भावोदय अलंकार है।

कौने बिरमाए, कित छाए, अजहूँ न आए,
कैसे सुधि पाऊँ प्यारे मदनगोपाल की;
लोचन जुगुल मेरे ता दिन सफल ह्वैहै,
जा दिन बदन-छबि देखौं नँदलाल की,
'सेनापति' जीवन-अधार गिरिधर बिन
और कौन हरै बलि बिथा मो बिहाल की;
इतनी कहत, आँसू बहत फरकि उठी
लहर-लहर दृग बाईं ब्रज-बाल की।

(सेनापति)

यहाँ पहले दो पदों में उत्कंठा है, तीसरे में वितर्क और चौथे में आँसुओं में चिंता तथा आँख फड़कने में हर्ष का उदय है, अथच इसी की प्रधानता होने एवं इसके नायक-विषयक रति में शृंगार के अंग होने से भावोदय अलंकार है।

भावसंधि (१०६)

भावसंधि—में अनेक विरोधी भावों की एक व्यक्ति में स्थिति कही जाती है, और यह किसी भाव या रस का अंग हो जाती है।

विशेष—एक दूसरे को दबा सकने की योग्यता रखनेवाले भाव विरोधी कहलाते हैं। यथा—

ताछिन को तप पारबती को बिलोकि न कैसे हू जात सह्यो है;
वा मुख सों सुनते कथा चारु महा मन लालच पूरि रह्यो है।

त्यागत मैं कपटी वह बेष त्वरा सिथिलत्व न जात सह्यो है,
संकर दीनदयाल सोई हरिए भव-क्लेस यों चित्त चह्यो है।
(धनीराम)

यहाँ त्वरा (जल्दी) से आवेग और शैथिल्य से धृति संचारी भाव मिलते हैं। ये दोनो विरोधी होने से भाव-संधि है। शिव गिरिजा-कृत तप के दुख छुडाने के कारण जल्दी मे थे कि कपटी वेष छोड़कर उनका क्लेश दूर करे, तथा सुनने की प्रसन्नता के कारण अपना कपटी वेष शीघ्र छोडना नही चाहते थे। यहाँ भावसंधि शिव-विषयक रति-भाव का अंग है।

भावसबलता (१०७)

भावसबलता—में अनेक (अविरोधी, विरोधी, उदासीन) भावों का एक व्यक्ति मे समावेश होकर यह दूसरे रस या भाव का अंग होता है।

भावसबलता के विषय में मतभेद—काव्यप्रकाश की एक टीका में आया है कि एक के बाद दूसरे भाव का मर्दन करके ही दूसरा भाव उत्पन्न होना चाहिए।

पंडितराज यह पसंद नहीं करते। उनके अनुसार पाँचवें उल्लास में ऐसा उदाहरण स्वयं मम्मट ने दिया है, जिसमें उपमर्दन नहीं है। किसी-किसी का मत है कि इसमे किसी भाव का तो मर्दन हो जाता है, तथा कोई गिरता हुआ दिखलाई देता है, अथच अन्य भाव उपमर्दन करता हुआ। काव्यप्रकाश के टीकाकार का कहना है कि उनका मत न मानने से भावसबलता की भावसंधि में अतिव्याप्ति हो जाती है। यह मत ठीक समझ नही पड़ता। भावसंधि में केवल विरोधी भाव होते है, और इस (सबलता) मे हर प्रकार के। यह भेद है ही। यथा—

जुद्ध-हेत रघुबर चलत, लखि अरिगन अकुलात,
काँपत अरु रोवत, भजत, किते मूरछा खात।
(सोमनाथ)

यहाँ मोह (अकुलाना), कंप, अश्रु, त्रास (भागना) और अपस्मार (मूर्च्छा)-नामक संचारी भाव भगवान्-विषयक रति-भाव के अंग हैं। ये सब अविरोधी भाव है।

भाग-हीन क्यों देखिए जलद स्याम ब्रजराज,
हाय न नैनन ते टरति नेकु निगोड़ी लाज।
(वैरीशाल)

यहाँ निर्वेद (भाग्य-हीन से), चिंता (क्योकर देखिए से), विषाद (हाय से) और लज्जा (लाज न टलने से) संचारी भाव हैं, जो शृंगार-रस के अंग हैं।

ऐसी न उचित हमैं देखि कोऊ कहा कैहै,
कहै सो कहै जू इतै चितै बलि को डरै ?
(दूलह)

यहाँ पहला भाव शंका का है, और दूसरा उसे दबाकर गर्व का। "कोऊ कहा कैहै" मे शंका और "कहै सो कहै जू को डरै" मे गर्व है। "कहै सो कहै" मे दैन्य का भी भाव है, और "इतै चितै" मे आवेग, किंतु "को डरै" से ये शंकाएँ दब जाती हैं, और गर्व प्रधान रहता है। ये भाव शृंगार के अंग होने से यहाँ भावसबलता है।

कीन्हो बालपन बाल-केलि मै मगन मन,
लीन्हों तरुनाए तरुनी के रस तीर को,
अब तू जरा मै परयो मोह-पिंजरा मै, 'सेना-
पति' भजु रामै, जो हरैया दुख-पीर को।
चितहि चिताऊँ, भूलि काहू न सुताऊँ, आउ
लोह कैसो ताव न बचाउ है सरीर को;

लेह-देह करिकै पुनीत करि लेह देह
जीभै अवलेह देह सुरसरि-नीर को।
(सेनापति)

अवलेह=चाटनेवाली वस्तु। लेह-देह (सुगुण का) लेना-देना।

यहाँ प्रथम पद मे स्मृति संचारी भाव है, तथा दूसरे मे मति। तीसरे पद मे कई प्रकार के विचार आने से वितर्क है, जो आधे भाग चौथे पद तक चलता है, तथा चौथे पद के अंत मे धृति (धीरज धरने का) है। इससे भावसबलता होती है, जो देव-विषयक रति-भाव का अग है।

है तौ जीव औसि, पे जू थिर के अथिर, एक
सक्ति कैधौ व्यक्ति, यह मरम ललाम है,
दास-भाव रामानुजवारो ठीक बैठै, कैधौ
सोमित अद्वैतवाद साँचो गुन-धाम है।
इहाँ तौ बिचार-बल सारो दरसात पंगु,
भाष्यो तुलसीहू ह्याँ तरक का न काम है;
ररकार मूल कैधौं दसरथनंद मानौ,
साँचो बिसवास मै लखात राम-नाम है।
(मिश्रबंधु)

यहाँ वैबोध, वितर्क और धृति भाव आते हैं, तथा भावसबलता निर्वेद का अंग है।

रसवदादि सातो अलंकार ऐसे हैं, जिनमे रस या भाव के अपरागो-मात्र का कथन है। अत: सबको अपरागालंकार कहकर उसके सात भेद मानने से भी काम चल सकता था। फिर भी आचार्यो ने इन्हे पृथक्-पृथक् अलंकार माना है, जिससे हमने भी अलग-अलग नंबर दे दिए हैं। हर-एक में कुछ-न-कुछ रस या भाव की अपरागता है। रसवत् मे रस अप-राग है, प्रेयस् में भाव, ऊर्जस्वि मे रसाभास या भावाभास, समाहित में

भावशांति, भावोदय मे भावोदय, भावसंधि मे प्रतिकूल भाव तथा भाव-सबलता में विविध भाव। इस प्रकार यद्यपि देखने मे ये समझने के लिये दुर्गम-से जान पडते हैं, किंतु वास्तव मे हैं बहुत ही सुगम। इनमे विशेषतया संचारियो का खेल है, तथा ये किसी प्रधान रस या भाव के अंग होकर चलते हैं, अथच छंद मे मुख्यता उसी प्रधान रस या भाव की रहती है।

रसवदादि में अलंकारता है या नहीं—रसवदादि को अलंकार मानना चाहिए या नहीं, इसके विषय में साहित्यदर्पण कई मतों का उल्लेख करता है।

प्रथम मत इनको अलकार न माननेवालों का। यथा —

"इह केचिदाहुः—वाच्यवाचकरूपालङ्करणमुखेन रसाद्युपकारका एवालङ्काराः। रसादयस्तु वाच्यवाचकाभ्यामुपकार्या एवेति न तेषामलङ्कारता भवितुं युक्ता इति।"

प्रयोजन उनके कहने का यों है—"कुछ लोग ऐसा कहते हैं—अलकार शब्द और अर्थ के द्वारा रस का उपकार करते हैं, इससे वे अलकार हैं। रसवदादि शब्द और अर्थ के उपकार्य हैं, अतएव उनमें अलंकारता का आरोप युक्त नहीं।"

जब शब्द और अर्थ काव्य के शरीररूप हैं, अथच रस आत्मारूप, तथा अलंकार शरीर (शब्द या अर्थ) के द्वारा रस (आत्मा) का उपकार करते हैं, तब वे सदैव उपकारक और रस उपकार्य है। रस-वदादि किसी रस या भाव के जब अंग हो जाते है, तब उसकी शोभा बढाने से उन्हे अलंकार कहा जाता है। अलंकारो के हर हालत मे उपकारक-मात्र होने से उपकार्यो मे उनका सन्निवेश नही हो सकता। अतएव ये अपराग अलंकार नही माने जा सकते, और इनका वर्णन रसभेद तथा भावभेद मे होना चाहिए।

रसवदादि को भाक्त अलंकार मानना चाहिए।

अन्येतु—"रसाद्युपकारमात्रेणेहालङ्कृतिव्यपदेशो भाक्तश्चिरन्तनप्रसिद्धयाङ्गीकार्य एव।"

"रसादिकों के उपकारक होने के कारण प्राचीन प्रसिद्धि के अनुसार (लक्षणा द्वारा) इन्हें भी अलंकार मानना ही चाहिए।"

"रसादिकों के उपकारक होने के कारण प्राचीन प्रसिद्धि के अनुसार (लक्षणा द्वारा) इन्हें भी अलंकार मानना ही चाहिए।"

यहाँ अलंकारता शब्द का भाक्त (लाक्षणिक) अर्थ-मात्र लिया गया है, इतना ही भेद है।

इस मत के ग्रहीताओ का तात्पर्य यह है कि उपमादि अलंकार रस का उपकार अर्थ या शब्द द्वारा करते हैं, जिससे इनमे अलंकारता मानी जाती है, तथा रसवदादि अलंकारो मे रस का उपकार (शब्द और अर्थ के द्वारा न होकर) सीधे होता है। रस का उपकार दोनो (उपमादि तथा रसवदादि) मे होता ही है, एक में शब्द या वाच्यार्थ द्वारा और दूसरे मे सीधे। अतः (रस का) उपकार दोनो मे होने से केवल शब्दार्थ द्वारा तथा सीधे-सीधे उस (उपकार) के होने मे इतना भेद न समझना चाहिए कि अपरागो को अलंकार ही न माने। यह दूसरा मत है।

तीसरा मत यों कहा गया है—

"अपरे च—रसाद्युपकारमात्रेणालङ्कारत्वमुख्यतो रूपकादौ तु वाच्याद्युपधानमजागलस्तन्यायेन इति।"

"मुख्यतया रसादि के केवल उपकार मे अलकारत्व है, तथा रूपकादि अलकारों में प्रधानता से अर्थ आदि का उपकार होने से उनकी स्थिति बकरी के गलेवाले स्तनों की-सी (निरर्थक) हो जाती है।"

द्वितीय और तृतीय मतों का सिंहावलोकन—द्वितीय मतवालों ने अलंकारत्व का रसवदादि में स्थापन लाक्षणिक अर्थ से किया है।

तृतीय मतवाले कहते हैं कि यह मत मान्य नहीं, क्योंकि वास्तव में रसादि के सीधे-साधे उपकारी होने से मुख्य अलंकारता रसवदादि में ही है।

दूसरे मतवाले उपमादि को प्रधान अलंकारता देते है, और तीसरेवाले रसवदादि को।

चौथा मत निम्नानुसार है—रसवदादि में भी अंग रसादि शब्द और अर्थ ही के द्वारा प्रधान (अंगी) रस या भाव का उपकार करते हैं। अतएव ये भी अलकार है। चौथे मत मे जो गड़बड़ पड़ेगा, यह एक उदाहरण द्वारा प्रकट किया जाता है—

ताहि देखि मन तीरथनि बिकटनि जाय बलाय,
जा मृगनैनी के सदा बेनी परसति पाय।

(बिहारी)

जिस मृगनैनी (हरिण के समान नेत्रवाली) के सदैव बेनी (केश या त्रिवेणी) पैर छुआ करती है, उसे छोड़कर दुखद तीर्थों को कौन जायगा? काव्यलिंग अलंकार है। यहाँ अलंकार वाच्यार्थ को चमत्कृत करता हुआ संयोग श्रृंगार का भी उपकार करता है।

रसवदाद्यलकार नहीं—ऊपर ऊर्जस्वि के उदाहरण मे जो यह कुलपति द्वारा कहा गया है कि राजा के हाथ मे खड्ग देखते ही विपक्षी शूरगण रोते है, वहाँ वीर-रसाभास अर्थ द्वारा राजा-विषयक रति-भाव का उपकारक है। बिहारीवाले दोहे मे काव्यलिंग द्वारा वाच्यार्थ की भी शोभा बढती है, किंतु ऊर्जस्विवाले मे वाच्यार्थ की शोभा नही बढ़ती, वरन् रस का उपकार-मात्र होता है। अलंकार की मुख्यता शब्द या वाच्यार्थ के चमत्कृत करने मे है। उपकार

रसादि का हर अवस्था में होता ही है। इसीलिये बिहारीवाले दोहे में अलंकार की प्रधानता है, तथा कुलपतिवाले में रस की। इन कारणों से रसवदाद्यलंकार न होकर असंलक्ष्य-क्रम अपरांग व्यंग्य-मात्र हैं।

प्रमाणालंकार

मीमांसक भट्ट और वेदांती—प्रत्यक्ष, शब्द, अनुमान, उपमान, अर्थापत्त्य और अनुपलब्ध्य छ प्रमाण मानते हैं । ये ईश्वर के निर्णय करने के लिये माने गए हैं ।

मीमांसक-प्रभाकर—अनुपलब्ध्य को न मानकर केवल पाँच माने हैं ।

न्याय के आचार्य गौतम—अर्थापत्य को भी न ग्रहण करके चार ही रखते हैं ।

सांख्य-शास्त्रवाले—उपमान को भी पृथक् कर देते हैं, अत. इस मत से तीन ही रहे—प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द-प्रमाण ।

वैशेषिक तंत्र के कर्ता कणाद तथा बौद्ध—प्रत्यक्ष और अनुमान को ही स्वीकार करते हैं ।

पौराणिको ने—दो और बढाकर ईश्वर-निर्णय करने के आठ प्रमाण माने थे—(१) प्रत्यक्ष (२) अनुमान (३) शब्द (४) उपमान (५) अर्थापत्त्य (६) अनुपलब्ध्य (७) संभव और (८) ऐतिह्य । उन्ही को अलंकारिको ने भूषण मानकर ग्रहण कर लिया ।

संस्कृत के आचार्यो मे मम्मट तथा विश्वनाथ ने प्रमाणालंकारो मे से केवल अनुमान का कथन किया है। महाराजा भोज ने आठ मे से छ को कहा है, तथा अप्पय्य दीक्षित ने आठो को ।

हिंदी के आचार्यों मे भूषण, कन्हैयालालजी पोद्दार, सोमनाथ, देवकीनंदन आदि ने केवल अनुमान को माना है । कुमारमणि, दास, दूलह, वैरीशाल, भानु, रसाल, पद्माकर आदि आठो प्रमाण मानते हैं । मतिराम, ब्रह्मदत्त, चिंतामणि, लेखराज, चंदन, रसिक, सुमति, महाराज यशवंत-

सिंह, ऋषिनाथ, मुरारिदान, रघुनाथ, गोकुलनाथ, रामसिंह आदि ने एक भी नहीं माना है ।

हमारा मत भी इसी अंतिम वर्गवालों से मिलता है । फिर भी पाठकों के बोध के लिये कथन सबका किए देते हैं ।

अनुमान (१०८)

अनुमान—जहाँ साधन (हेतु) द्वारा साध्य (सिद्धि की हुई वस्तु) का ज्ञान कराया गया हो, (और उसका निष्कर्ष वहीं शब्द द्वारा निकाला गया हो) वहाँ अनुमानालंकार है । यथा—

> अँखियाँ हमारी दईमारी सुधि-बुधि हारी,
> मोहू सों जु न्यारी 'दास' रहैं सब काल मैं,
> कौन कहै ज्ञानै, काहि सौंपत सयानै, कौन
> लोक-ओक जानै, ये नहीं हैं निज हाल मैं ;
> प्रेम पगि रहीं, महामोह मैं उमगि रहीं,
> ठीक ठगि रहीं, लगि रहीं वनमाल मैं ;
> लाज को अँचैकै, कुल धरम पचैकै बिथा
> बृंदनि सचैकै, भई मगन गोपाल मैं ।
>
> (दास)

यहाँ बहुत-से साधन लिखे गए हैं, जिनमे यह निष्कर्ष निकालना पड़ता है (क्योंकि पद्य में शब्दों द्वारा साफ नहीं निकाला गया है) कि आँखें भगवान् की ओर से हट नहीं सकती । यहाँ काव्यलिंग (नं० ५६) अलंकार है ।

काव्यलिंग का लक्षण—हमने अनुमान नहीं माना, अतः काव्य-लिंग का लक्षण बदलकर ऐसा करना पड़ेगा—जहाँ वाक्यार्थता या

पदार्थता को कारणता देकर समर्थन किया जाय, वहाँ काव्यलिंग अलंकार होता है।

काव्यलिंग से अनुमान का भेद—पंडितराज का मत है कि जहाँ (शब्द द्वारा) निष्कर्ष स्वयं कवि ने निकाल दिया हो, वहाँ अनुमान होगा, और जहाँ वह पढ़नेवालों को निकालना पड़े, वहाँ काव्यलिंग समझा जायगा। यथा—

मोहिं महाराज आप नीके पहिचानैं, रानी
जानकी हू जानै हितू लच्छनकुमार को,
विभीषन, हनूमान तजि अभिमान मेरो
करैं सनमान जानि बडी सरकार को।
एरे कलिकाल, मोहिं कालौ ना निदरि सकै,
तू तौ मतिमूढ अति कायर गँवार को;
'सेनापति' निरधार, पायँ-पोस-बरदार
हौ तौ राजा रामचंद्रजू के दरबार को।
(सेनापति)

यहाँ यह तो कहा गया कि तू मेरा कुछ नही कर सकता, मैं रामचंद्र का सेवक हूँ, परंतु कवि ने शब्द द्वारा यह निष्कर्ष नही निकाला कि सेवक होने के कारण ही ऐसा है। इसी से अनुमान का न होकर यह भी काव्य-लिंग का उदाहरण है। आगे अनुमान के उदाहरण आते हैं।

रामजू को पाय मुनि मन ना सकत पाय,
पैए जो समाधि, जोग जप-तप करिए;
मोह सरसाने, हम कलि-मल-साने, पैहो
राम-पाय गहिबे को कैसे अटकरिए।
एकै है उपाय राम-पाय के पकरिबे को,
'सेनापति' बेद कहै अंध की लकरिए;

राम - पद - संगिनी तरंगिनी है गंगा तातें
याहि पकरे ते पाय राम के पकरिए ।
(सेनापति)

सेनापति कहते हैं कि राम के पद पकड़ने का एक ही उपाय है, जो वेद मे कथित अंधे की लकड़ी के समान है । यहाँ साधन है राम-पद-संगिनी होने के कारण गंगा-नदी, और साध्य है राम के पैरों का पकड़ना । "एकै है उपाय" तथा 'तातें यहि (गंगा) के पकरे ते" कवि ने निष्कर्ष स्वयं निकाला है, जिससे अनुमानालंकार प्राप्त है ।

काल ते कराल कालकूट कंठ माहिं लसै ,
ब्याल उर माल, आगि भाल सब ही समै ,
ब्याधि के अरंब ऐसे ब्यापि रह्यो आधो अग,
रह्यो आधो अंग, सो सिवा के बकसीस मैं ।
ऐसे उपचार ते न लागतो बिलात बार,
पावतो न वाके तिल एकौ कहूँ ईस मैं ;
'सेनापति' जिय जानी सुधा ते सरस बानी ,
जो पै गंग रानी को न पानी होतो सीस मैं ।
(सेनापति)

सब ही समै=सब सामान सम (एकसाँ) है, या आग हर समय रहती है । अरंब=ढेर । अन्वय— वाके तन में कहूँ एकौ तिल ईस (ता) न पाता । महादेव के आधे तन में पार्वतीजी हैं, तथा शेषार्द्ध मे विष, सर्प और (मत्थे के नेत्र में) अग्नि हर समय है । इन कारणों से सिव के गायब हो जाने मे देर ही न लगती, यदि उनके सिर पर गंगाजी न होती ।

"जिय जानी" शब्दों से साफ निष्कर्ष कवि द्वारा निकाला गया है । अनुमान है ।

उत्प्रेक्षा तथा अनुमानवाचक शब्दों के अर्थ में भेद—साहित्य-दर्पण में लिखा गया है कि अनुमान में निश्चित रूप से तथा उत्प्रेक्षा में अनिश्चित प्रकार से प्रतीति होती है। उपर्युक्त छंद में जानी (जानो) वाचक है। यही जनु, मनु आदि उत्प्रेक्षा के वाचक होते हैं। अनुमान मे उनका अर्थ निश्चयवाची तथा उत्प्रेक्षा में अनिश्चयवाचो प्रसंग के अनुसार होता है।

दच्छिन दग फरकन लगो, कोकिल बोलत बाम ;
कुंजन ताते राधिका अब मिलिहै अभिराम।
(देवकीनंदन)

यहाँ भी कवि ने निष्कर्ष निकाल दिया है।

अँगरेजी पढी जब ते, तब ते हमरो तुम पै बिसवास नहीं ;
तुम हौ कि नहीं, यहै सोचो करैं, परमान मिलै, परकास नहीं।
बिनु जाने न होत सनेह 'बिसाल' सनेह बिना अभिलास नहीं ;
यहि कारन ते हमको सिवजू तरिबे की रहा कछु आस नहीं।
(विशाल)

"यहि कारन" शब्द से निष्कर्ष निकालना प्रकट है।

करि पूजन ढुंढि बिनायक को अनुपुन्नहु के पद पेखि लियो ;
बढ़ि धाय मिनारहु पै चढ़िकै धनुषाकृति कासिका देखि लियो।
पुनि भोरहु मैं धसि बीर 'बिसाल' तुम्है हूँ भले अवरेखि लियो ;
यहि कारन ते हम तौ सिवजू अपने को तरेन मैं लेखि लियो।
(विशाल)

तव नाम को ऐसो महातिमु है, जो सदा सब पातक खाम करै ;
पुनि ध्यान को भूरि प्रभाव उताल अकिंचन को धन - धाम करै।

स्नम थोरेहि पै तव रीझि 'बिसाल' अनेकन भाँति अराम करे,
तप मैं पचिकै तब क्यों सिवजू कोऊ आपनो काम तमाम करै ?

(विशाल)

यहाँ भी निष्कर्ष कवि ने निकाल दिया है।

जब मातु के पेट मैं पीड़ित ह्वै कबौं रंचकहू सुख पायो नहीं;
बिसवास 'बिसाल' भयो तब तौ, कछू पूरब पुन्य कमायो नहीं।
तेहि ठौर पै जौन करार कियो, तेहि की सुधि कोऊ दिवायो नहीं;
यहि कारन सों सिवजू तुमको हम बालपने बिच ध्यायो नहीं।

(विशाल)

ज्ञान जो विज्ञान को बिचारैं मन मैं, तौ मौत
उत्पतिवारी सब बातें हल होती है;
देहन के नशे ते नसै न पंचभूत, एक
रूप के नसे ते अन्य हेत बीज बोती हैं।
रूप को बदलिबोई जीवन-मरन जानो,
देहै एक अनुहू नसे ते नहि खोती हैं;
खेलो करै तेई परिवरतनवारो खेल,
आतमा कहाँ सों लै सरीर मैं पिरोती हैं।

परमानु-मूलक लेखात है जहान सब,
परमानुहू को केंद्र सकति को जानिए;
सकति सों इतर कछू न दरसात ह्वै,
सिगरो जगत खेल ताही को प्रमानिए।
सकति-समूह सोई राजि जगदीस रह्यो,
एतोई अद्वैत-मत सकर को मानिए;
थाई जीव गुने ते गिरत सो अमोघ मत,
ईस मैं लगति लघुताई दुख दानिए।

ब्यवहार - मूलक सरूप है जगतवारे,
रूप मैं दिखात नही साँची थिरताई है ;
संकरजू ब्यवहार जीव मै लगावत, जो
तामैं संक - पूरित तरक दरसाई है ।
जीव तौ कबहुँ ब्यवहार मैं न आवत है,
अनुभव माहि छटा सकति की छाई है ;
छोड़ि ब्यवहार-भाव मानौ जो अद्वैत-मत,
वामै तौ विज्ञानवादी छापहू सोहाई है ॥
अनुभव देहनि को मिलत सदा ही रहै,
देहिन को हाल हमैं पूरो अबिदित है,
मन, बुधि, चित, अहंकार को चतुष्टय जो,
देहिन को साखी सो बतायो गयो नित है ।
साखिन को बल किंतु देखि जो सकल परै
सोऊ अत माहि देह ही पै परिमित है ;
ज्ञान पच इंद्रिय बतावतो हमैं हैं जौन,
ताही के बिचार को प्रसार चढ़ै चित है ॥
"हम है" को भाव जो बनोई सब जाम रहै,
ताही पै महान जीवबादिन को जोर है,
सुमिरन - मनन के बल जे प्रबल महा,
तिनको प्रकास फैलो रहै चहुँ ओर है।
देखिबे औ' जानिबे को अतर बिसाल जौन,
(perception and conception)
ताहू मैं लखात बुधि - बल बरजोर है ;
चेतना जो महत प्रभाव दरसायो करै,
सोऊ जीव - बाद को प्रमान घनघोर है ।

(मिश्रबंधु)

इनमें प्रारंभिक चारो छंदो मे जीवात्मा असिद्ध प्रमाणित-किया गया है, और अंतिम प्रमाणित तथा निष्कर्ष प्रबंध मे ही निकाल दिया गया है। अतः यहाँ काव्यलिंग न होकर अनुमानालंकार मानना उचित है।

नाचि अचानक ही उठे बिनु पावस घनघोर ;
जानति हौ नंदित करी यह दिसि नंदकिसोर ।

(बिहारी)

यहाँ 'जानति हौं'' का अर्थ लेना चाहिए निश्चित ।

चित अनचैन, आँसू उमगत नैन देखि,
बीबी कहैं बैन मियाँ कहियत काहि नै ;
'भूषन' भनत बूझे आए दरबार ते,
कँपत बार-बार क्यों, सम्हार तन नाहि नै ?
सीनो धकधकत, पसीनो आयो देह, सब
हीनो भयो रूप, न चितौति बाएँ-दाहिनै ;
सिवाजी की सक मानि गए हौ सुखाय, तुम्है
जानियत दक्खिन को सूबा किधौ साहि नै ।

अंझा-सी दिन की भई सम्झा-सी सकल दिसि,
गगन लगन रही गरद छवाय है ;
चील्ह, गीध, बायस-समूह घोर रोर करैं,
ठौर-ठौर चारौ ओर तम मड़राय है।
'भूषन' अँदेस, देस-देस के नरेसगन मैं
आपुस मै कहत यो गरब गँवाय है,
बडो बड़वा को जितवार चहुँघा को दल,
सरजा सिवा को जानियत इत आय है ।

(भूषण)

भूषण के इन दोनो छंदो मे "जानियत" (निश्चयवाची) शब्द है। इनमे कवि द्वारा निष्कर्ष निकलने से अनुमान है।

अनुमान का काव्यलिंग में अंतर्भाव—

कनक कनक ते सौगुनी मादकता अधिकाय ;
वह खाए बौरात नर, यह पाए बौराय।

(बिहारी)

यहाँ काव्यलिंग है, क्योंकि निष्कर्ष पाठक द्वारा निकलता है।

कनक कनक ते हेतु यहि मादकता अधिकाय ;
वह खाए बौरात नर, यह पाए बौराय।

अब अनुमान हो गया, क्योंकि कवि ही ने निष्कर्ष निकाला है। इतने ही थोड़े अंतर से, जिससे अर्थ में वास्तविक भेद पड़ता भी नहीं, अलंकार का बदलना उचित नहीं समझ पड़ता। इसीलिये हम उन कवियों से मतैक्य रखते हैं, जो अनुमान को काव्यलिंग के अंतर्गत मानकर पृथक् अलंकार नहीं समझते।

विशेष—अनुमान के काव्यलिंग में अंतर्भूत होने से जो अलंकार इसमें मिल जायँगे, उन सबको भी काव्यलिंग का ही भेद मानना चाहिए।

उपमान (प्रमाण) (१०९)

उपमान (प्रमाण)—में सादृश्य के कारण किसी वस्तु का ज्ञान होना कहा जाता है। यथा—

इंदीबर-सों बर बरन, मुख ससि की अनुहार ;
धरे तड़ित-सम पीत पट ऐसो नंदकुमार।

(पद्माकर)

लसत कमल-सम अमल चख, बिधु-सो बदन बिसाल,
जातरूप को रूप है, सो राधा, नँदलाल।

(वैरीशाल)

उपमान (प्रमाण) का अंतर्भाव—इसमे सादृश्य का चमत्कार होने के कारण इसे उपमा मे अंतर्भूत मानना चाहिए। यही मत उद्योतकार का भी है। दूसरा मत यह भी है कि इसमे उपमान को देखकर उपमेय का अनुमान होने से इसको अनुमान के ही अंतर्गत मानना चाहिए, और अनुमान काव्यलिंग में गया, अतः इसको भी उसी मे मानना योग्य है।

प्रत्यक्ष (११०)

प्रत्यक्ष—पंचेंद्रियों द्वारा अनुभूत ज्ञान को कहते हैं।

कर्ण, नेत्र, त्वचा (स्पर्शेंद्रिय), नासिका और जिह्वा, ये पाँचो ज्ञानेंद्रियाँ हैं। यथा—

है निहिचै यह राधिका धरे रूप को भार ;
कियो जात क्यों और सों अँधियारो उजियार।

(वैरीशाल)

प्रत्यक्ष में अलंकारता का आभास नहीं—उद्योतकार का मत है कि इसमे जहाँ चमत्कार होता है, वहाँ भाविक अलंकार (नं० ६४) आता है। अन्यत्र चमत्कार का पूर्ण अभाव रहता है। यही मत ग्राह्य समझ पड़ता है, क्योंकि जो लौकिक है, उसको सामान्य हो जाने से उसमें चमत्कार का अभाव रहता ही है।

शब्दप्रमाण (१११)

शब्दप्रमाण—मे किसी के कहे हुए शब्दों के कारण यथार्थ ज्ञान होता है।

इसमें श्रुति, स्मृति, पुराण, आगम (जो पूर्व काल से चला आता है), आचार, आत्मतुष्टि आदि को माना जाता है।

आदि से जैसे मुसलमानों के लिये कुरान शरीफ व शरीयत तथा ईसाइयों आदि के लिये बाइबुल आदि समझनी चाहिए।

विशेष—देखने में आचार चाहे कष्ट-कल्पना से शब्द के अंदर मान भी लिया जाय, किंतु आत्मतुष्टि उसमें नहीं आती, जब तक उसे अपने हृदय के शब्द न कहने लगिए।

लागत आजु सोहावने सजल स्याम घनघोर;
कहत हरष मो मन अली आवत नंदकिसोर।

(वैरीशाल)

यहाँ हर्ष द्वारा आत्मतुष्टि से प्रमाण माना गया है, जो हर्ष बाह्य स्थितियों से हुआ है।

मरै बैल गरियार, मरै वह अड़ियल टट्टू;
मरै करकसा नारि, मरै वह खसम निखट्टू।
बाँभन सो मरि जाय, हाथ लै मदिरा प्यावै;
पुत्र वही मरि जाय, जु कुल मैं दाग लगावै।
अरु बेनियाव राजा मरै, तबै नींद भरि सोइए;
'बैताल' कहै, बिक्रम सुनौ, एते मरे न रोइए।
राजा चंचल होय, मुलुक को सर करि लावै,
पंडित चंचल होय, सभा उत्तर दै आवै।
हाथी चंचल होय, समर मैं सूँडि उठावै;
घोडा चंचल होय, झपटि मैदान दिखावै।
है ये चारो चंचल भले, राजा, पंडित, गज, तुरी;
'बैताल' कहै, बिक्रम सुनौ, तिरिया चंचल अति बुरी।
मर्द सीस पर नवै, मर्द बोली पहिचानै,
मर्द खवावै, खाय, मर्द चिंता नहिं मानै।

मर्द देइ औ' लेइ, मर्द को मर्द बाचवै ;
गाढ़े-सकरे काम मर्द के मर्द आवै ।
पुनि मर्द तिनहि को जानिए, दुख-सुख साथी दर्द के ,
'बैताल' कहै, बिक्रम सुनौ, ई लच्छन हैं मर्द के ।
चोर चुप्प ह्वै रहै, रैनि अँधियारी पाए ;
संत चुप्प ह्वै रहै, मढ़ी मै ध्यान लगाए ।
बधिक चुप्प ह्वै रहै फाँसि पछी लै आवै ;
छैल चुप्प ह्वै रहै सेज पै तिरिया पावै ।
बर पिपर-पात हस्ती-स्रवन कोइ-कोइ कबि कुछ-कुछ कहै ,
'बैताल' कहै, बिक्रम सुनौ, चतुर चुप्प कैसे रहैं ।

(बैताल)

सतत सहज सुभाव सौं सुजन सबै सनमानि ;
सुधा-सरिस सींचत स्रवन सनी सनेह सुबानि ।

(दुलारेलाल भार्गव)

छत्रिन की यह बृत्ति बनाई ;
सदा तेग की खायँ कमाई ।
गाय - बेद - बिप्रन प्रतिपालैं ;
घाव ऐंबधारिन पर घालैं ।
जब यह सृष्टि प्रथम उपजाई ;
तेग-बृत्ति छत्रिन तब पाई ।

(लाल कवि)

यहाँ शब्द प्रमाण का आगम भेदांतर है ।

साँईं अपने चित्त की भूलि न कहिए कोय
तब लगि मन मैं राखिए, जब लगि काज न होय ।
जब लगि काज न होय, भूलि कबहूँ नहि कहिए ;
दुरजन हँसै ठठाय, आप सियरे ह्वै रहिए ।

कहि 'गिरिधर कबिराय' बात चतुरन के ताईं,
करतूती कहि देत, आपु कहिए जनि साईं।
(गिरिधर कविराय)

यहाँ लोकाचार प्रमाण है। नीचे के उदाहरण में व्यास-वचन का प्रमाण है।

माला दस-बीस नित नेम सों जपोई करैं,
पै न पुन्य-फल यामैं रचक लखात है;
धूम-पान जैसे समौ काटिबे को करैं नर,
जाप त्यों हमैं हूँ काल-यापन की बात है।
बिरचि पुरान बहु भाख्यो ब्यास भगवान,
पुन्य उपकार, पाप अपकार ख्यात है;
उपकार-अपकारवारी बात जाप माहिं
बहुत बिचारहू किए न दरसात है।
(मिश्रबंधु)

शब्द प्रमाण काव्यलिंग के अंतर्गत है—इसमें यत् किंचित् चमत्कार है, वह अनुमान का विषय है, और अनुमान काव्यलिंग के अंतर्गत हैं, अतः यह भी काव्यलिंग का भेद-मात्र है।

अर्थापत्ति (प्रमाण) (११२)

अर्थापत्ति (प्रमाण)—में न मानने से काम न चलने के कारण मानना योग्य समझा जाता है। यथा—

तिय तेरे कटि है, यहै हौं कीन्हों निरधार;
जो न होय, तौ को धरै बिपुल पयोधर-भार।
(गुलाब)

अर्थापत्ति अनुमान में है—प्रबल कारण होने से इसमें न दीखने पर भी कल्पना करनी पड़ती है; और कल्पना अनुमान का

विषय है, तथा अनुमान काव्यलिंग का, अतः इसको भी काव्यलिंग ही में मानना योग्य होगा।

अनुपलब्धि (११३)

अनुपलब्धि—में पंचेंद्रियों द्वारा अनुभूत अभाव-संबंधी ज्ञान से किसी के न होने का निश्चय किया जाता है। यथा—

सीतलता रजनीस मैं अलि अब नेकहु है न ;
लिए ज्वलन की ज्वाल अँग दहत आजु तन ऐन।
(वैरीशाल)

यहाँ शीतलता के अभाव में चंद्र में उस गुण का न होना माना गया है।

अनुपलब्धि की चमत्कार-हीनता—पंचेंद्रियों से अनुभव में न आने पर न होना निश्चय किए जाने से यह भी प्रत्यक्ष प्रमाण में आ जाता है, और प्रत्यक्ष में कोई अलंकारता नहीं। अतः इसमें भी कोई अलंकारता नहीं है।

संभव (११४)

संभव—में किसी वस्तु के न होने को संभव (होने योग्य) रूप में कहते हैं। यथा—

ह्वै हैं ऐसेहु जीव कछु यही विपुल जग माहिं ;
लखि तव लोचन जिन हिये लगे काम-सर नाहिं।
(वैरीशाल)

संभव में अन्य अलंकारों का ही चमत्कार—इस उदाहरण में अतिशयोक्ति का चमत्कार है। इसमें जहाँ आस्वाद रहता है, वहाँ सदा अन्य अलंकार का ही होता है। एक मत यह भी है

कि यह अलंकार अनुमान के अंतर्गत होता है। जैसे इस प्रकरण के अंत में आनेवाले दूलह के छंद में संभव के उदाहरण में कि व्रज मे क्या संभव नहीं, इसमे अनुमान-मात्र है। इसी प्रकार वैरीशाल-वाले मे काम-शर के लगने का भी अनुमान-मात्र है।

ऐतिह्य (प्रमाण) (११५)

ऐतिह्य (प्रमाण)—मे कोई प्रसिद्धि परंपरा से चली आती हुई उक्ति के अनुसार निश्चित किया जाता है। यथा—

जैबे पिय परदेस को क्यों सुनिबे की नाहिं;
कहा न सुनिए-देखिए, कहा न जी जग माहिं।

(वैरीशाल)

संसार मे जीकर जब क्या-क्या देखा-सुना नहीं जाता, तब प्रियतम का परदेश जाना ही क्यो न सुनने योग्य है?

पिय बिदेस ते आइहै, जिय जनि धरै विषाद;
नर जीवत सो सुख लहै, ऐसी लोक-प्रवाद।

(पद्माकर)

यह छंद "जीवन्नरो भद्रशतानि पश्येत्" के आधार पर है। दूलह मे हमने प्रत्यक्ष अनुमान और उपमान अलंकारो को जो नंबर दिए थे, उनसे यहाँ कारण-वश कुछ परिवर्तन हो गया है। शेष पाँचो प्रमाणालंकारो के अब भी वे ही नंबर हैं, जो पहले थे। दूलह के ग्रंथ मे हमें उनके मतानुसार चलना पड़ा था, और वे आठो प्रमाणो को मानते हैं, किंतु हम नहीं मानते। इसीलिये इन सबमे फिर भी कुछ मानने योग्य अनुमान को पहला नंबर देना पड़ा। इसी पर तीन नंबर बदल गए हैं। उद्योतकार

में लिखा है कि अनुमान अलंकार मान्य है, और उपमान उपमा में चला जाता है, तथा प्रत्यक्ष चमत्कृत होने पर भाविक में जाता है, अथच भाविक से इतर प्रत्यक्ष में कोई चमत्कार नहीं, और शेष पाँचों प्रमाणा-लंकारों में भी चमत्कार का अभाव है। यही मत उपर्युक्तानुसार अधिकांश आचार्यों ने माना है, और हमें भी ठीक समझ पड़ता है। बहुतेरे आचार्य अनुमान की पृथक् अलंकारता से भी इनकार करते हैं, जो हमें भी पसंद है, जैसा ऊपर कहा जा चुका है।

ऐतिह्य काव्यलिंग में है—ऐतिह्य किसी अज्ञात व्यक्ति की उक्ति है, और शब्द (प्रमाण) ज्ञात की, अतः हमारे मत से यह भी शब्द-प्रमाण ही के अंतर्गत है, और शब्द-प्रमाण काव्यलिंग में, अतः यह भी काव्यलिंग में आ जाता है।

निम्न-लिखित दो ही छंदों से ये आठों अलंकार सुगमता से स्मरण रह सकते हैं। यथा—

प्रत्यच्छ प्रतच्छ (१), अनुमित कीन्हे अनुमान (२),
उपमिति ही ते उपमेय पहिचानिए (३),
सब्द बेद बाक्य त्यों ही सुमृति, पुरानागम,
लौकिकौ अचार आत्मतुष्टि उर आनिए।
मीमांसो सबद्वत स्रुतिलिंग को प्रमान (४),
है यहै लखाय जोग अर्थापत्ति मानिए (५),
है, न है अनुपलब्धि (६), संभावित संभव सो (७),
यहै होय ऐतिह्य (८) सु ये प्रमान जानिए।

हरषित गात स्वेद-भरे दरसात, बात
कहत बनै न, रंग छायो अँखियान मैं (१);
कजै गई याते जानो किंसुक की माल साजी (२),
चंद्र-सी बिराजी सो सखी लखी तियान मैं (३)।

बेदऊ पुरानागम स्मृति बाक्य लौकिकौ के
त्यौं ही निज तोष कह्यौ आचारौ प्रमान मैं (४);
है यहै, गहै न कटि (५-६), का न ब्रज संभवै री (७),
कहा देखिबो, न कहा सुनिबो जहान मैं (८)।

(दूलह)

पहले छंद मे प्रमाणों के लक्षण तथा दूसरे मे उदाहरण हैं। लक्षण और उदाहरण मे अंक डाल दिए गए हैं। यहाँ टीका मे लक्षण पहले कवित्त तथा उदाहरण दूसरे का एक ही स्थान पर लिखा मिलेगा।

(१) प्रत्यक्ष जो वस्तु हो (पंचेंद्रियों द्वारा ज्ञात वस्तु), उसे प्रत्यक्ष कहेंगे। यथा—

तुम्हारे गात हर्षित और स्वेद-भरे हैं, बात नहीं करते बनती। यह देखकर समझ गया कि आपकी आँखों मे रंग छाया है।

(२) जिसका (छंद ही में) अनुमान कर लिया गया हो, वह अनुमान प्रमाण है। यथा—

मैंने आपको कुंज गए इससे जाना कि आपके गले में किंशुक की माला शोभित है।

(३) जहाँ उपमा दिए जाने के कारण किसी की पहचान हो, वहाँ उपमान प्रमाण है। यथा—

चंद्र के समान सखियों में विराजमान होने से उसको मैंने (लखी) पहचान लिया।

(४) वेद, श्रुति (संहिता, चार वेदादि), स्मृति, पुराण, आगम, लोकाचार और आत्मतुष्टि आदि शब्द प्रमाण में है (इसकी पूर्ण व्याख्या के लिये हमारे कवि-कुल-कंठाभरण की टीका देखिए)। उदाहरण कवि ने नहीं दिया। केवल 'बेदऊ पुरानागम···प्रमान मै।'

दूसरे कवित्त में लिख दिया है। तात्पर्य यह है कि इसमें से किसी के वाक्य को उदाहरण मान लीजिए।

(५) 'है यहै लखाय जोग अर्थापत्ति मानिए' में लक्षण है। लक्षण का अर्थ इस प्रकार सोचिए कि—है यही (अर्थात् यह अपनी बुद्धि के योग से दिखाई देता है (कारण से ऐसा ही भासता है) । प्रयोजन यह कि अकाट्य प्रमाण होने के कारण प्रत्यक्ष न होने पर भी मानना ही पड़ता है, वहाँ अर्थापत्ति प्रमाण होता है। यथा—

'है यहै कटि' यद्यपि है, तथापि 'गहै न कटि' अर्थ यह कि यद्यपि कटि पकडी नही जाती, तो भी (न होने से काम न चलने के कारण) है अवश्य।

(६) 'है, न है' अर्थात् तुम कहते हो है, (फिर अवलोकन, स्पर्शादि द्वारा अनुभव करके कहता है) 'न है'—नहीं है। अनुपलब्धि प्रमाण के अंतर्गत है। यथा—

'है यहै, गहै न कटि।' अर्थ हुआ, अगर यही कटि है, तो कटि को पकड़ते क्यों नही? अर्थात् यदि कटि होती, तो पकड़ मे अवश्य आती, अतः वह है ही नही। यहाँ अनुपलब्धि और अर्थापत्ति का एक ही उदाहरण दिया गया है। केवल अर्थ दूसरा करना पड़ता है।

(७) 'सभावित संभव सो'—संभावित (होने योग्य) कहा गया हो, सो संभव प्रमाण माना जाता है। यथा—

'का न ब्रज सभवै री।' अर्थात् ब्रज में सब वस्तु संभव है। तात्पर्य यह कि कटि होते हुए भी न दिखलाई पड़ना संभव है।

(८) 'यहै होय'—ऐसा होता आया है, अर्थात् परंपरा से चली आनेवाली उक्ति के अनुसार निश्चय किया जाना ऐतिह्य प्रमाण है। यथा—

(जब कठिन दिखलाई पड़ते हुए भी आप कहते हैं, तब कहना पड़ता है) कि 'कहा देखिबो......' में संसार में रहकर क्या देखना और क्या सुनना नहीं पड़ता ?

इन ११५ अर्थालंकारो का वर्णन इसी स्थान पर समाप्त होता है। अब शब्दालंकारो का कथन उठाया जायगा, और उनके पीछे संकर तथा संसृष्टि का विवरण दिया जायगा।

शब्दालंकार

अनुप्रास (११६)

अनुप्रास—(स्वरों की समानता-रहित या सहित) वर्णों की समानता अनुप्रास कहलाती है।

इसके दो मुख्य भेद हैं—अर्थात् वर्णानुप्रास, लाटानुप्रास या शब्दानुप्रास। वर्णानुप्रास के चार भेदांतर है—अर्थात् छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास, श्रुत्यनुप्रास तथा अंत्यानुप्रास।
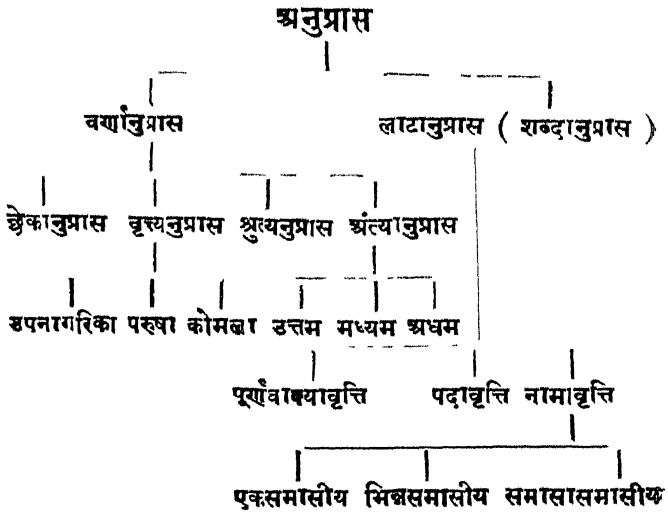
(१) वर्णानुप्रास

१—छेकानुप्रास

१—छेकानुप्रास—अनेक वर्णों की उसी क्रम (शब्दों के आदि या अंत में) से एक बार भी समता होने पर होता है।

(इसमें यदि स्वर न भी मिले, तो हानि नहीं।) यथा—

पीछे तिरीछे कटाच्छन सों इत वै चितवैं री लला ललचो हैं;
चौगुनो चैन चवाइन के चित चाव चढो है, चवाव मचो हैं।
जोबन आयो न पाप लग्यो कबि 'देव' रहैं गुरु लोग रिसोहैं,
जी मैं लजैए जु जैए जितै, तित पैए कलंक चितैए जो सोहै।

(देव)

यहाँ पीछे तिरीछे, चवाइन चाव, चौगुनो चैन चवाइन चित, चाव चढ़ो चवाव, लजैए जैए, पैए चितए, जी मैं जु जैए जितै, तथा जितै तित में छेकानुप्रास है।

बानर बरार बाघ बैहर बिलार बिग
　　बगरे बराह जानवरन के लोम हैं,
'भूषन' भनत भारे भालुक भयानक हैं,
　　भीतर भवन भरे लीलगऊ लोम हैं।
ऐंडायल गजगन गैंडा गररात गनि
　　गोहनि मैं गोहनि गरूर गहे गोम हैं,
सिवाजी की धाक मिले खल कुल खास बसे
　　खलन के खेरन खबीसन के खोम हैं।

(भूषण)

बरार=बरियार, जबरदस्त। बिग=भेड़िया। लोम=लोमड़ी। गोहनि=गोह-नामक जंतुओं ने। गोम (गाँव से)=स्थान। खोम=कोम, कौम। इसमें छेकानुप्रास के काफी उदाहरण हैं।

तुरमुती तहखाने, तीतर गुसलखाने,
सूकर सिलहखाने, कूकत करीस हैं;
हिरन हरमखाने, स्याही हैं सुतुरखाने,
पीलखाने पाढ़े औ' करजखाने कीस हैं।
'भूषन' सिवाजी गाजी खग्ग सौं खपाए खल,
खाने-खाने खलन के खेरे भए खीस है;
खड़गी खजाने, खरगोस खिलवतिखाने,
खीसैं खोले खसखाने खाँसत खबीस हैं।
(भूषण)

तुरमुती=तिरमत्ती, एक शिकारी पक्षी। पाढे=एक प्रकार का मृग। करंजखाने=फुहारो का घर। खड़गी=गैंडा।

साजि चतुरग, बीर रंग में तुरग चढ़ि
सरजा सिवाजी जंग जीतन चलत है;
'भूषण' भनत नाद बिहद नगारन के
नदी-नद मद गब्बरन के रलत है।
ऐल फैल खैलभैल खलक में गैल-गैल,
गजन की ठेल-पेल सैल उसलत है,
तारा-सो तरनि धूरि धारा में लगत जिमि,
थारा पर पारा पारावार यों हलत है।
(भूषण)

गब्बरन के रलत है=अहंकारियो के (मद का) रेला करता है। इतना मद झरता है कि उससे नदी-नदो का-सा रेला हो जाता है। ऐल=अहिलौ, बहुत आधिक्य। खैलभैल=खलभल। पारावार = समुद्र।

स्वारथ को साधन सकाम आठौजाम कीन्हो,
रावरे सुनाम सो तबौ न अरसायों मैं,

तो गुन बिचारिबे मैं, सुजस उजारिबे मैं,
भगति सुधारिबे मैं मन अटकायों मैं।
परम उदार तव - बिषयक सार - जुत
बढि सब ही सों सुबिचार दरसायों मैं,
आरत ह्वै भारत पुकारत है नाथ, अब
पाहि - पाहि रावरी सरन तकि आयों मैं।
(मिश्रबंधु)

अनुराग के रंगनि रूप तरंगनि अंगनि ओप मनौ उफनी;
कबि 'देव' हिये सियरानी सबै सिय रानी को देखि सोहाग-सनी।
बर धामनि बाम चढ़ो बरसैं मुसुकानि सुधा घनसार घनी;
सखियान के आनन इंदुन ते अँखियान की बंदनवार तनी।
(देव)

चूक ते सरस चोखे, लूक-सी लगावैं हिये,
हूक उपजावैं यै अपूरब अराम के,
रस को न लेस, रेसा चोपी है हमेस, तजि
दीन्हे सब देस, बिललाने परे घाम के।
बुरे, बदसूरति, बिलाने, बदबोहिदार,
'बेनी' कबि बकला बनाए मनौ चाम के;
एकहु न काम के, बिकाने बिन दाम के, यै
निपट हराम के हैं आम दयाराम के।
(बेनी)

शब्द के मध्यवाली वर्ण-मैत्री अलंकार नहीं—शब्दों के आदि-अंत पर तो लोगों का ध्यान रहता है, किंतु मध्य में नहीं। इसीलिये मध्यवाली वर्ण-मैत्री अलंकार में नहीं मानी गई है।

वृत्त्यनुप्रास

२—वृत्त्यनुप्रास—रसों के पोषक भिन्न वर्णों या एक ही वर्ण की समानता होने में होता है।

इसके तीन भेदांतर हैं, अर्थात् उपनागरिका, परुषा और कोमला।

२ अ—उपनागरिका—में चित्त-द्रावक वर्णों में रचना रहती है।

इसमें माधुर्य गुण के व्यंजक वर्ण आते हैं। ट ठ ड और ढ को छोड़कर शेष वर्ण माधुर्य गुण के व्यंजक माने गए हैं। कवर्ग, चवर्ग, तवर्ग, पवर्ग, ह्रस्व रकार और ण यदि सानुस्वार हो, तो और भी अच्छा। संस्कृत में ण माधुर्य-व्यंजक वर्ण है, किंतु व्रज-भाषा में नहीं। खड़ी बोली में इसका प्रयोग काफ़ी है। समास-रहित या छोटे समास-युक्त शब्द और य र ल व भी माधुर्य-व्यंजक हैं।

श्रुति-कटु शब्दों का प्रयोग इसमें बहुत बचाना चाहिए। यथा—

बिहँसे, दुति दामिनि-सी दरसै, तन-जोति जुन्हाई उई-सी परै ;
लखि पाँयन की अरुनाई अनूप ललाई जपा की जुई-सी परै।
सिकरै-सी निकाई निहारे नई रति-रूप लोभाई तुई-सी परै ;
सुकुमारता, मंजु मनोहरता, मुख-चारुता चारु चुई-सी परै।
(प्रतापसाहि)

जुई=जोई, देखी। तुई=तुम्हारे समान सामने उपस्थित।

इंगुर-सो रँग एँड़िन बीच, भरी अँगुरी अति कोमलतायनि ;
चंदन-बिंदु मनौ दमकैं, नख 'देव' चुनी चमकै ज्यों सुभायनि।
बंदत नंदकुमार तिहारेई राधे बधू ब्रज की सुखदायनि,
नूपुर-संजुत मंजु, मनोहर, जावक-रंजित कंज-से पायनि।
मंजुल मंजरी पंजरी-सी ह्वै मनोज के ओज सम्हारति चीर न,
भूख न प्यास, न नींद परै, परी प्रेम अजीरन के जुर जीरन।

'देव' घरी-पल जाति घुरी अँसुवान के नीर उसास समीरन ;
आहन जाति अहीर अहे, तुम्हे कान्ह कहा कहौ काहू कि पीर न।
(देव)

नंद-नंद सुख-कंद कौ मंद हँसत मुख-चंद—
नसत दंद-छरछंद तम, जगत जगत आनंद।
(दुलारेलाल)

रस सिंगार मंजन किए कंजन भंजन दैन,
अंजन-रंजन हू बिना खंजन गंजन नैन।
(बिहारी)

रंजन, भय-भंजन, गरब-गंजन अंजन नैन,
मानस-मंजन-करन जन होत निरंजन ऐन।
(दुलारेलाल)

२ आ—परुषा—में ओज के प्रकाशक वर्णों की अधिकता होती है।

ओज-प्रकाशक वर्ण निम्नानुसार समझे जाते हैं—ट ठ ड ढ श और ष। वर्गों के प्रथम से द्वितीय का तथा तृतीय के साथ चतुर्थ का मिलाव, अर्द्ध रकार का संयोग और दीर्घ समास एवं उसी अक्षर का उसी से मिश्रण। यथा—

बिज्जपूर बिदनूर सूर सर धनुष न संधहिं ;
मंगल बिनु मल्लारि नारि धम्मिल नहिं बंधहिं।
गिरत गब्भ कोटै गरब्भ चिंजी चिंजा डर ;
चालकुंड दलकुंड गोलकुंडा संका उर।
'भूषन' प्रताप सिवराज तव इमि दच्छिन दिसि संचरहिं,
मधुरा धरेस धकधकत सो द्रविड़ निविड़ डर दबि डरहिं।
(भूषण)

सब जात फटी दुख की दुपटी, कपटी न रहै जहँ एक घटी,
निघटी रुचि मीचु घटीहू घटा, सब जीव जतीन की छूटी तटी।
अघ-ओघ की बेरी कटी बिकटी निकटी, प्रकटी गुरुज्ञान-गटी,
चहुँ ओरनि नाचति मुक्ति-नटी, गुन धूरजटी जटी पंचवटी।
(केशवदास)

गटी = माला, गले मे पहनने की वस्तु।

परिहास कियो हरि 'देव' सुबाम सों, वा मुख बैन नच्यो नट ज्यों;
करि तीखी कटाच्छ कृपान भयो, मन पूरन रोष भरो भट ज्यो।
लपिटाय गही खटपाटी, करौट लै मान महोदधि को तट ज्यों;
कछु बोल सुने पटुता मुख की पट दै पलटी उलटो पट ज्यों।
(देव)

खट=खाट, पलँग।

२ इ—कोमला—में प्रसाद-व्यंजक रचना लानी चाहिए। यह गुण निम्न-लिखित दशाओं में माना जाता है—समास की कमी या अनस्तित्व तथा अर्थ का अति शीघ्रता से समझ पड़ना तथा माधुर्य और ओज=व्यंजक वर्णों के अतिरिक्त अन्य वर्णों का होना। यथा—

मूरति जो मनमोहन की मनमोहनी के थिर ह्वै थिरकी-सी;
'देव' गोपाल के बोल सुने सियराति सुधा छतिया छिरकी-सी।
नीके झरोखे ह्वै झाँकि सकै नहिं, नैननि लाज-घटा घिरकी-सी;
पूरन प्रीति हिये हिरकी, खिरकी-खिरकीन फिरै फिरकी-सी।
(देव)

दूरि ते भौंह कमान-सी तानिकै बान-सी बंक चितौनि है दीन्ही;
ऐनी न चाहिए तोहि बिलासिनि ! बीस बिसे न दया दिल चीन्ही।
कीन्हो रि ! कान्ह निहारि भले सुधि-हीन अधीन न तू सुधि लीन्ही,
सूनी गली चलि ओट अली के भली दुरि चोट कटाछ ने कीन्ही।
(कुमारमणि)

निसि बासर सात रसातल लौं सरसात घने घन बंधन नाख्यो ;
ब्रज-गोकुल ऊ ब्रज-गोकुल ऊपर ज्यों परज्यो परलौ मुख भाख्यो।
करुनाकर त्यौं बर सैल लियो करुना करिकै बरसै अभिलाख्यो ;
मुरको न कहूँ मुर को रिपु री, अँगु री न मुरयो, अँगुरी पर राख्यो।
(देव)

ज्यो परज्यो = ज्यों ही प्रजा ने।

वियोग-शृंगार में कठोर वर्णों की रचना अनुचित ठहरती है, क्योंकि वियोग-शृंगार के पद्यों को पाठक मधुर ध्वनि से पढ़ेगा। अतः कठोर वर्ण वहाँ पर मेल न खायेंगे। इसी कारण यहाँ पर पद-मैत्री दर्शाने के लिये उपनागरिका आदि का वर्णन किया गया है। रीतियों का संबंध मुख्य रूप से वर्णनीय रसों के साथ होता है। रस और भावों का वर्णन इस भाग में नहीं किया गया है, अतः अगले भाग में किस रस में कौन-सी वृत्ति लानी चाहिए तथा इसका संपूर्ण वर्णन भी आएगा।

३—श्रुत्यनुप्रास—

उच्चार्यत्वाद्यदेकत्र स्थाने तालुरदादिके ;
सादृश्यं व्यञ्जनस्यैव श्रुत्यनुप्रास उच्यते।

तालु, दंतादि के किसी एक ही स्थान से उच्चारित होनेवाले व्यंजन के सादृश्य में श्रुत्यनुप्रास होता है। यथा—

क ख ग घ ङ ह अ और आ इनका कंठ स्थान है।

च छ ज झ ञ य श इ और ई का तालु स्थान है।

ट ठ ड ढ ण र ष और ऋ का मूर्धा स्थान है।

त थ द ध न ल और स का दंत स्थान है।

प फ ब भ म उ और ऊ इनका ओष्ठ स्थान है।

ञ म ङ ण न इनका नासिका तथा अपने वर्ग का स्थान भी मिलता है।

इसी प्रकार ए ऐ का कठ और तालु तथा ओ औ का कंठ और ओष्ठ स्थान है।

व का दतोष्ठ स्थान है।

अनुस्वार का नासिका है।

> दान देन माहिं यो दुचित दिल दाबे रहैं,
>
> जासों भूलिहू कै वै ददा न कहैं भाई को।
>
> (लेखकों के पूर्व-पुरुष 'पूर्णकवि')

विशेष—यह भेद वृत्त्यनुप्रास के अंतर्गत आ जाता है। ऐसी दशा मे इसे यदि अलग न माने, तो दोष नहो, और यदि विशेष चमत्कार के कारण उसी का स्वतत्र भेद मान लें, तो भी कोई दोष नहीं आता।

४—छन्दःस्थ पादान्त्यानुप्रास

> व्यञ्जन चद्यथावस्थ सहाद्येन स्वरेण तु;
>
> आवर्त्यतेऽन्त्ययाज्यस्वादन्त्यानुप्रास एव तत्।

पहले स्वर के साथ यदि उसी प्रकार दो या एक व्यजन भी स्थित हो और उसकी आवृत्ति छद के पदांतो मे हो, तो उसे अंत्यानुप्रास कहेंगे।

इसके उदाहरण उपर्युक्त प्राय. सभी हिंदी-छंदों में हैं। इस अनुप्रास के अत के दो वर्णों-सहित पॉच मात्राओं का मिलना उत्तम है, चार का मध्यम तथा चार से कम का अधम। चार से कमवाले स्वरों में अंत के केवल एक व्यजन का साम्य होता है, और पहले में दो का। यथा—

> जागी न जोन्हाई, लागी आगि है मनोभव की,
>
> लोक तीनो हियो हेरि-हेरि हहरत है;
>
> बारि पर परे जलजात जरि बरि-बरि,
>
> बारिधि ते बाड़व-अनल पसरत है।
>
> धरनि ते लाइ झरि छूटी नभ जाइ वहै,
>
> 'देव' जाहि जोवत जगत हू जरत है;

तारे चिनगारे - ऐसे चमकत चहूँ ओर ,
बैरी बिधु - मंडल भभूको - सो बरत है ।
(देव)

चाँदनी नही छिटकी है, वरन् कामदेव की आग लगी है, (जिससे) तीनो लोको को देख-देख हृदय घबराता है। पानी पर पड़े हुए कमल जल गए (अग्नि इतनी तीव्र है कि पानी में रहने पर भी कमल सूख गए), समुद्र से जल-जलकर अब दावानल आगे फैलता है । धरणी से भी आगे बढकर अग्नि की झार आकाश मे पहुँची ! 'देव' कवि कहते हैं, इसे देखकर सारा जगत् भी जलने लगा, नक्षत्र चिनगारे-से चारो ओर चमक रहे हैं, यह बैरी चंद्रमंडल अंगार के समान जल रहा है । यहाँ चारो पदांत मे तीन व्यंजन तथा उसके पहले के दो व्यंजनो के स्वर मिलते हैं । अतः यह उत्तम पदांत्यानुप्रास है ।

बदौं खल जस सेस सरोषा ;
सहस बदन बरनै परदोषा ।
पुनि प्रनवहुँ पृथुराज-समाना ;
परअघ सुनइ सहस दस काना ।
जथा सुअंजन आँजि दृग साधक, सिद्ध, सुजान ,
कौतुक देखहिं सैल बन, भूतल भूरि निधान ।
(गो० तुलसीदास)

पहले मे एक व्यंजन और उसके पहले के तीन स्वर, तथा दूसरे मे एक व्यंजन, दो उसके पहले के स्वर मिलते हैं ।

लघु गुरु या गुरु लघु अक्षर अंत मे होनेवाले छंदो में पाँच मात्राओ का मिलना उत्तम है, तीन का मध्यम और उससे कम का अधम या निकृष्ट । दो लघ्वंतवाले तुको मे चार मात्राओ का मिलना उत्तम है,

दो का मध्यम तथा एक का निकृष्ट। इन सबमें दो व्यंजनों का मिलना अनावश्यक है।

(२) लाटानुप्रास

लाटानुप्रास—मे केवल तात्पर्य भिन्न (अर्थ वही) होते हुए शब्द और अर्थ की आवृत्ति होती है।

यह अनुप्रास लाट देश(दक्षिणी गुजरात)वालों को विशेष प्रिय होने से इसका नाम ही लाटानुप्रास पड़ गया। इसमे शब्द उसी अर्थ में आता है, केवल अन्वय रूप-संबंध का भेद होता है। इससे प्रयोजन भाव दूसरा हो जाने से है।

> शब्दस्तु लाटानुप्रासो भेदे तात्पर्यमात्रतः।
> पदानां स पदस्यापि वृत्तावन्यत्र तत्र वा;
> नाम्नः स वृत्त्यवृत्त्योश्च तदेवं पञ्चधा मतः।
> (काव्यप्रकाश)

अर्थात् लाटानुप्रास मे तात्पर्य भिन्न शब्द की आवृत्ति है। अनेक पदों की या एक पद (शब्द) की, या नाम (विभक्ति-हीन शब्द) की (आवृत्ति) होती है। अंतिम (नाम की) आवृत्ति मे तीन भेद होते हे, अर्थात् एक ही समास मे, भिन्न समासों मे तथा समासासमास मे। इस भॉति यह पॉच प्रकार की, संस्कृत में, मानी गई है।

विशेष—हिंदी में विभक्ति और समास सर्वमान्य नही है। ब्रज-भाषा में समास प्रायः नहीं होते, तथा खड़ी बोली मे विभक्ति पृथक् शब्द द्वारा लिखी जाती है। अतएव आचार्यों ने हिंदी में पदों की और शब्द की आवृत्ति मानी है, नाम के तीनो भेदो की नहीं। 'वीर पुरुषवाला ग्राम है' इस वाक्य,में 'वीर' शब्द नाम है, क्योंकि उसके साथ की विभक्ति समास के कारण लुप्त हो गई है।

'पुरुषवाला" पद है, क्योंकि सविभक्तिक है। सस्कृत में भी 'वीर-पुरुषकोग्रामोस्ति वाक्य में वही स्थिति है। जो व्यक्ति हिंदी मे समास एकदम नहीं मानते, उनके विचार से नामावृत्ति का अंतर्भाव पदावृत्ति में मानना चाहिए। आगे इसी विचार का साफ़ कथन उदाहरणों के साथ फिर किया जायगा।

१—पदों की आवृत्ति—में अनेक शब्दों की पुनः उसी प्रकार आवृत्ति होती है। यथा—

औरन के जाचे कहा, नहि जाच्यो सिवराज ,
औरन के जाचे कहा, जो जाच्यो सिवराज।

(भूषण)

जाके ढिग रुचि, तासु है अनल-ताप हिम-धाम ;
जा ढिग रुचि नहि, तासु है अनल-ताप हिम-धाम।

(कुमार)

अनल-ताप हिम-धाम=आग की गरमी बरफ का-सा घर है , बरफ का घर भी आग-सा गरम है।

२—पद की आवृत्ति—मे एक ही शब्द अनेक बार आता है।

संस्कृत में विभक्ति-हीन शब्दों को नाम कहते हैं, तथा विभक्तिमान् को पद। से, को, का, ने ,में, पर आदि विभक्तियाँ है। हिंदी में एक ही शब्द का अंश न होकर विभक्ति अन्य शब्द द्वारा लाई जाती है। यथा—

लाटानुप्रास में केवल दो भेद—संस्कृत—रामेण लङ्का जिता। हिंदी—राम से (या के द्वारा) लंका जीती गई। संस्कृत में तो रामेण में विभक्ति है, किन्तु हिंदी मे यही भाव 'से' या 'के द्वारा' से प्रकट किया जाता है। अतएव हिंदी मे अनुप्रास की

नामावृत्ति नही होती है। खडी बोली मे तो विभक्तियाँ पृथक् शब्द हो द्वारा आती है, किंतु व्रज-भाषा में कहीं-कही शब्द में जुड़ जाती हैं, उपर्युक्तानुसार नाम के तीन भेद है, अर्थात् दोनो जगह समस्त (समास युक्त), दोनो जगह असमस्त तथा एक जगह समस्त और दूसरी जगह असमस्त। नाम की आवृत्ति उपर्युक्तानुसार हिंदी मे न होने से हमारे यहाँ से उनके तीनो भेद निकल जाते हैं, हिंदीवालों ने पदों की आवृत्ति तथा पदावृत्ति नामवाले दो ही भेद माने हैं। पदावृत्ति का उदाहरण नीचे लिखा जाता है—

बोलत मधुर होत सुजस मधुर यहै,
नीको जानि नीको मन मोदहि ते भरिए;
करिए तौ डरिए, न करिए तौ डरिए जू,
सबकी भलाइऐ भलाई उर धरिए।
जैसी सितभानु भानु-प्रभा, प्रभाकर तैसी
जानि, जानि परयो फल यहै जिय करिए;
कीजै नित नेह नंदनंदन के पाँयन सों,
तीरथ के पथ सत सीघ्र अनुसरिए।
(कुलपति मिश्र)

सितभानु=चद्रमा। चंद्रमा में जैसी सूर्य की ज्योति है, वैसी ही सूर्यवाली को जानकर मानना पड़ता है, एवं चित्त मे यही निष्कर्ष आता है कि दोनो ज्योतियाँ हैं वास्तव में एक। इस छंद में एक-एक पद (शब्द) की कई बार आवृत्तियाँ हैं, तथा दूसरे चरण मे पदो की भी एक आवृत्ति है।

यमक (११७)

यमक—यदि अर्थवाले हों, तो भिन्न अर्थवाले सार्थक वर्णों की क्रमशः आवृत्ति या अर्थ न होने पर भी ऐसी आवृत्ति को यमक कहा जाता है।

इसके तीन भेद हैं, अर्थात् भिन्न अर्थ के शब्द का पुनः आना विना अर्थवाले शब्दों का पुन आना, तथा एक अर्थवान् और दूसरे निरर्थक शब्द का पुन. आना। यथा—

पूनावारी सुनिकै अमीरन की गति लई,
भागिबे को मीरन समीरन की गति है,
मारयो जुरि जंग जसवत जसवत जाके
संग केते रजपूत रजपूतपति है।
'भूषण' भनै यों कुलभूषन भुसिल सिव-
राज तोहि दीन्ही सिवराज बरकति है,
नौहू खड दीप भूप भूतल के दीप आजु
समै के दिलीप दिलीपति को सिदति है।
(भूषण)

अमीरन मीरन मे मीरन शब्द दो बार आया है, जो दूसरे बार सार्थक है तथा पहले बार निरर्थक, क्योकि विना अमीरन कहे उसका अर्थ नही लगता, यदि अमीरन का मीरन और समीरन का मीरन, दोनो को भी ले लीजिए (यद्यपि ज़रा दूर-दूर हैं), तो दोनो मिलकर निरर्थक का उदाहरण हो जाते हैं। यही दशा मीरन और समीरन की है। जसवंत जसवंत, भूषन भूषन, सिवराज सिवराज, दीप दीप और दिलीप दिलीप मे भी यमक हैं, जिसमे भिन्नार्थ या निरर्थक शब्द पुन आते हैं। इस प्रकार यहाँ और नीचे के छंद मे भी तीनो भाँति के उदाहरण मिल जाते हैं।

प्यास न भूख, न भूखन की सुधि, भाव सुभूखन सों उपजावै;
'देव' इकतहि कतहि के गुन गावति-नाचति नेह सजावै।
प्रेम-भरी पुलकै, मुलकै, उर व्याकुल कै कुल-लोक लजावै,
लै परबी परबी न गनै, कर बीनु लिए परबीन बजावै।
(देव)

सुभूखन=अच्छे अलंकारों (सजावटों) । लै परबी इति = वह प्रवीणा पर्व को पकड़कर और पर्व की परवा न भी करके हाथ में वीणा लिए हुए बजाती है । यहाँ पुलकै-मुलकै में लकै-लकै निरर्थक आवृत्तियाँ हैं ।

साहित्य-दर्पण के पदावृत्ति आदि भेद केवल उदाहरणांतर-मात्र हैं—साहित्य-दर्पण में आया है कि इस अलंकार में पादावृत्ति, पदावृत्ति, अर्धावृत्ति, श्लोकावृत्ति आदि के होने से बहुत-से भेद होते हैं । पदावृत्ति आदि के भी कई भेदांतर होने से उनकी संख्या और भी बढ़ जाती है । यह अन्य प्रकार के उदाहरण-मात्र हैं । इनके कोई पृथक् भेद मानने की आवश्यकता नहीं है ।

लाटानुप्रास और यमक में भेद—लाटानुप्रास में फिर से आए हुए शब्दों के अर्थ अभिन्न होते हैं, किंतु यमक में भिन्न । यही भेद है । वहाँ केवल तात्पर्य का भेद रहता है । यमकादिकों (यमक, श्लेष और चित्र) में ड और ल, र और ल तथा ब और व एक माने जाते हैं । यह मत साहित्य दर्पण का है ।

वीप्सा (११८)

वीप्सा—में आदर आदि के लिये एक शब्द अनेक बार आता है । यथा—

फैलि-फैलि, फूलि-फूलि, फलि-फलि, झूलि-झूलि ,
झपकि-झपकि आईं, कुंजै चहुँ कोद ते ;
झिलि-मिलि हेलिनु-सों केलिनु करन गईं ,
बेलिनु बिलोकि बधू ब्रज की बिनोद ते ।

नदजू की पौरि पर ठाढ़े हे रसिक 'देव',
मोहनजू मोहि लीनी मोहनी बिमोद ते;
गाथनि सुनत भूली, साथनि की फूल गिरे,
हाथनि के हाथनि ते, गोदनि के गोद ते।

(देव)

हूलि-हूलि=ठेल-ठेलकर। हेलिनु-सो=हाव-सहित। हेला एक हाव का नाम है।

रीझि-रीझि, रहसि-रहसि, हँसि-हँसि उठै,
साँसै भरि, आँसू भरि कहत दई-दई;
चौकि-चौकि, चकि-चकि, उचकि-उचकि 'देव',
जकि-जकि, बकि-बकि परत बई-बई।
दुहुन को रूप-गुन दोऊ बरनत फिरैं,
घर न थिरात रीति नेह की नई-नई;
मोहि-मोहि मोहन को मन भयो राधामय
राधा-मन मोहि-मोहि मोहनमई मई।

(देव)

चकि-चकि=चकित हो-होकर। बई-बई=अलग-अलग। वीप्सा में जोर देने तथा आदर के लिये वही शब्द कई बार आता है, और अर्थ नही बदलता।

लाटानुप्रास, यमक और वीप्सा पृथक् अलंकार नहीं— हमारे मत से अभिन्न अर्थ, भिन्न अर्थ के या आदर आदि के लिये पुनः शब्द लाने से पृथक् अलकार नही माना जा सकता।

पुनरुक्तवदाभास (११९)

पुनरुक्तवदाभास—में भिन्न आकारवाले शब्दों के कारण पुनरुक्ति-सी भासित होती है (जो वास्तव में होती नहीं)। साहित्य-दर्पण में इसका लक्षण निम्नानुसार है—

आपाततो यदर्थस्य पौनरुक्तेन भासनम्,
पुनरुक्तवदाभास स भिन्नाकारशब्दगः।

ऊपरी दृष्टि से अर्थ मे पुनरुक्त ज्ञात होना (जहाँ हो), (वहाँ) भिन्न रूप समान अर्थवाले शब्दों मे स्थित पुनरुक्तवदाभास है।

इसके दो भेद हैं—अर्थात् शब्दालंकार और उभयालंकार। शब्दालंकार मे शब्द बदल देने से अलंकार नहीं रहता। उभयालंकार (शब्द और अर्थ दोनो से सबद्ध) मे कोई शब्द बदला जा सकता है, और कोई नहीं। यथा—

१ १ २
अरिन के दल सैन संगर मैं समुहाने,
२
टूक-टूक सकल के डारे घमसान मैं;
बार-बार रूरो, महानद-परवाह पूरो,
३ ३
बहत है हाथिन के मद-जलदान मैं।
'भूषन' भनत महाबाहु भौंसिला भुवाल,
४ ४
सूर रवि को-सो तेज तीखन कृपान मैं,
माल मकरंदजू के नंद कला निधि तेरो

५ ५
सरजा सिवाजी जस जगत जहान मैं ।
(भूषण)

यहाँ नंबर १ और १, २—२, ३—३, ४—४, ५—५ मे पुनरुक्त प्रथम दृष्टि से भासित होती है, पर अर्थ सैन संगरमै=शयन (में) 'संग रमै' लगाने पर दोष नही रहता । साथ-ही-साथ मरे पड़े हैं । सूर=वीर । जगत=जागता है । शब्द गत मे कही अर्थ अभंग रीति से निकलता है, और कही सभंग से । इस प्रकार अभंग और सभंग दो इसके भेद हुए । 'सैन संग रमै' मे सभंग प्रयोग है, तथा 'सूर रवि' मे अभंग । यदि सूर शब्द को वीर कर दे, तो अलंकार नही रह जाता । यह उभयालंकार का उदाहरण है । इसमे कोई भेद नही होता । जगत जहान मे भी उभय पुनरुक्तवदाभास है ।

पुनरुक्तवदाभास में अलंकारता नही—इसमें किसी विशेष चमत्कार के न होने से अलंकारता का अभाव समझ पड़ता है । इसी कारण कुछ आचार्यों ने अलकारों मे इसका कथन नहीं किया है ।

शब्दश्लेष (१२०)

शब्दश्लेष—को भी कई आचार्यों ने शब्दालंकार तथा अर्थालंकार, दोनो में माना है । हम इसे केवल अर्थालकार मे मानते है । हमारी व्याख्या वही श्लेष (२६) में देखिए ।

वक्रोक्ति (१२१)

वक्रोक्ति—का भी कुछ संबंध शब्दालंकारों से है । हमारी व्याख्या वक्रोक्ति (६२) मे देखिए । हम इसे केवल अर्थालकार मानते हैं ।

चित्र (१२२)

चित्र—जहाँ छंद में वर्णों के विशेष प्रकार के क्रम होने के कारण उस (छंद) को खड्गादि आकृति मे लिखा जा सके, वहाँ चित्र अलकार माना गया है।

ध्रुव जो	गुरता	तिनको	गुरु भूषन	दानि बड़ो	गिरजा	पिव है
हुव जो	हरता	रिन को	तरु भूषन	दानि बडो	सिरजा	छिव है
भुव जो	भरता	दिन को	नरु भूषन	दानि बडो	सरजा	सिव है
तुव जो	करता	इनको	अरु भूषन	दानि बडो	बरजा	निव है

(भूषण)

यह कामधेनुबंध कहलाता है। इसको हर कोष्ठक से प्रारंभ करके पढ सकते हैं, और छंद नया बनता जायगा। इस प्रकार पढ़ने से इसमें ७×४=२८ छंद बन सकते हैं।

चित्र में कोई अलकारता नहीं—इसमें कोई अलकारता नहीं, केवल छंद में वर्णों की विशेष प्रकार की स्थिति के कारण यहाँ देखने-भर को विचित्रता आ जाती है, किंतु कोई वास्तविक चमत्कार नहीं होता।

शब्दालंकारों का विवरण यहीं समाप्त होकर मिश्रालकार चलते हैं।

मिश्रालंकार

संसृष्टि (१२३)

संसृष्टि—में एक ही स्थान पर तिल-तंदुल-न्याय से कई अलंकारों का मिलाप रहता है।

जैसे तिल-तदुल मिले होकर भी है जुदा-जुदा, और पृथक् किए भी जा सकते है, वैसे ही अलकार एक ही छद या गद्य के समीपस्थ वाक्य या वाक्यों मे होने पर भी रहते अलग-अलग हैं।

इसके तीन भेद है, अर्थात् शब्दालकारों-मात्र की ससृष्टि या अर्थालकारों-मात्र की, या दोनो की। अधिकतर दशाओं मे मिश्र संसृष्टि होती है, क्योंकि एकाध शब्दालंकार अच्छे वाक्यों में निकल ही आता है। यथा—

(१) शब्दालकार-ससृष्टि—

मार सुमार करी खरी डरी-डरी अकुलाय,
हरि, हरिए बलि बिरह चलि मुख-सुखमा दरसाय।
(वैरीशाल)

यहाँ मार, (सु) मार, डरी-डरी, हरि हरि मे यमकानुप्रास है। करी खरी डरी मे छेकानुप्रास है। निकल एकाध अर्थालंकार भी आएगा, किंतु कवि ने शब्दालंकार-ससृष्टि के उदाहरण मे इसे लिखा है, और उसी की मुख्यता है भी।

(२) अर्थालंकार-संसृष्टि—

वाके नामहि के सुने होति सौति-दुति मंद,
चख-चकोर कीजै सखी, लखि राधा-मुख-चंद।
(वैरीशाल)

यहाँ पहले चरण मे चपलातिशयोक्ति (नं० १३) तथा दूसरे मे रूपक (नं० ४) है। दोनो एक ही छंद मे होकर भी पृथक् है।

संसृष्टि में एक ही भाव को पुष्ट करने का संबंध—संस्कृत के ग्रंथ अलंकार-रत्नाकर में लिखा है कि उनमे परस्पर का कोई संबंध न होने के कारण संसृष्टि के रूप से अलंकारों का लाना दूषित है। उपर्युक्त दोहे मे चपलातिशयोक्ति और रूपक में कोई आलंकारिक संबंध न होने पर भी दोनो शोभा को पुष्ट करते है। अतएव एक ही भाव के पोषण का संबंध वर्तमान ही है।

(३) शब्दार्थालंकार-संसृष्टि—

लग्यो सुमन, ह्वै है सुफल, आतप रोस निवारि;
बारी, बारी आपनो सींचि सुहृदता-बारि।
(बिहारी)

यहाँ बारी (नवयौवना तथा खेत) बारी मे भिन्न-भिन्न अर्थ होने से यमकानुप्रास है। सुमन (अच्छा मन, फूल) शब्द श्लिष्ट होने से छंद मे श्लेषालंकार है। यही दशा सुफल (सुंदर फल, सफलता) की है। आतप रोस तथा सुहृदता बारि मे समाभेदरूपक (नं० ५) होने से छंद मे शब्दार्थालंकार-संसृष्टि है, क्योंकि ये हैं पृथक्-पृथक्।

लागत समीर लंक लहकै समूल अंग,
फूल-से दुकूलन सुगंध बिथुरो परै;
इंदु-सो बदन, मंद हाँसी सुधा-बिंदु, अर-
बिंदु ज्यों मुदित मकरंदन मुरो परै।

ललित ' लिलार स्रम-झलक अलक-भार,
मग मैं धरत पग जावक घुरो परै,
'देव' मनि-नूपुर पदुम-पद दू पर ह्वै
भू पर अनूप रूप-रंग निचुरो परै।
(देव)

लंक = कटि। स्रम-झलक = परिश्रम की झलक, स्वेद-बिंदु। पदुम-पद दू पर = दोनो चरणारविंदो पर। छंद मे छेकानुप्रास की भरमार होने से शब्दालंकार है ही। "फूल-से दुकूल" और "इंदु-सो बदन" में उपमाएँ हैं। ज़मीन मे महाउर के घुलने तथा रंग के निचुड़ने से तद्गुण (नं० ७४) अलंकार है।

अरजत दीन, लरजत कुंडलीस गर-
जत दिग-सिंधुर चलत लखि दीह दल,
कहलत कूरम, दिगीस दहलत, दिग-
दंत टहलत, पारि जगत मैं खलभल।
दान दुज पावत, सुनावत असीस, जस
गावत करत नहिं चारन चतुर कल;
पूरत प्रताप भूप, अरि बल तूरत, औ'
दोहिन के चूरत करेजन धरनितल।
(मिश्रबंधु)

उपर्युक्त छंद के चारो चरणो मे छेकानुप्रास है, तथा दूसरे चरण मे संबंधातिशयोक्ति (नं० १३) अलंकार है, जिससे शब्दार्थालंकार-संसृष्टि प्राप्त है।

धावते अडाल दल बल सो महीतल पै,
हीतल अरिदन के हालत हहरि है;
उछलत चलत तुरंगन के, मानो अरि-
जूथन के आवैं नाग दसित लहरि हैं।

डगमग धरत धरा को धसकत, दिग-
सिंधुर-समान गुरु कुंजर चलत हैं,
धारि कर साँकरि सजोम उलझारि, मद
गारि जे पछारि मृगराजन मलत हैं।
(मिश्रबंधु)

यहाँ तीन चरणों में छेकानुप्रास है। प्रथम चरण में पहली असंगति (नं० ३६) है, तथा दूसरे में उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा (नं० १२)। तीसरे चरण में उपमा (नं० १) है, तथा चौथे में संबंधातिशयोक्ति (नं० १३)। इस प्रकार इस छंद में भी शब्दार्थालंकार-संसृष्टि है।

बहु ध्वज बर ऊँचे ब्योम पहुँचे सेन सुजस मनु मिलि गावैं;
तिनकी परछाहीं छिन थिर नाहीं, दल संचालन सँग धावैं।
हिलि-हिलि महि पाहीं ते परछाही लिखैं मनो नृप-जस भारी;
नभ देव मनाई, खबरिन लाई किधौं कहै छिति पन धारी।
(मिश्रबंधु)

इसमें छेकानुप्रास, उत्प्रेक्षा (नं० १२) तथा संदेहवान् (नं० १०) हैं।

छोरिकै जगत-हित जगत-पिता सों नित
जोरिकै सुचित बित प्रेमहि बिचारो तुम;
बासनानि पूरन करन के बिचार तजि
बासना-हनन की सुरीतिन प्रचारो तुम।
लालच सों धावत जकद्त फिरत जग,
जो कछु लहन ताहि नीच निरधारो तुम,
जौन सोचि हाल जग बिकल बिलाप करै,
सोई सति आनँद को हेतु गुनि धारो तुम।
(मिश्रबंधु)

यहाँ छेकानुप्रास तथा विचित्र (नं० ३९) अलंकार है ।

प्राक्कथन

संकर अलंकार—में अलंकार तिल-तंडुलवत् न मिलकर नीर-क्षीरवत् मिले रहते हैं, जिससे उनमें प्रधान तथा अप्रधान का भेद प्रायः निकालना पड़ता है । अतएव संकर का लक्षण तथा उसके भेदोंवाले उदाहरण लिखने के पूर्व इस विषय का भी निर्णय आवश्यक है । कहीं-कहीं देखने में तो दो अलंकार समझ पड़ते हैं, किंतु वास्तव में एक ही होता है । बाधक और साधक हेतुओं से अलंकार निर्णीत होता है ।

अलंकारों की बाधकता—

मुख जलजात सोहै, कैसो जलजात सोहै ;
पूरन मैं पूरै छबि कहै गुन-गथ को ?

यहाँ श्लेष या तुल्ययोगिता की पहचान बाधक हेतु द्वारा होगी । जलजात कमल को कहते हैं, तथा चंद्र को भी । चंद्रमा सोलहो कला-युक्त पूर्ण होने से पूरी छविवाला होता है, तथा पूर्णरूपेण खिला होने से कमल शोभा पाता है । यहाँ एक ही शब्द जलजात से दोनो भाव निकलते हैं, किंतु धर्म दोनो के पृथक् हैं, क्योंकि चंद्र के लिये पूर्ण शब्द सोलहो कलाओं का भाव रखता है, तथा कमल के लिये खूब खिले होने का । तुल्ययोगिता में धर्म के शब्द और अर्थ, दोनो एक ही होते हैं, अर्थात् शब्द एक ही होता है, और दोनो के लिये अर्थ भी उसका एक ही होता है । यहाँ शब्द तो एक है, किंतु अर्थ भिन्न । यह भिन्नता तुल्ययोगिता की बाधक है । फिर तुल्ययोगिता में वर्णित विषयों के लिये शब्द दो चाहिए, जो बात भी यहाँ नहीं है । इस प्रकार बाधकों द्वारा तुल्ययोगिता का निराकरण हो जाने से यहाँ केवल श्लेष रह जाता है ।

अलंकारों की साधकता—अब साधक कारण का भी उदाहरण दिया जाता है—

"चंद्र-सा मुख है ।" यहाँ 'सा' उपमा का साधक है ।

वही साधक, वही बाधक—कहीं एक ही कारण साधक और बाधक, दोनो होता है। यथा—

स्याम कृपानी तव जनी निरमल कीरति चारु।

यहाँ हेतु और कार्य के रंग विपरीत होने से दूसरा विषम (नं० ३७) है, तथा हेतु से विरुद्ध कार्य से पंचम विभावना (नं० ३३) भी हो सकती है। कृपाण तथा शत्रु-नाशवाले दो हेतुओं से श्वेत कीर्ति प्राप्त हो सकती है। अतएव काली तलवार पूर्ण कारण न होकर भी उसका एक भाग है ही। अतः यह हेतु की विरूपता विषम का साधक तथा निम्नांकित कारण से विभावना का बाधक है। उसमें असली कारण छिपाकर कोई दूसरा ही कहा जाता है, जो बात नहीं है। यथा—

वा मुख की मधुराई कहा कहौ, मीठी लगै अँखियान लोनाई।

यहाँ लोनाई का मीठी लगना कहा गया है, परंतु मुख्य कारण सौंदर्य है। अत. एक ही शब्द लोनाई विभावना का साधक तथा विषम का बाधक कारण है।

अलंकारों की मुख्यता और अमुख्यता का निर्णय—जहाँ एकाधिक अलंकार नीर-क्षीरवत् मिले हुए रहते हैं, वहीं संकर होता है। यथा—

खल-बढ़ई बल करि थको, कटै न कुबत कुठार;
आलबाल-उर झालरी खरी प्रेम-तरु-डार।

(बिहारी)

आलबाल=थाल्हा। कुबत=कुत्सित बातें, चवाव। यहाँ खल-रूपी बढ़ई, कुबत-रूपी कुठार, आलबाल-रूपी उर तथा प्रेम-रूपी तरु कहे जाने से रूपकालंकार (नं० ४) है। कारण होते हुए भी प्रेम के कम न पड़ने से विशेषोक्ति (नं० ३४) भी है। इन दोनो के साधक कारण तो प्रस्तुत हैं, किंतु बाधक कोई नहीं। रूपक से विशेषोक्ति का पोषण भी होता है। पोषणकारी अलंकार अमुख्य माना जाता है, तथा पोषित मुख्य। ऐसे

स्थान पर अंगी-अंग संकर माना जायगा। भाव मे मुख्यता प्रेम न घटने की है, और अमुख्यता उसके प्रतिकूल कारणो की। रूपक का कथन केवल भाषा-सौदर्य के लिये आया है, किंतु मुख्य भाव के लिये आवश्यक नही। इसीलिये रूपक पोषक माना गया है, न कि पोषित। ऐसे-ही-ऐसे विचारो से मुख्यता और अमुख्यता का निर्णय होता है।

स्वतंत्र रूप से न आ सकनेवाले अलकारो के लिये नियम—

अरुन अधर मैं पीक की लीक न परति लखाय।

यहॉ दिखलाई पडने योग्य पीक की लीक को न दिखलाई पडने योग्य कहे जाने से संबंधातिशयोक्ति (नं० १३) है, तथा दोनो रंगो के मिल जाने और भेद न दिखलाई पड़ने से मीलित (नं० ७८)। मीलित अलंकार विना अतिशयोक्ति के नही आता। अतः जहॉ कोई अलंकार पृथक् आ ही न सकता हो, वहॉ दूसरे के होने पर भी वही माना जायगा, न कि संकर। ऐसा न मानने से उस (मीलित) का पृथक् अस्तित्व ही मिट जाता है। ऐसी ही दशा कुछ और अलंकारो की भी है।

लग्यो सुमन, ह्वैहै सुफल, आतप रोस निवारि;
बारी बारी आपनी सींचि सुहृदता-बारि।

(बिहारी)

यहॉ यद्यपि है श्लेष (नं० २६) भी, तथापि वक्ता का मुख्य अभिप्राय किसी दूसरे के चेताने का है, अतः गूढोक्ति (नं० ८७) की प्रधानता है। कवि ने श्लेष कह अवश्य दिया है, तथापि उस पर ध्यान प्राय बिलकुल न होने से संकर न कहलाकर केवल गूढोक्ति मानी जायगी। गूढोक्ति प्राय. या सदैव इतर अलंकार या अलंकारो के साथ आती है। अतएव उन्हे पृथक् अलंकारता देने से इस (गूढोक्ति) की भी स्वतंत्र सत्ता मिटती है। इसीलिये जहॉ इतर अलंकार का आभास-मात्र हो, वहॉ उसका आरोप न करके केवल इस (गूढोक्ति) का कथन

हमे युक्ति-संगत दिखाई देता है। इसीलिये हमने गूढोक्ति के साथ इतर अलंकारो का अस्तित्व प्रायः माना है, न कि सदैव। उपर्युक्त उदाहरण मे श्लेष इसलिये भी नहीं ठहरता कि यहाँ बारी पर कवि की इच्छा न होकर नायिका पर है। कहाँ पर किस अलंकार को मुख्य मानना चाहिए, यह विषय श्लेष मे भी समझाया गया है। कृपया वहाँ से भी पढ़ लीजिए। यदि निकले हुए अलंकार मे आभासादि न हो, तो वहाँ संकर अलंकार कहना चाहिए।

संकर (१२४)

संकर—में अनेक अलकार एक ही स्थान पर संबंध-सहित रहते हैं, जो नीर-क्षीरवत् मिले हुए होते हैं।

इसके चार भेद कुवलयानंद ने माने हैं। मम्मटादि कई अन्य आचार्य समप्रधान संकर को न मानकर तीन ही भेद बतलाते है। कुवलयानंद द्वारा कथित चारो भेदों के नाम ये हैं—(१) अंगी-अंग-भाव संकर, (२) समप्रधान सकर, (३) सदेह संकर और (४) एकवाच्यानुप्रवेश संकर।

(१) अंगी-अंग-भाव संकर—में एक अलंकार मुख्य होता है, और अन्य उसके अग। यथा—

> हौं रीझी, लखि रीझिहौ छबिहि छबीले लाल,
> सोनजुही-सी होति दुति मिलत मालती-माल।
>
> (बिहारी)

यहाँ मुख्य अलंकार तद्गुण (नं० ७४) है, जो अंगी है। उसका समर्थन करने से उपमा अंग है। आभा सोनजुही (पीला फूल) के समान होती है। इस कथन मे धर्मलुप्तोपमा है। मालती (श्वेत पुष्प) की आभा उसके शरीर की सुनहली शोभा मिल जाने से सोनजुही-सी पीली हो गई, जिससे तद्गुण अलंकार प्राप्त हुआ। सोनजुही के रंग की

समानता प्रकट करने से उपमा तद्गुण का पोषण करती है, जिससे वह अंगी तद्गुण का अंग मानी गई है।

जोग-जुगुति सिखए सबै मनो महामुनि मैन,
चाहत पिय अद्वैतता, सेवत कानन नैन।

(बिहारी)

मानो मैन (कामदेव)-रूपी महामुनि ने सब योग की युक्ति (यौगिक क्रियाएँ या प्रियतम से संयोग के उपाय) सिखला दी है। (ये) नैन कानन सेवत (जंगल मे बसते या कानो तक पहुँचते है), क्योंकि पिय (ईश्वर या प्रियतम) से अद्वैतता (मिल जाना या अलग न रहना) चाहते हैं। उपर्युक्त दो-दो अर्थ होने से यहाँ श्लेष है, तथा "मनो महा-मुनि ने सिखए" मे उत्प्रेक्षा। नैन और मैन के संबंध का अभेद रूपक प्रधान होने से अंगी है, तथा इतर दोनो उपर्युक्त अलंकार पोषक होने से अंग हैं।

दीन देखि सब दीन, एक न दीनो दुसह दुख,
सो हम कहँ अब दीन, कछु नहि राख्यो बीर बर।

(अकबर बादशाह)

यह सोरठा स्वयं अकबर ने महाराज बीरबल की मृत्यु पर बनाया था। प्रधान अलंकार अत्युक्ति (नं० ६६) है, क्योंकि यहाँ उदारता का अद्भुत वर्णन है। दीन-दीन मे शब्द वही और अर्थ दो होने से यमकानुप्रास है। एक स्थान पर अर्थ है गरीब, और दूसरे पर "दान किया।" कई शब्दो द आदि मे दकार होने से छेकानुप्रास (नं० ११६ (१)—१) है। "सब दीन" और "अब दीन" मे चार वर्णो का अंत्यानुप्रास (नं० ११६—४) सधता है। "दीन को देख (दर्शन ले) कर सब दिया" मे परिवृत (नं० ५१) आता है। पहले चरण मे विनोक्ति (नं० २२) है, क्योंकि दानी सब कुछ देकर भी दुख न देने से

श्रेष्ठ है। यही अलंकार अपने पास कुछ न रखने से सधता है। सब कुछ दे डालने पर (वियोग से मित्र को) दुख भी दे देने मे कोई वस्तु अदत्त न रही, जिससे दान-वीरता पूर्ण हो जाने से काव्यलिंग अलंकार (नं० ५६) आया। पहले चरण मे चाहे विनोक्ति मान लें, चाहे अत्युक्ति। इससे संदेह संकर का भी रूप आ जाता है। व्याजस्तुति (नं० ३०) भी आता है। "हमको दुख दिया" मे निंदा है, किंतु उससे मित्रता की प्रगाढता-रूपी स्तुति निकलती है। दूसरा भाव यह भी है कि वियोग के कारण स्तुति मे निंदा करने पर भी कवि की सहृदयता ही निकलती है। "बीर बर" साभिप्राय विशेष्य है, जिससे परिकरांकुर अलंकार (नं० २५) आता है। प्राय सब कथित अलंकार अंगी अत्युक्ति के समर्थक होने से उसके अंग हैं।

खरी पातरी कान की, कौन बहाऊ बानि;
आक-कली न रली करै अली, अली जिय जानि।

(बिहारी)

(तू) कान की सचमुच पतली है, (यह) कौन-सी बहाऊ (प्रेम खोनेवाली, उड़ाऊ) आदत डाल रक्खी है। हे अली! (सखी) अली (भ्रमर) आक (मदार)-कली (से) नही रली (अठखेलियाँ) करता है, (ऐसा) जी मे जान। सखी की शिक्षा संदेह करने के प्रतिकूल है। दूसरा चरण पहले का समर्थन करता है, जिससे काव्यलिंग (नं० ५६) है, जिसकी मुख्यता है। भ्रमर-वृत्तांत के अप्रस्तुत तथा उससे निकलनेवाले नायक-वृत्तांत के प्रस्तुत होने से अप्रस्तुत प्रशंसा (नं० २७) का सारूप्य निबंधनावाला भेद आता है, जो काव्यलिंग की सिद्धि करता है, जिससे यह अंग हुआ।

अलि, ये उडगन अगिनि कन, अंक धूम अवधारि,
मानहु आवत दहन ससि ल निज संग दवारि।

(वैरीशाल)

यहाँ तारे अग्नि-कण कहे गए हैं, जिससे चंद्र अग्नि समूह प्रसंग से, माना जा सकता है, क्योंकि उसका अंक धूम कहा भी गया है। दवारि क्या है, सो नहीं कथित है। प्रसंग से उसे गज-मार्ग कह सकते हैं, या चाँदनी मान ले, क्योंकि वह चंद्र के साथ रहती है। अवधारि=धारण करके, मानकर। यहाँ उत्प्रेक्षा (नं० १२) प्रधान है, और रूपक (नं० ५) उसका साधक होने से अंग।

(२) समप्रधान संकर—में साथ ही प्रकाशित होनेवाले अनेक अलंकारों में सब समान होते हैं, कोई प्रधान तथा इतर अप्रधान नहीं। यथा—

> **बिमल प्रभा निज ससि तजी मनो बारुनी पाय,**
> **यह कारी निसि अक मिसि राखी अंक लगाय।**
>
> **(बैरीशाल)**

यहाँ शशि-वृत्तांत प्रस्तुत है, तथा उससे अप्रस्तुत-नायक-वृत्तांत निकलता है, क्योंकि वह भी चंद्र की भाँति कालिमा-युक्त है। इससे समासोक्ति अलंकार (नं० २३) आता है। वारुणी (पश्चिम दिशा तथा मद्य) शब्द के श्लिष्ट होने से यह चंद्रमा और नायक, दोनो पर घटित है। इसी से समासोक्ति और उत्प्रेक्षा (नं० १२) निकलती है, जिनमें से कोई प्रधान नहीं। अतएव समप्रधान संकर है। चंद्र ने अंको के बहाने मानो काली रात अंक मे लगाई है, तथा नायक ने शरीर पर अंजन के काले दागो को अंक लगाया है। इन अलंकारो के भाव एक ही साथ निकलने के कारण समप्रधान संकर है।

> **उर लीन्हे अति चटपटी सुनि मुरली-धुनि धाय,**
> **हौं निकसी हुलसो सु तौ गो हुल-सी उर लाय।**
>
> (बिहारी)

हुल = हूल । सुख के लिये यत्न मे दुख मिलने से विषम (नं० ३७) अलंकार निकला । "हूल-सी लाकर चला गया" मे तिङंत की क्रिया होने से उत्प्रेक्षा (नं० १२) है । हुल-सी और हुलसी मे यमक है । अत यहाँ उत्प्रेक्षा यमक विषम अथच उत्प्रेक्षा के निकलने से समप्रधान संकर है । दोनो उदाहरणो मे अलंकार प्रधानतया एक ही वाक्य से निकलने के कारण अलग नही किए जा सकते । इसीलिये संसृष्टि न होकर संकर है । जो आचार्य इस भेद को पृथक् नही मानना चाहते, उनके समर्थन मे यह कहा जाता कि यह कही तो संसृष्टि होता है, और कही अंगी-अंग संकर । अंगी-अंग तथा समप्रधान मे तो शुद्ध मत-भेद संभव है, किंतु हमारे उपर्युक्त दोनो उदाहरणो मे संसृष्टि का आरोपण नही हो सकता । हमको तो इनमे अंगागी भाव समझ नही पडता, अतएव कुवलयानंद के मतानुसार समप्रधान संकर को हम मान्य समझते हैं । यह कहना अमान्य समझ पड़ता है कि संकर के दो अलंकार कभी सम हो ही नही सकते । समप्रधान और संदेह सकर मे ही अलकार-निर्णय की आवश्यकता पड़ती है, अत. प्राक्कथन मे इसका वर्णन कर दिया है ।

(३) संदेह संकर—मे अमुक अलंकार है या अमुक, ऐसा संदेह बना ही रहता है । यथा—

> मोतिन सों भाषत अपर बीर, आजु तव
> असि को प्रचंड रूप औरई लखात है,
> देखिके प्रताप जासु जगत उजासकर
> खासकर भासकरहू लौं दबि जात है ।
> तेग को किरन-गन चलत गगन दिसि,
> बैरिन को मान जिन्है देखि बिललात है,
> साथ तिनही के अरि-प्रानन को जाल अब
> ही सों सूरमंडल को बेधत लखात है ।

(मिश्रबंधु)

यहाँ चतुर्थ चरण में अत्यंतातिशयोक्ति (नं० १३) तथा भाविक (नं० ६४) मे संदेह उपस्थित होने से सदेह संकर कहा जा सकता है।

फिर-फिर चित उत ही रहत, छुटी लाज की लाव ;
अग-अंग छबि-झौर मै भयो भौर की नाव।

(बिहारी)

यदि यहाँ सखी-वचन सखी से मानिए, तो मुख्य अलंकार रूपक (नं० ५) होता है, और यदि वही वचन नायक से माने, तो पर्यायोक्ति (नं० २६) द्वितीय बैठती है। सखी-वचन किससे है, इसके निर्णय का कोई साधन दोहे मे नही है।

नीकी दई अनाकनी, फीकी परी गोहारि,
मनो तज्यो तारन बिरद बारक बारन तारि।

(बिहारी)

यदि यहाँ भक्त का वचन-मात्र माने, तो परिकर (नं० २४) से उत्प्रेक्षा (नं० १२) का पोषण होता है, तथा उत्प्रेक्षा का प्राधान्य आता है। यदि भगवान् से भक्त का उलाहना माने, तो जोश दिलाकर स्वकार्य-साधन के कारण परिकर और उत्प्रेक्षा पर्यायोक्ति (नं० २६) के अग हो जायँगे, और इसी की मुख्यता रहेगी।

यों भूलत कोऊ कछू राखौ हिये सयान ;
भजौ मधुप तजि पदुमिनिहि जानि होत गत भान।

(वैरीशाल)

भजौ = भागो। यह भ्रमर तथा नायक, दोनो के प्रस्तुत होने के कारण प्रस्तुतांकुर अलकार (नं० २७) है। शाम के कारण भ्रमर कमल-कोष मे न बँधने की इच्छा से भागता है, तथा उपनायक इसलिये कि परकीया का पति दिन का काम करके संध्या को घर वापस आता होगा। दूसरा अलंकार गूढोक्ति (नं० ८७) है, क्योंकि नायक से कहने की बात

भ्रमर पर ढालकर उसी से कही जाती है। इस बात के निर्णय का कोई साधन छंद मे न होने से संदेह संकर है।

(४) **एकवाचानुप्रवेश संकर**—में एक ही पद से कई अलंकार निकलते हैं। यथा—

हे हरि, दीनदयाल, हौ यह माँगौ सिर नाय;
तुव पद-पंकज आमरे मन-मधुकर लगि जाय।

(गुलाब)

यहाँ पद-पंकज इस एक ही शब्द मे रूपक (नं० ५) तथा छेकानुप्रास (नं० ११६) दोनो अलंकार निकलते हैं। यही बात मन-मधुकर मे भी समझनी चाहिए।

हौ ही मतिमंद, वहि मंद पै पठाई दोऊ
संकर को चाहि चंद्र-कला तैं लहाई है;
कहै कवि 'दूलह' अपूरब प्रकास्यो हितु
नायनि हमारी ठकुरायनि ह्वै आई है।
चारौ भेद संकर के चारौ पद मैं बिचारो,
दैकरि सुधाई मानो निठुराई लाई है,
पेखि मनि-मंदिर मैं पलकन पीक पोंछी,
सोई अरुनाई इन आँखिन मैं छाई है।

(दूलह)

यहाँ प्रथम चरण मे प्रथम प्रहर्षण (नं० ६६) तथा रूपकातिशयोक्ति (नं० १३) अलंकार हैं, जिनमें प्रहर्षण की मुख्यता होने से अंगी-अंग-भाव संकर है। दूसरे चरण मे समप्रधान संकर है। वहीं नायनि के ठकुरायनि हो जाने से तृतीय विषम (नं० ३७) तथा प्रथम व्याघात (नं० ४४) हैं। एक तो हित के यत्न में अहित हुआ है, तथा हितकारी नायनि अहितकारी कही गई है। अपूर्व हित के प्रकाशने

से दोनो अलंकार निकलते हैं, जैसा कि समप्रधान मे होना चाहिए। तीसरे चरण मे "मानो सीधापन देकर निठुराई लाई है" मे अनुक्त-विषया वस्तूत्प्रेक्षा (न० १२) तथा परिवृत्ति (नं० ५१) मे संदेह रहता है। चौथे चरण मे एकवाचानुप्रवेश संकर है। यहाँ पलको की लाली पोछने पर भी आँखो की सुरखी बनी रही, जिससे द्वितीय पूर्वरूप (नं० ७५) हुआ। नायिका ने आँख मलकर पलको की पीकवाली लाली मिटाई, किंतु मलने से वह लाली आँख मे फैल गई, जिससे हित के यत्न मे अहित होने से तृतीय विषम (नं० ३७) अलकार हुआ। लाली पहले पलको मे थी, और पीछे आँख मे समय के फेर से जा पहुँची, इसलिये पर्याय (न० ५०) भी आ गया, तथा छेकानुप्रास भी है ही। यहाँ पर्याय और छेकानुप्रास दोनो अलंकार "सोई अरुनाई इन आँखिन में छाई" इसमे उन्ही शब्दो से निकलते हैं। अत एकवाचानुप्रवेश सकर है।

उपर्युक्त सकर और संसृष्टि अलकारो के अतिरिक्त निम्न-लिखित की भी मिश्रालंकारो मे गणना है—(नं० १३) सापह्नवातिशयोक्ति, (नं० ६१) विकस्वर और (न० ४७) मालादीपक (दूलह के अनुसार)। कई और अलकार ऐसे हैं, जिनके इतरो से भेद बहुत थोड़े हैं, और उनके रूप अन्यो मे थोडा-सा ही जुड़ने से मिलते हैं। फिर भी हैं वे स्वतत्र, और उनकी सज्ञा मिश्रालंकारो मे नही हो सकती। धारेश्वर भोजराज ने अपने ग्रथ मे २४ शब्दालकार, २४ अर्था-लकार तथा २४ ही मिश्रालंकार माने हैं। इधर के आचार्यों ने अर्थालंकारों की संख्या बढा दी है, तथा शब्द और मिश्र अलंकार कम रह गए है। हम भी वर्तमान समय मे हिंदी-आचार्यों द्वारा माने हुए विचारो पर ही विशेषतया चले हैं। हिंदी के कई आचार्यों ने सकर तथा ससृष्टि का वर्णन नहीं किया है, अतः इन्हें वे पृथक् अलकारता देते ही नही।

संसृष्टि और सकर में पृथक् अलंकारता नहीं—एक दूसरे

अलंकार के साथ संबंध-रहित होकर रहना (यथा संसृष्टि में), या परस्पर संबंध-पूर्वक उनका आना (जैसे संकर में) एकता नहीं लाता। इसमें भी (१) तरु-बीज-न्याय से (एक अलंकार दूसरे का कारण होकर आया हो, यथा अंगांगी-भाव संकर में), (२) दिवस-निशा-न्याय से (जब दिन होता है, तब रात नहीं होती, तथा जब रात्रि होती है, तब दिवस नहीं हो सकता। इस प्रकार से संदेह संकर होता है), (३) नृसिंह-न्याय से (नृसिंह अवतार में एक ही शरीर से मनुष्य और सिंह दोनो कहे जा सकते थे, एक वाचानुप्रवेश संकर में भी एक ही वचन से अनेक अलंकारों का निकलना होता है), (४) अथवा दिवस-रवि-न्याय से (दिन और रवि एक ही समय में प्रकाशित होते हैं, इसी रीति से सम-प्रधान संकर भी होता है), अलंकारों के एक साथ रहने की रीतियाँ-मात्र है, उन (अलंकारों) से कोई पृथक् चमत्कार नहीं निकलता।

अलंकार-विमर्श

काव्य का स्थूल स्वरूप शब्दार्थमय है। आत्मभूत-रस के साक्षात्कार तक सहृदय इसी माध्यम के द्वारा पहुँचता है। आत्मविहीन शरीर की भाँति रस-हीन शब्दार्थ तो सुलभ है, पर शब्दार्थ-हीन रस दुर्लभ। शब्दार्थ से परे रस की स्वतंत्र सत्ता काव्य-क्षेत्र में सर्वथा कल्पनातीत है। फलत रस को काव्य-सर्वस्व मान लेने पर भी शब्दार्थ की अनिवार्य सापेक्षता से वह आबद्ध है। तटस्थ दृष्टिकोण से देखने पर व्यक्त हो जाता है कि रस भी विशिष्ट शब्दार्थ की ही परिणति है। शब्दार्थ-विन्यास बदल देने पर ही सरसता और नीरसता का आविर्भाव तथा तिरोभाव हो जाता है। सुप्राचीन आचार्यों ने शब्दार्थ की इस गुरुता को खूब समझा था, अतएव 'काव्य-विवेचना' का नाम उन्होंने 'अलकार-शास्त्र' रक्खा, 'रस-शास्त्र' नहीं। अलकारों का सीधा सबंध शब्द और अर्थ से है। महापंडित विश्वनाथ का श्लोक-सूत्र है—

> शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्मा शोभातिशायिन·।
> रसादानुपकुर्वन्तोऽलङ्काराः तेऽङ्गदादिवत् ॥

आत्मा का अधिष्ठान है शरीर, और उसकी शोभा बढानेवाले होते हैं—अलकार, कटक-कुडल आदि। लगभग एसी ही स्थिति काव्य में उपमा-रूपक आदि अलकारों की है। रस का उद्बोधक अधिष्ठान है—शब्दार्थ, जो वस्तुत· काव्य-शरीर है, उसकी शोभा-वृद्धि करनेवाले होते हैं—उपमा-रूपक प्रभृति। इस प्रकार साम्य के साथ-ही-साथ यह उनकी अन्वर्थ संज्ञा भी सिद्ध होती है।

अलक्रियते—विभूष्यते—अनेन इति अलङ्कारः, लोके-कुण्डलादिः, काव्ये रूपकादिः । अलकार उत्पन्न शोभा को प्रवृद्ध करते है। पुण्यात्मा का शरीर विना अलकारो के भी दर्शनीय होता है—यदि विभूषित हो तो फिर बात ही क्या? काव्य भी रस-पूर्ण होने पर आस्वादनीय होता है, भले ही वह निरलंकार हो। हाँ, अलंकृत होने से उसकी शोभा और भी बढ़ जाती है। इस तथ्य से यह भी व्यक्त हो जाता है कि अलंकार—शब्दार्थ के अस्थिर धर्म हैं। शब्द और अर्थ से उनका नित्य संबंध नहीं है।

'अङ्गाश्रिता स्त्वलङ्कारा मन्तव्या कटकादिवत्'

(ध्वन्यालोक)

वाच्य अलकार सदा अगाश्रित रहते हैं, उन्हे कटक आदि की भाँति मानना चाहिए।

सुगमता से बुद्धिगम्य होने के लिये कहा जा सकता है कि प्रभावशाली वर्णन के विविध विधान ही अलंकार हैं। अपनी बात को अधिकाधिक हृदयंगम कराने के लिये एवं अपनी कल्पना का पूर्ण साक्षात्कार कराने के लिये कवि अलकारो का—वर्णन की विभिन्न विधियों का—उपयोग करता है। दुष्टों के स्वभाव का वर्णन करते हुए गोस्वामीजी ने कहा—

'पर-अकाज लगि तनु परिहरही,'

दूसरों का काम बिगाड़ने के लिये खल लोग अपने आपको भी नष्ट कर डालते है। बात सच्ची है, और सीधे शब्दों में कह दी गई है। पर इस सच्ची बात का ज़ोर तब कई गुना बढ़ जाता है, जब चौपाई का उत्तरार्ध सामने आता है—

'जिमि हिम-उपल कृषी-दलि गरही।'

ओला (करक) आसमान से ज़मीन पर टूट पड़ता है—लह-

लहराती खेती को बरबाद करने के लिये—और वह अपने प्रयास मे सफल होता है, पर अपने को भी विलीन कर देता है। ओले के साथ खल के आचरण की सांगोपांग वर्णना ने कवि के अभीष्ट अर्थ को पाठक के हृदय में ऐसा अकित कर दिया कि उसका रग कभी फीका नही पड सकता। कारक के उदाहरण ने कवि की उक्ति के समर्थन मे एक चित्र-सा खींचकर उपस्थित कर दिया है। फलत. भावुक व्यक्ति जितना ही इन पंक्तियों का अनुसंधान करता है, उतना ही आनद-निमग्न होता जाता है। काव्य में रसास्वाद आनद की चरम सीमा है, पर उससे पूर्व भी आनंद की अनेक भूमिकाएँ हैं। अलकार-जनित आनंद भी उनमें से एक है। 'पुरुष-सिंह' और 'मुख-चंद्र' इन दो पदों में किसी पुरुष की तुलना सिंह से और किसी मुख की समता चद्र से की गई है। इस सादृश्य-स्थापना से पुरुष में सिंहोचित गुण, उत्कट साहस, निर्भयता, धैर्य, पराक्रमशालिता, बलवत्ता आदि सहज ही व्यंजित हो जाते हैं। और, इतनी प्रबलता से हृत्पटल पर चित्रित हो उठते है, जितना अन्य किसी भी प्रकार से संभव न था। यदि सीधे-सीधे इन गुणों की गिनती गिनाने कवि बैठ जाता, तो बेचारे पुरुष की दुर्दशा हो जाती। 'पुरुष-सिंह' कहने से दुर्दशा तो बच ही गई, साथ ही अपूर्व उत्कर्ष भी आ गया। वर्णन की इस प्रभावोत्पादक विशेष विधि को आचार्यों ने उपमालंकार की संज्ञा दी। यही स्थिति मुख के साथ चंद्र की सादृश्य-स्थापना से पैदा हो जाती है।

वर्णनीय रस-भाव-वस्तु आदि का उत्कर्ष करना, उसकी शोभा बढ़ाना अलंकार का फल है। यदि अलकार के द्वारा वर्णनीय का उपकार नहीं होता, केवल 'अलंकार के लिये अलंकार' आता है, तो वह कविता नहीं, कोरी कलाबाज़ी है। जिन नवीन विद्वानों

का विचार है कि रस-भाव आदि की प्रधानता में ही काव्य-तत्त्व की समाप्ति हो जाती है, अलंकार के द्वारा जहाँ वर्णनीय वस्तु-मात्र का उत्कर्ष होता है, वहाँ काव्यत्व नहीं, हम उनसे कदापि सहमत नहीं। देखिए, नायिका का नख-शिख वर्णन है—

आनन है, अरविंद न फूल्यो, अलीगन भूले कहा मड़रात हौ ;
कीर तुम्हैं कत वायु लगी, भ्रम बिंब के, ओठन पै ललचात हौ।
'दासजू' ब्याली न, बेनी रची, तुम पापी कलापी कहा इतरात हौ,
बोलत बाल, न बाजति बीन, कहा सिगरे मृग घेरत जात हौ।

यों तो किसी-न-किसी भाव को शिखा पकड़कर प्रत्येक पद में उसे घसीटा जा सकता है, यदि सहृदयता से सरोकार न रक्खा जाय। तथापि वस्तु-स्थिति यह है कि उपर्युक्त सवैये मे किसी रस-भाव-आभास आदि की प्रधानता नहीं है। शुद्ध वाच्य वस्तु का वर्णन है। विशेष संदर्भ कल्पना द्वारा यहाँ भी नायक के हृदय में अनुराग की मुख्य प्रतीति मानना उतना ही सामंजस्य-पूर्ण होगा, जितना लहलहाती घास के वर्णन मे किसी भैंसे की व्यजना तलाश करना। अस्तु—दासजी नायिका के मुख अधरोष्ठ-वेणी और वाणी का वर्णन कर रहे हैं। उनमें क्रमशः अरविंद बिंब-व्याली और वीणा-नाद के काल्पनिक भ्रम का निवारण करते हुए सादृश्य व्यंजन किया गया है। वर्णन में जिस विधि का व्यवहार किया गया है, उसका शास्त्रीय नाम है—'भ्रांतापह्नुति अलंकार'। वह अपूर्व सुंदरी है—सारांश इतना ही है, पर कवि ने अलकार के माध्यम से अपने कथन में चार चाँद लगा दिए हैं। क्या कोई भी सहृदय ऐसे छंद को काव्य-कोटि से बाहर रखने का साहस कर सकता है? रस-भावादि-प्रधान कविता के समकक्ष इसे न माना जाय, पर उससे नीचे इसे स्थान देना ही पड़ेगा। अतएव

हमने (पेज ३ पर) काव्य-लक्षण करते समय लिखा है—'अर्थ-चित्र (अलंकार) ··के भी होने से वाक्य काव्य होगा'।

या अनुरागी चित्त की गति समुझै नहिं कोय;
ज्यौं-ज्यौं बूड़ै श्याम-रंग, त्यौं-त्यौं उज्जल होय।

(बिहारी)

'श्रीकृष्ण की भक्ति से अंतःकरण निर्मल हो जाता है'—इतनी-सी बात को कवि एक विशेष प्रकार से—विरोधाभास अलंकार द्वारा कहता है। बस, बात चमक उठती है। यहाँ प्रस्तुत वाच्य का उपकार अलंकार द्वारा पूर्णतया हो रहा है। 'अलंकार अलंकार के लिये' नहीं है। इस ख़ूबी की दाद देने के लिये सहृदयता चाहिए। 'कोरा चमत्कारवाद' कहकर ऐसे पद्यों को काव्य-कोटि के बाहर रखना अन्याय है।

हम कह आए हैं कि अलंकार का कार्य रसादि का उत्कर्ष करना है। उसे भली भाँति हृदयंगम कर लेना चाहिए। यों तो अलंकार शब्दार्थ का धर्म है—वह रस से काफ़ी दूर रहता है। फिर भी वह रसोपकारक माना गया है। वस्तु-स्थिति यह है कि अलंकार द्वारा शब्दार्थ विशेष शक्ति-संपन्न हो जाता है, जिसके फल-स्वरूप वह सहृदय के अंतःकरण में रसादि चर्वणानुकूल स्थिति उत्पन्न करने में समर्थ होता है। सीधे-सीधे ग्राम्य-वृत्ति से न कहा जाकर अलंकार के प्रभावशाली माध्यम द्वारा कहा गया वाच्यार्थ रस-चर्वणा को सहज ही जन्म देता है। इसी हेतु अलंकार रसोपकारक माना गया है। रसादि की जितनी उत्कृष्ट चर्वणा उत्पन्न कराने में अलंकार शक्त होता है, उतनी ही उसकी कृतार्थता समझनी चाहिए। अर्थालंकार की अपेक्षा शब्दालंकार की रसोपकारिकता अति न्यून है। यमक—चित्र आदि

तो अधिकतर रसास्वाद में बाधक ही सिद्ध होते हैं। ध्वनिकार आचार्य आनंदवर्धन ने कहा है—

ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे यमकादि निबन्धनम्,
शक्तावपि प्रमादित्व विप्रलम्भे विशेषतः।

शृंगार-ध्वनि मे, वहाँ भी विशेषकर विप्रलंभ में, यमकादि वर्ण-विन्यासात्मक अलकारो का निबंधन दोषाधायक होता है—भले ही कवि उन अलंकारों के उपन्यास (निबंधन) में समर्थ हो। हम ध्वनिकार के मत को उचित समझते हैं। जहाँ अलकारो का सन्निवेश औचित्य-पूर्ण हो, वहाँ भी काव्यत्व होता है—यही मत प्राचीन शास्त्रकारो का रहा है, जिनमें आचार्य मम्मट, पडितराजजगन्नाथ तथा कविराज विश्वनाथ प्रमुख हैं।

ग्रंथ-समाप्ति-वंदना

करिवदनकृपातः शारदाभाप्रपातः
प्रथम इतिकृतोऽयं ग्रन्थराजस्य भागः ।
विबुधदुरवगाहेऽलङ्कृतीनां पयोधौ
कलयतु शुचितत्त्वं तेन जिज्ञासुवृन्दम् ॥
(ग्रंथकार)

मंगलमूर्ति श्रीगणेशजी की कृपा से, सरस्वती की छवि के प्रपात-स्वरूपवाला, यह ग्रंथराज का प्रथम भाग समाप्त हुआ । जिज्ञासु-जन इसे पढकर, महामेधावी विद्वानो के द्वारा भी, दुरवगाहनीय अलंकार-शास्त्र-सागर मे से निर्मल तत्त्व को प्राप्त करें ।

सूचना—इस ग्रंथ की द्वितीयावृत्ति सन् १९४६ ई० से छपती-छपती मुद्रणालय के कारण ५ वर्ष के विलंब में जैसी कुछ छप सकी, भेंट है । पाठकवृंद इस अप्राप्यावकाश के लिये क्षमा करें ।

(मिश्रबंधु)

मशीन पर टाइप के न उठने तथा प्रेस की असावधानी के कारण अधिक अशुद्धियाँ रह गई है। पाठक कृपया शुद्ध कर लें।

दुलारेलाल

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२५	७	ता	तो
३१	६	विद्वान्	विद्वान्
३२ नीचे से	५	(२०१,)	१७३०
४४ ,, ,,	६	काब्य	काव्य
४८	६	क	के
५२	६	मख्यार्थ	मुख्यार्थ
५६	१४	ह	है
५७	८	'जहाँ' कर	'जहाँ' शब्द कर
५८ नीचे से	१३	लक्षणा	लक्षणा
५९	९	ंगागिभाव-स ंध	अगांगिभाव-सबंध
५९ नीचे से	१३	तात्कम्य	तात्कर्म्य
६०	११	सिपाही	सिपाही से
६२	८-९	रूप कातिशयोक्ति	रूपकातिशयोक्ति
६४	२	परबोन	परबीनें
६५	हेडिंग	व्यजना	लक्षणा
६६	हेडिंग	व्यजना	लक्षणा
६७	,,	शाब्दी व्यजना	व्यंजना
६९	५	नि ाट	निपाट
७१ नीचे से	८	अ य	अन्य
७२ ,,	४	प्रयोजन	प्रयोजन है
७३ ,, ,,	४	म	मे

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७६	नीचे से ३	विशेष	विषय
७७	,, ,, १२	वृथा हा	वृथा ही
७८	,, ,, १४	मान,	माने,
८०	४	काकु वैशिष्ट्य से	काकु से
८१	१२	करा है	करी है
८२	१०	सौंदर्य-भाव	सौंदर्य-भव
८२	३	शुभ	शुभ्र
८३	४	वशिष्ट्य	वैशिष्ट्य
८३	७	जान	जाने
८३	८	ज कछु	जो कछु
८८	६	व्यंग्य भा	व्यंग्य भी
८६	११	इसक	इसके
६०	२	सुनने ाले	सुननेवाले
६१	८	रेटा	रोटी
६१	१२	भा	भी
६३	नीचे से ७	पढ़ेगा ।	पढ़ेगा
६४	,, ,, ६	एकावट	रुकावट
६५	,, ,, ६	यह ह	यह है
६६	,, ,, ३	कह -कहीं	कहीं-कहीं
६६	,, ,, ३	एवं उपमान	एवं चंद्र उपमान
१०१	,, ,, २	बरुती	बरुनी
१०७	६	अतिश ोक्ति	अतिशयोक्ति
१०७	नीचे से १४	अन्यनच्च	अन्यच्च
१११	,, ,, ४	चद ह	चंद है
११४	३	चिन चैन	चित चैन
११६	७	श्वेतवाई	श्वेतताई

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
११६	१०	उमान	उपमान
११९	८	दुरति	दुरित
१२१	नीचे से १३	क़िरिश्तों	फरिश्तों
१२२	,, ६	दू प र	दू पर
१२४	,, २	व्य ं मानकर	व्यर्थ मानकर
१२७	,, ११	विरदै ति	निरदैपति
१२६	,, ७	भूलति	भूलनि
१३५	७	बज	बजै
१३६	१२	ह्व चली	ह्वै चली
१४०	४	प्रक.र क	प्रकार के
१४२	६	दलि यों	दलि त्यों
१४४	नीचे से ११	मेव	भेव
११४	,, २	ख ग	खड्ग
१५१	३	अ हु ति	अपह्नुति
१५३	२	नैन ासार	नैन घनसार
१५४	नीचे से १०	हेतु देक	हेतु देकर
१५४	,, २	पारवार	पारावार
१५७	७	कहता	कहती
१५६	७	चाँद	चन्द्र
१५६	नीचे से ४	आर तिलाक	और तिलोक
१५६	,, ४	सब लखराज	सब लेखराज
१५६	,, १	कहत	कहते
१६०	,, १०	हराए	ठहराए
१७८	३	रब,	रबि,
१७६	३	द्विति	दुति
१७६	५	फलात्प्रेक्षा	फलोत्प्रेक्षा

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१८१ नीचे से	३	वर्ष तीवजन	वर्षंतीवाजन
१८३	३	भी मे	भी
१८६ नीचे से	६	एक ही को	एक ही के
१८६ ,,	२	कलका	कलिका
१९१	२	जलाने क	जलाने के
१९१	११	खरच	खरचि
१९२ नीचे से	३	मदित	मर्दित
१९३	६	भी यह	भी यही
१९५	२	ध नी	धरनी
१९८ नीचे से	११	तेरे न	तेरे नैन
१९९	९	चाथे	चौथे
२०१	११	उपमा	उपमान
२०२	७	पिक-बन	पिक-बैन
२०२	९	फीक	फीके
२०३	१०	वथा	वृथा
२०४	२	तूह	तुहू
२०४	१२	क साथ	के साथ
२०५	१२	ध	धर्म
२१७	९	दृष्टांतकरणा—दृष्टांतकरणाम्	दृष्टान्तकरणाम्—दृष्टान्तकरणा
२१९	४	कपलना	कल्पना
२१९	४	अश्रित	आश्रित
२१९ नीचे से	१०	रूपक की	रूपक का
२२४ ,,	७	सदसर्द	सदसदर्श
२२५	६	लाग	लागै
२२७ नीचे से	६	प्र या	प्राया

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२३५	११	शशिननिशामुखम्	शशिनानिशामुखम्
२३६	४	निणय	निर्णय
२४०	११	था जिससे	तथा जिससे
२४१	नीचे से १०	भरता ह	भरता है
२४१	,, ३	प्रकृ ताप्रकृत	प्रकृताप्रकृत
२४३	७	अ पर	अर्थ पर
२५१	नीचे से ११	श्लष	श्लेष
२५४	८	समझ भी लीजिए	भी समझ लीजिए
२५४	११	छुटे	छुटे
२५७	नीचे से १३	अपू ं	अपूर्व
२६२	८	अग	अग
२६४	नीचे से ३	कवि ो	कवि ने
२६५	३	व्यग्य हा	व्यग्य ही
२६६	४	बिराज	बिराजै
२७०	नीचे से १२	मेहमान ह	मेहमान है
२७२	,, ५	जात	जात
२७३	,, १२	मैन	मै न
२७७	५	ही ह ।	ही है ।
२८०	अंतिम	भूषण न	भूषण ने
२८४	६	नन	नैन
२८५	७	पापिन	पापंन
२८६	२	जायक	जायकै
२८६	नीचे से १०	वस्त	वस्तु
२८७	,, १२	सुखदेनी	सुखदैन री
२८७	,, ११	चन री	चैन री

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२८६ नीचे से	५	सुख-दुख	सुख-दुख हू
२६०	५	ह्व	ह्वै
२६२ नीचे से	१३	बठा	बैठा
२६२ नीचे से	६	बर	बैर
२३६	७	दूलह व	दूलह वै
२६६ नीचे से	१०	कंज	कुंज
२६६ ,,	३	माटर	मोटर
२६७ ,,	८	मृगछैनी	मृगछौनी
२६७ ,,	३	लहौं	लैहौं
२६८	११	हमार तीथ	हमारे तीर्थ
३००	२	हाना	होना
३०१ नीचे से	१०	दूषन का	दूषन को
३०६	२	कोट-गरभ	कोटै-गरभ
३११	१४	इतना	इतनो
३१५	१२	बिरच	बिरंचि
३२० नीचे से	१०	रग	रंग
३२१	१२	है क	है कि
३२७	३	किया	कियो
३३६ नीचे से	१३	ता	तो
३४० ,,	५	सकल	सुकल
३४१ ,,	८	जगे	जागै
३४५	४	शब्द	शाब्द
३४८	३	व क्य	वाक्य
३४६	४	संसृ ष्ट	ससृष्टि
३५०	३	सुरस ी	सुरसरी
३५१	४	विशष	विशेष

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२५३	नीचे से ११	भान	भानु
२५३	,, १०	पारवी	पोरवी
२६०	,, ६	स्यां	स्यों
२६५	अंतिम	अलकार	अलंकार
३७२	नीचे से १०	अद्भुत	अद्भुत
३८१	११	मेद	भेद
३६०	७	चम कार	चमत्कार
३६०	नीचे से ११	दुःख	दुख
३६३	५	गाबरधन	गोबरधन
३६३	नीचे से ३	भुसुकाय	मुसुकाय
४०२	२	कछु	कछू
४०३	२	ठौर	ठौरन
४०५	१२	ंशीधर	वंशीधर
४०६	६	स्प्रभाव	स्वभाव
४१६	४	शौर्यास्युक्तावत्युक्त्यलङ्कार	शौर्यात्युक्तावत्युक्त्यलङ्कार
४१८	नीचे से २	इसका	इसको
४२४	,, १०	घहरात	थहरात
४२८	६	सय	समय
४३६	नीचे से ११	मेद	भेद
४४४	,, ८	वैबोध	विबोध
४४५	,, ०१	अलकार	अलंकार
४४६	,, ६	अनुपलब्ध्य	अनुपलब्धि
४६४	,, २	कंजै	कुंजै
४७१	२	उजारिबे	उचारिबे
४८१	नीचे से १२	साथक	सार्थक
४८१	नीचे से ३	कतहि	कंतहि

पृष्ठ		पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४८६	,,	१३	दृत	दति
४९५	,,	५	शब्दों क	शब्दों के
४९६	,,	४	े	है
४९६	,,	२	ल	लै
४९८		५	यहाँ उत्प्रेक्षा यमक	यहाँ यमक
५०८		५	शक्तावदि	शक्तावपि